रामायण-कालीन समाज

वाल्मीकि-रामायण मे चित्रित सामाजिक, आर्थिक
एवं प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन

लेखक
डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास

१९५८
सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मन्त्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार १९५८
मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली

अग्रज

श्री मदनमोहन व्यास

की

पुण्य-स्मृति मे

जो

अब इस ससार मे नही है।

प्रकाशकीय

हमारे प्राचीन साहित्य के दो अत्यत लोकप्रिय ग्रथ महाभारत और रामायण है। देश का शायद ही कोई ऐसा सुशिक्षित परिवार होगा, जिसने इन दोनो ग्रथो का नाम न सुना हो तथा इनकी कहानी न पढी हो, यहा तक कि अशिक्षित व्यक्तियो के घरो में भी इनका नाम पहुचा है। इन दोनो ग्रथो में रामायण को विशेष लोकप्रियता प्राप्त है।

हिंदी-जगत दो रामायणो से परिचित है—एक वाल्मीकि-कृत, जो सस्कृत मे है, दूसरी गोस्वामी तुलसीदास-कृत, जो अवधी में है। दोनो के चरित-नायक एक है, पर उनके विवरणो में जहा-तहा अतर है।

सस्कृत मे होने के कारण वाल्मीकि-रामायण से कम लोग परिचित है। उसकी भाषा, शैली तथा घटनाए बडी ही सजीव है। ज्ञान की तो वह खान है। उसमे जितना गहरा प्रवेश किया जाता है, उतने ही मूल्यवान रत्न प्राप्त होते है।

हमें हर्ष है कि लेखक ने वाल्मीकि-रामायण का बडी बारीकी से अध्ययन करके उस युग की सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियो की विशद जानकारी पाठको को दो पुस्तको में दी है। इस पुस्तक मे उन्होने उन विषयो को लिया है, जो तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एव प्रशासनिक परिस्थितियो से सबधित है। हमे विश्वास है कि रामायण की कथा से सुपरिचित पाठक के लिए भी यह विवेचन नवीन और रोचक सिद्ध होगा, और उसे यह अनुभव होगा कि रामायण हमारे सामाजिक एव राजनीतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

इस प्रकार का अध्ययन प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है। इसमे पाठको को उस युग का एक प्रामाणिक तथा सुबोध चित्र मिल जाता है।

इस पुस्तक की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसकी उपयोगिता विद्वद्वर्ग तक ही सीमित नही है, अपितु इससे सामान्य पाठक भी लाभ उठा सकते है, कारण कि इसमें दुर्बोध अथवा शुष्क सैद्धातिक सामग्री का समावेश न करके लेखक ने जीवन के स्पदनशील कणो को एकत्र किया है। इसके पठन-पाठन से पाठको के रस एव रुचि में भी वृद्धि हो सकती है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक वाल्मीकि-रामायण को समझने तथा उसे लोकप्रिय बनाने में सहायक होगी और इसका सर्वत्र स्वागत होगा।

—मत्री

प्राक्कथन

सन १९४५ में मेरे प्राध्यापक स्वर्गीय पडित चंद्रशेखर पाडेय, तत्कालीन अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर, ने मुझे वाल्मीकि-रामायण का सामाजिक एव सास्कृतिक अध्ययन करने का परामर्श दिया था। तब से मेरा प्राय समस्त अवकाश का समय इस आदि-काव्य के मनन-मंथन में ही बीता है। उक्त विषय पर १९४९ मे मैंने आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए अग्रेजी में एक शोध-प्रबध लिखा और बाद में रामायण के एक सहस्र श्लोको मे राम-कथा का सक्षेपीकरण तैयार किया। हिदी-अग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओ मे मेरे रामायण-विषयक शताधिक लेख प्रकाशित हुए, जो बहुत लोक-प्रिय सिद्ध हुए और अनेक हितैषियो का यह आग्रह रहा कि मै अपने अध्ययन को विस्तृत एव सुसबद्ध कर हिंदी में पुस्तकाकार प्रस्तुत करू। इस कार्य में कुछ वर्ष और लग गए और अब मेरा यह समग्र अध्ययन 'रामायणकालीन समाज' और 'रामायणकालीन सस्कृति' नामक दो स्वतंत्र पुस्तको के रूप में 'सस्ता साहित्य मडल' द्वारा एक साथ प्रकाशित होकर रामायण-प्रेमियो के समक्ष उपस्थित है। लेकिन अब भी मै यह विश्वासपूर्वक नही कह सकता कि मैंने वाल्मीकि की समस्त सास्कृतिक सामग्री को ढूढ और समझ लिया है। सच तो यह है कि जितना ही अधिक मैंने रामायण का परिशीलन किया, इस चिर-पुराण कथा का लौकिक दृष्टि से विश्लेषण किया, नवीन से नवीनतर तथ्य प्रकाश मे आते गए और मुझे यह अनुभव होने लगा कि उनका ओर-छोर पाने के लिए एक मनुष्य-जीवन की अवधि पर्याप्त नही है। अतएव मै तो इतना ही कहने का अधिकारी हूं कि इन पुस्तको में मैंने एक उपेक्षित विषय की आशिक पूर्ति करने का प्रयास किया है। वेदो, उपनिषदो, कतिपय पुराणो, महाभारत तथा लौकिक सस्कृत साहित्य के कुछ ग्रथो की सामाजिक-सास्कृतिक सामग्री का तो न्यूनाधिक अध्ययन मनीषियो ने किया है, पर इस खोज-कार्य मे रामायण की उपेक्षा एक खाई बनी हुई थी, जिसे पाटने की ओर उनका बहुत कम ध्यान आकर्षित हुआ। यदि मेरा श्रम आदि-काव्य के एक नवीन और रोचक पक्ष का उद्घाटन करने में तथा वाल्मीकि के प्रति

पाठको की अभिरुचि जगाने में सफल हो सका, तो मैं अपने को कृतकार्य समझूगा।

इस पुस्तक की सीमाओ तथा इसमें अपनाये गए दृष्टिकोण के बारे में कुछ कहना आवश्यक है। इसमें तटस्थ दृष्टि से प्राचीन भारतीय समाज का वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है जैसा स्वय वाल्मीकि ने अपनी रामायण मे अकित किया है। ऐसा करते समय आधुनिक मापदडो से तत्कालीन-प्रथाओ की टीका-टिप्पणी से बचे रहने का यथासभव ध्यान रखा गया है। वाल्मीकि-रामायण में पाई जानेवाली सामाजिक महत्व की सामग्री को व्यवस्थित एव सुसबद्ध रूप मे उपस्थित कर देना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है। इसे वाल्मीकि के ही तथ्यो पर आश्रित तथा किसी पूर्वाग्रह, उपदेश-वृत्ति या निरे सैद्धातिक ऊहापोह से मुक्त रखने का यत्न किया गया है। पाठक के सामने एक युग-विशेष के समाज से सबधित प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर दी गई है, जिसके आधार पर वह यथेच्छ समति निर्धारित करने में स्वतत्र है।

सदर्भो या उद्धरणो के सख्या-निर्देश में पहला अक काड की, दूसरा सर्ग की तथा तीसरा श्लोक की सख्या का सूचक है, जैसे २।७३।५१ का अर्थ हुआ अयोध्या-काड के ७३वें सर्ग का ५१वा श्लोक।

रामायण की प्रचलित प्रतियो में प्रक्षिप्त-अप्रक्षिप्त अशो के घुले-मिले रहने के कारण आलोचनात्मक अध्ययन में बडी बाधा पहुचती है तथा यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि अमुक तथ्य प्राचीन और प्रामाणिक भी है अथवा नही। कुछ विद्वानो ने रामायण के कतिपय प्रक्षिप्त स्थलो का अवश्य निर्देश किया है, पर मतैक्य के अभाव में उनके सारे निष्कर्षो को कैसे स्वीकार किया जाय? इसके लिए आवश्यकता है रामायण के एक सार्वदेशिक, प्रामाणिक एव समीक्षित (क्रिटिकल) सस्करण की, जिसमें सभी पाठो का तुलनात्मक अध्ययन कर प्रक्षिप्त स्थलो का बहिष्कार कर दिया गया हो। कहना न होगा कि यह कार्य इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है और वर्षो के व्यय-साध्य सामूहिक उद्योग की अपेक्षा रखता है। ऐसी स्थिति मे प्रस्तुत अध्ययन का आधार रामायण का बबई सस्करण[1] रखा गया है, जो देश में सर्वाधिक प्रचलित है और जिसमें आदि-काव्य का प्राचीनतम रूप सुरक्षित है।[2] फिर भी, डा० धर्मेद्रनाथ शास्त्री, अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग, मेरठ कालेज, मेरठ, के

१ गुजराती प्रेस, बबई, द्वारा सात जिल्दो में प्रकाशित (१९१२-२०)
२ ए० ए० मैक्डानेल—'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर', पृ० ३०३

सुझाव पर, यह प्रयास किया गया है कि रामायण के प्रसिद्ध प्रक्षिप्त अंशो का उपयोग न किया जाय। साधारणत बालकाड का आख्यान-भाग तथा समस्त उत्तरकाड, जिनको आधुनिक विद्वानो ने प्राय. सर्व समति से प्रक्षेप माना है, इस अध्ययन से अधिकतर वहिष्कृत रखे गए है। टीकाकारो द्वारा निर्दिष्ट प्रक्षिप्त स्थल भी छोड दिये गए है। जहा कही तुलनात्मक विवेचन के लिए अथवा महत्व या रोचकता की दृष्टि से इन प्रक्षिप्त स्थलो की सामग्री का उपयोग किया गया है, वहा स्पष्ट सकेत कर दिया गया है।

रामायण के रचना-काल, उसकी ऐतिहासिकता, उसके कर्ता, प्रक्षेप, सस्करण, पाठ-भेद आदि का विवेचन इस पुस्तक के मुख्य विषय से सबद्ध नही है, इसलिए विस्तार में न जाकर आरभ मे इनकी सक्षिप्त चर्चा-भर की गई है।

सभव है, पुस्तक मे आगे चलकर रामायण की कुछ घटनाओ की पुनरुक्ति दिखाई दे। एक विश्लेषणात्मक कृति में कुछ पुनरुक्तिया तो अपरिहार्य है, क्योकि कई वार एक ही तथ्य या घटना की विभिन्न प्रसगो में विविध दृष्टिकोणो से व्याख्या आवश्यक हो जाती है। राजनीतिक एव आर्थिक परिस्थितियो को सामाजिक गति-विधि का ही अग मानकर उनका भी इस पुस्तक मे समावेश कर लिया गया है। हिंदी की प्रकृति के अनुरूप, अनुनासिको के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग किया गया है तथा हलंत का व्यवहार छोड दिया गया है, केवल संस्कृत-स्थल इसके अपवाद रखे गए है।

इस पुस्तक के रेखा-चित्रो मे चित्र १ भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'इंडियन आर्ट थ्रू दि एजेस' के एक छवि-चित्र की रेखानुकृति है। चित्र २ का आधार पत्र-सूचना-विभाग, नई दिल्ली, से प्राप्त एक छवि-चित्र है। चित्र ३ श्री सी० शिवराममूर्ति-कृत 'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट, मिरर्स आफ इंडियन कल्चर' के चित्र १२ की अनुकृति है (कापीराइट, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)। चित्र ४ से ११ श्री अवनीद्रनाथ ठाकुर की 'सम नोट्स आन इंडियन एनेटामी' पर आधारित है। चित्र १२ श्री सी० शिवराममूर्ति की 'अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्यूजियम' से लिया गया है (कापीराइट, राजकीय संग्रहालय, मद्रास)। लेखक इन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

नई दिल्ली,
राम-नवमी, सं० २०१५

—शांतिकुमार नानूराम व्यास

विषय-सूची

१	वाल्मीकि और उनका काव्य	१
२	आर्य और अनार्य	१५
३	राक्षस	२४
४	वानर	५३
५	वर्ण	७५
६	आश्रम	९३
७	परिवार	९९
८	विवाह	१११
९	प्रेम	१३६
१०	नारी—घर में	१४९
११	नारी—समाज में	१८७
१२	आर्थिक जीवन	२१३
१३	प्रशासन	२५३
१४	युद्ध	२८८
	सदर्भ-ग्रथ	३०५
	परिशिष्ट—वाल्मीकि-कालीन स्थान-परिचय	३०७
	अनुक्रमणिका	३१३

रामायणकालीन समाज

: १ :

वाल्मीकि और उनका काव्य

वाल्मीकि-रामायण भारत का राष्ट्रीय आदि-काव्य है। धार्मिक एव नैतिक आदर्शों का भडार होने के साथ-साथ वह एक महत्वपूर्ण मानवीय समाज-शास्त्र भी है, जो सहस्रो शताब्दियो पूर्व के भारतीयो के जीवन-यापन का रोचक वृत्तात उपस्थित करता है। एक पुरातन युग की जीवित परंपराओ, धारणाओ, चिताओ, आकाक्षाओ और भावनाओ का चित्रण करने के कारण वह प्राचीन भारतीय सभ्यता और सस्कृति की एक बहुमूल्य निधि है। उसकी उपमा एक ऐसे पर्वत से दी जा सकती है, जिसकी चोटी से हम प्राचीन आर्यो के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एव कला-सबधी क्रिया-कलाप का सम्यक दर्शन कर सकते है। तत्कालीन भारतीय समाज के अनेक अस्पष्ट पक्षो पर वाल्मीकि के काव्य से जैसा प्रकाश पडता है, वैसा अन्य किसी स्रोत से नही। उत्तर-वैदिक भारत के सामाजिक इतिहास की शोध मे रामायण का योग और भी महत्वपूर्ण इसलिए हो जाता है कि वह आज भी करोडो भारतीयो के धार्मिक विश्वासो के साथ अविच्छिन्न रूप से गुथी हुई है। वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि-विधाता है, धर्म और सत्य-रूपी महा-वृक्षो के जो अमर बीज उन्होने बोये, वे आज भी फल-फूल रहे है।

किंतु आश्चर्य की बात है कि रामायण के प्रति जन-मानस का यह श्रद्धा-तिरेक ही व्यावहारिक दृष्टि से उसके समीक्षात्मक अध्ययन में बाधक सिद्ध हुआ। भारत के कुछ रूढिवादी हिदू रामायण के चरितनायको की ईश्वरीय अवतारो के रूप में वदना और पूजा करने में ही परम सतोष का अनुभव करते है। उनके अनुसार रामायण के उदात्त चरित्रो की महत्ता और गहराई मानव-बुद्धि के लिए अगम और अगोचर है तथा सामान्य अध्ययन-अन्वेषण से ऊपर की चीजें है। उनकी दृष्टि मे राम और सीता के जीवन को सामान्य मानवीय मापदड से नापने की चेष्टा करना अथवा तार्किक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास करना वाणी या लेखनी का निरर्थक व्यापार है। इसी संकुचित धारणा ने रामायण के व्यावहारिक

अध्ययन में बाधा पहुचाई। रामायण के टीकाकार भी प्राय इसी भावना से ग्रस्त जान पडते है। उन्होने उसके गूढ स्थलो को भक्ति-भावना-पूर्वक समझाने की चेष्टा की है, लौकिक दृष्टि से उनकी विशेषताओ पर प्रकाश कम डाला है। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि उन्होने रामायण की घटनाओ को लोकोत्तर मानकर ही उस पर टीकाए लिखी।

रामायण की अपार लोकप्रियता ने भी उसके समाजशास्त्रीय महत्व की उपेक्षा कराने मे योग दिया। हम लोग रामायण की कथा से इतने अभ्यस्त और परिचित है कि उसका नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन-अनुसधान करने की ओर ध्यान ही नही जाता। राम और सीता के अप्रतिम आदर्शों का पठन-पाठन, श्रवण, कीर्तन और मनन ही हमारे लिए पर्याप्त है, वे या उनके समय के लोग कैसे रहते-सहते थे, कैसे अपनी आजीविका चलाते थे, कैसे राज-काज करते थे, आदि प्रश्नो का सही उत्तर ढूढने के लिए हम प्रेरित ही नही होते। रामायण के कथानक का चिरतन आकर्षण उसकी सास्कृतिक सूचनाओ को पाठक की दृष्टि से ओझल कर देता है। स्वर्गीय श्री श्रीनिवास शास्त्री के शब्दो मे, "रामायण का सामान्य पाठक कथा की मनोहरता और विषय की उदात्तता से मुग्ध और प्रभावित हो उठता है। उसका ध्यान इस ओर नही जाता कि प्रत्येक पृष्ठ पर तत्कालीन युग की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियो पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री बिखरी पडी है। यह सामग्री अधिकाश सकेतो के रूप मे मिलती है, जिन्हें पूरी तरह से समझने के लिए उनके व्यवस्थित और सुसबद्ध सकलन तथा सप्रमाण विवेचन की आवश्यकता है। जब कोई सत्यान्वेषी और विवेकपूर्ण अनुसधानकर्ता इन सकेतो को एकत्र कर हमारे प्राचीन समाज का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देता है, तब हमारी प्रसन्नता बहुत-कुछ वैसी ही होती है जैसी कोई नई खोज या आविष्कार कर डालने पर।"[१]

अतएव आज के वैज्ञानिक युग में, जबकि अतीत हमारे लिए केवल गौरव, भक्ति या स्वात सुख का विषय न होकर ज्ञान-वर्धन और प्रगति का भी एक साधन है, हमें चाहिए कि वाल्मीकि के महाग्रथ का लौकिक दृष्टि से भी समुचित मूल्याकन करें। सामाजिक जीवन के प्राय सभी पहलुओ पर वाल्मीकि ने रोचक और स्थायी महत्व की सामग्री प्रस्तुत की है। समाज और परिवार के विषय में तत्कालीन आर्यों

---

१. पी० सी० धर्मा-कृत 'रामायण पॉलिटी' का उपोद्घात

की धारणाएं क्या थी ? समाज का सगठन कैसा था ? वर्ण और आश्रम की व्यवस्था कैसी थी ? जनसाधारण की स्थिति पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती थी ? उच्च वर्ण के लोगो को समाज क्या सुविधाए प्रदान करता था ? निम्न वर्णो की क्या निर्योग्यताए थी और उनके जीवन का स्तर कैसा था ? विवाह की प्रणाली कैसी थी और प्रेम का आदर्श क्या था ? स्त्रियो के साथ समाज में कैसा व्यवहार किया जाता था ? लोग अपनी आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति किस प्रकार करते थे ? शासन-व्यवस्था, युद्ध-सचालन, अस्त्र-शस्त्र, यातायात के साधन इत्यादि कैसे थे ? इन प्रश्नो का उत्तर रामायण मे ढूढने से पता चलेगा कि तत्कालीन समाज का ठोस और व्यावहारिक स्वरूप कैसा था।

यदि इस समाजशास्त्रीय दृष्टि से वाल्मीकि-रामायण का महत्व आका जाय तो निश्चय ही हमारा अध्ययन अत्यत रोचक, हृदयग्राही और ज्ञान-वर्धक सिद्ध होगा—रामायण का एक सर्वथा मौलिक, नवीन, अद्‌भुत एव सर्वजनप्रिय स्वरूप पाठको के समक्ष उपस्थित होगा। शिक्षित-अशिक्षित, आधुनिक-पुरातन सभी स्तरो के लोगो के लिए यह एक नितात रोचक और अनुपेक्षणीय विपय होगा। ज्ञान की खोज एक ऐसा विषय है, जो स्वय ज्ञानोपार्जन से कम विलक्षण और रुचिकर नही है। लिखित इतिहास तथा प्राचीन स्मारको और भग्नावशेपो में अकित अतीत की कहानी की परिधि सीमित है। इतिहास के ये साधन मानव को बहुत दूर तक नही ले जाते और यदि ले भी जाते है तो मानवीय गति-विधि के सबध में बहुत कम बता पाते है। हमारे पास एक और साधन है—प्राचीन साहित्य, जिसकी जाच अतीत के निरवगुठन मे, मानव-बुद्धि के विकास-क्रम को समझने में, मानव की ज्ञान-वृद्धि मे नितात सहायक होगी। समस्त ससार मे कही भी किसी जाति ने अपने बारे मे जानकारी की ऐसी विस्तृत सामग्री नही छोडी जैसी प्राचीन भारत के आर्यों ने। अपनी सस्कृति के विषय मे जो तथ्य उन्होने वेदो, इतिहास-पुराणो, दर्शन-ग्रथो और काव्यो मे लिपिबद्ध किये है, उनके आधार पर हमें उनके जीवन का जैसा सूक्ष्म, घनिष्ठ और सच्चा परिचय प्राप्त होता है, वैसा अपने समकालीनो का भी प्राप्त होना कठिन है।

प्राचीन साहित्य का रस हम प्राय एकात मे बैठकर लिया करते है, उसे हम मुख्यत आनद के लिए पढते है। पर उसका पूरा महत्व हृदयगम करने के लिए हमें उसे युग-जीवन से जोडना होगा। हमे यह देखना होगा कि साहित्यकार ने

जीवन के किस अग को कितनी सफलता से प्रकट किया है—कलाकार ने युग-जीवन को कितनी गहराई और व्यापकता में उद्घाटित किया है। श्रेष्ठ साहित्य स्वभावत युग-जीवन से ग्रथित होता है—वह अपने समय के सामाजिक यथार्थ को प्रकट या प्रतिफलित करता है। वाल्मीकि की कृति भी इस कोटि में आती है और उसके समग्र मूल्याकन के लिए हमे समाजशास्त्रीय दृष्टि भी रखनी होगी, उसमें तत्कालीन युग-जीवन के तत्व खोजने होगे। ऐसा करने पर हमें रसानुभूति के साथ यह चेतना भी प्राप्त होगी कि रामायण का भारत की विराट सस्कृति से कितना गहरा सबध है।

रामायण के कर्ता वाल्मीकि एक प्रतिष्ठित ऋषि एव राम के एक समकालीन के रूप में हमारे सामने आते है। बालकाड में लिखा है कि वाल्मीकि तमसा नदी के किनारे एक आश्रम में रहते थे। उनके मन में किसी आदर्श मानव का चरित्र लिपिबद्ध करने की इच्छा उठी। नारद के परामर्श से उन्होने अयोध्या के तत्कालीन शासक महाराज राम को अपना चरितनायक बनाने का सकल्प किया। इसी समय एक व्याध के हाथो एक क्रौच पक्षी को मारे जाते देख उनकी हृद्गत करुणा सहसा एक श्लोक के रूप में प्रस्फुटित हो गई। ब्रह्मा के आदेशानुसार उन्होने इसी नवीन छद में राम-चरित को काव्यबद्ध करना शुरू किया।[1] अपनी यह रचना उन्होने कुश और लव को सिखाई और ये दोनो भाई सर्वत्र इसका गा-गाकर प्रचार करने लगे। इन्होने अयोध्या के दरबार मे राम और उनके भाइयो को भी यह कथा सुनाकर भाव-विभोर कर दिया (१।१, ४)।

उक्त वर्णन से यह सिद्ध है कि रामायण की रचना राम के राज्यारूढ होने के कुछ ही वर्षों बाद की गई थी —

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवान् ऋषि ।
चकार चरित कृत्स्न विचित्रपदमर्थवत् ॥ १।४।१

अयोध्याकाड के अनुसार राम, लक्ष्मण और सीता ने चित्रकूट के निकट वाल्मीकि से भेंट की थी।[2] उत्तरकाड के अनुसार वाल्मीकि दशरथ के 'परम सखा'

---

१ कुरु रामकथा पुण्या श्लोकबद्धा मनोरमाम्। १।२।३६

२ इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताजलि । अभिगम्याश्रम सर्वे वाल्मीकि-मभिवादयन् ॥ तान्महर्षि प्रमुदित पूजयामास धर्मवित् । आस्यतामिति चोवाच स्वागत त निवेद्य च ॥ २।५६।१६-७

थे,[1] और उन्होंने परित्यक्ता सीता को अपने आश्रम में आश्रय दिया था। यहीं कुश और लव का जन्म हुआ। इन्होंने वाल्मीकि से रामायण सीखकर राम के अश्वमेध-समारोह में सुनाई। उसे सुनकर राम ने सीता को बुला भेजा। उनके साथ वाल्मीकि ने भी आकर भरी सभा में सीता के सतीत्व की साक्षी दी थी (७।९५-६)।

वाल्मीकि के पूर्व-जीवन पर रामायण से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उनके डाकू होने और फिर तपस्वी बनने की कथाओं का आधार अन्य ग्रंथों में पाया जाता है। अध्यात्म-रामायण के अनुसार, वाल्मीकि ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे, पर कु-संगति के कारण लूटमार में प्रवृत्त होकर अपने परिवार का भरण-पोषण करने लगे। एक बार उनके मार्ग में सप्तर्षिगण आये। उन्हें भी इस पतित ब्राह्मण ने लूटना चाहा। मुनियों ने इससे पूछा कि जिन कुटुंबियों के लिए तुम लूटमार द्वारा धन कमा रहे हो, क्या उनमें से कोई तुम्हारे अधर्म का भागी भी बनने को तैयार है? जब ब्राह्मण ने घर जाकर अपने स्त्री-पुत्रों से यह प्रश्न किया, तब उत्तर मिला कि हम तो केवल तुम्हारे धन को भोगनेवाले हैं, उसका पाप तो तुम्हें ही लगेगा। इससे ब्राह्मण के मन में वैराग्य का उदय हुआ और वह उन मुनियों की शरण में गया। सप्तर्षियों ने उसे 'राम' नाम को उलटा जपने का आदेश दिया—**एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा**। ब्राह्मण इतने दीर्घ काल तक इस नाम का जप करता रहा कि उस पर मिट्टी का ढेर (वल्मीक) लग गया। बहुत समय बाद जब सप्तर्षि उधर से लौटे, तब उन्होंने उसका 'वाल्मीकि' नामकरण किया और इस नूतन जन्म पर उसका अभिनंदन किया।

जनश्रुति में वाल्मीकि का बचपन का नाम रत्नाकर है और उनकी भेंट सप्तर्षियों के बजाय नारद से होती है। कृत्तिवासीय रामायण में इस जनश्रुति का उपयोग किया गया है। शेष कथा अध्यात्म-रामायण-जैसी ही है।

वाल्मीकि के आरंभ में डाकू होने का आभास महाभारत के अरण्य-पर्व (अध्याय १२२) और अनुशासन-पर्व (अध्याय ४९) में भी मिलता है।

वाल्मीकि के जीवन-संबंधी इन सामग्री की प्रामाणिकता संदिग्ध है। स्वयं रामायण में उनके विषय में जो उल्लेख आये हैं वे मौलिक नहीं माने जाते। वाल्मीकि-

---

१ राज्ञो दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुंगव। सखा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशा॥ ७।४७।१६-७

नारद-सवाद और क्रौंच-वध के प्रसग किसी दूसरे के लिखे हुए है। चित्रकूट के निकट राम-वाल्मीकि की भेंट का उल्लेख भी रामायण के केवल दाक्षिणात्य पाठ में पाया जाता है। आधुनिक अन्वेषक वाल्मीकि को राम का समकालीन नही मानते, और उनका राम-जन्म से सहस्रो वर्ष पहले रामायण की रचना कर डालना तो सर्वथा अमान्य और काल्पनिक है। फिर भी इतना सर्वमान्य है कि वाल्मीकि-रामायण रचना-काल की दृष्टि से राम के सर्वाधिक निकट है। राम-राज्य का चित्रण करने के लिए वाल्मीकि को तत्कालीन अनुश्रुतियो, आख्यानो और लोक-परपराओ का एक बहुमूल्य स्रोत उपलब्ध रहा होगा। इस कारण उनकी रामायण का जो ऐतिहासिक महत्व है वह अन्य किसी रामायण का नही।

रामायण के अनुसधान से वाल्मीकि के व्यक्तित्व का, उनकी प्रज्ञा-प्रतिभा का जो अप्रत्यक्ष परिचय मिलता है, उसके प्रकाश में उनके पूर्वकालीन जीवन का समस्त तथाकथित कालुष्य धुल जाता है—उसके प्रति पाठक की जिज्ञासा ही नही जगती। पाठक के मन पर तो यही छाप पडती है कि वाल्मीकि ऋषि-समाज के अग्रगण्य तपस्वी साधक, वेद-वेदागो के परिनिष्ठित विद्वान, रससिद्ध कवीश्वर, तत्कालीन भारत के मानचित्र के सम्यक ज्ञाता, सामाजिक प्रथाओ एव मर्यादाओ के सस्थापक और व्याख्याकार, सत्य और न्याय के समर्थक, धर्म के स्तभ एव लोकानुरजन के प्रबल हिमायती थे। उन्होने अपने समकालीन, अथवा कुछ ही पूर्ववर्ती, एक अतुल पराक्रमी, लोकप्रिय, आदर्श शासक के युग को काव्य की रेखाओ में बाधकर न केवल प्राचीन भारत के एक स्वर्ण-युग को इतिहास के खडहरो में जा पडने से बचा लिया, वरन स्वय अपने यश-शरीर को भी जरा-मरण के भय से सदा के लिए मुक्त कर दिया—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा ।
नास्ति येषा यश:काये जरामरणज भयम् ॥ शार्ङ्गधरपद्धति १६६

यह उल्लेखनीय है कि जहा अन्य रामायणो मे राम को विष्णु के अवतार के रूप में अधिक चित्रित किया गया है, वहा वाल्मीकि-रामायण देव-चरित्र का वर्णन न होकर नर-चरित्र का ही कीर्तन है। जब वाल्मीकि ने आदर्श गुणो से मडित किसी विभूति का परिचय पूछा, तब नारद ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणो का भाजन बताया—**तैर्युक्तः श्रूयता नर** (१।१।७)। अवश्य ही वाल्मीकि के समय की अनुश्रुतियो में राम का विष्णुत्व प्रकट होने लगा था, जिनके प्रभाव से अछूते रहना

कठिन था, फिर भी वाल्मीकि उन इने-गिने लौकिक ऋषियो में से थे, जिनका दृष्टिकोण पूर्णत मानवीय था। राम उनके लिए एक मानवीय महापुरुष थे, एक ऐसे 'नर-चद्रमा' थे, जिन्होने विकट परिस्थितियो के बीच रहकर भी अपने शील की रक्षा की तथा अपने युग की हीनताओ और मानव-मात्र की दुर्बलताओ से ऊपर उठ कर मनुष्य को ईश्वरत्व की कोटि तक पहुचा दिया। इस स्वस्थ दृष्टिकोण ने उनकी रामायण को एक सहज आकर्षण से परिप्लावित कर दिया है।

रामायण में समय-समय पर प्रक्षेपो के रूप मे अतिरिक्त सामग्री जुडती रही है। ये परिवर्धन कुछ तो प्रतिभाशाली कवियो ने और कुछ संस्कृत के विद्वानो ने किये। ये अश उन लोगो द्वारा उचित और उपयोगी माने जाते थे, जो या तो अपने विचारो को दूसरो तक पहुचाना चाहते थे या यह समझते थे कि इस प्रकार मूल काव्य अधिक सुदर और कही-कही अधिक विस्तृत बन जायगा। परिवर्धन की इस प्रक्रिया मे तीन कारणो ने सहायता पहुचाई—एक तो प्रारभ में यह काव्य मौखिक रूप से प्रचलित रहा, दूसरे, बाद में इसकी कुछ ही हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध रही, और तीसरे, इनकी प्रामाणिकता की पुष्टि के सहज साधन भी उपलब्ध नही थे। किंतु प्रक्षेपकर्ता यह नही समझते थे कि हम किसीके साथ धोखा कर रहे है, क्योकि वे मानते थे कि हम सत्य और स्वस्थ विचारो का ही प्रचार कर रहे है। पाडुलिपि जितनी बडी होती थी, भक्त लोग उसका उतना ही अधिक आदर करते थे, क्योकि प्रचलित धारणा यह थी कि मूल ग्रथ बहुत विशाल था और उसके अनेक अश लुप्त हो गए। इसलिए कुछ लोगो ने इन विलुप्त अशो के 'पुनरुद्धार' का बीडा उठाया। रामायण के ये परिवर्धित या प्रक्षिप्त अश मूल्यवान भले ही हों, पर वाल्मीकि-रचित मूल भागो से निस्सदेह भिन्न है।

रामायण को लिपिबद्ध करते समय उसके विभिन्न पाठ, प्रक्षेप तथा श्लोकों के क्रम उसी रूप में लिख लिये गए, जिस रूप मे भिन्न-भिन्न प्रदेशो के सूत और गायक उन्हे गाकर सुनाया करते थे। फलत भारत क विभिन्न भागो मे रामायण के पृथक-पृथक पाठ प्रचलित हो गए। इन पाठ-भेदो के आधार पर पिछले डेढ सौ वर्षों में रामायण के अनेक सस्करण छपे। सबसे पहले सन १८०६ में सिरामपुर के डा० विलियम केरी और डा० जोशुआ मार्शमैन नाम के दो पादरियो ने रामायण के प्रथम दो काड अग्रेजी अनुवाद-सहित प्रकाशित किये। उनका आधार रामायण का पश्चिमोत्तरीय पाठ था। १८२९ में जर्मन विद्वान श्लीगल ने प्रथम दो काड लैटिन अनु-

वाद, भूमिका और टिप्पणी-सहित प्रकाशित किये। सपूर्ण रामायण का सर्वप्रथम मुद्रित सस्करण राजा चार्ल्स अलबर्ट के व्यय से इटली के विद्वान गोरेशियो ने १८४३ से १८६७ के बीच प्रकाशित किया। यह सस्करण बगाल मे प्रचलित पाठ पर आधारित था। तत्पश्चात उत्तर भारत मे प्रचलित देवनागरी पाठ के आधार पर सन १८८८ मे निर्णयसागर प्रेस, बबई, ने रामायण का सस्करण छापा तथा १९१२-२० में गुजराती प्रेस, बबई, ने तीन टीकाओ-सहित सात जिल्दो में एक सस्करण निकाला। बबई मे छपे इन सस्करणो का पाठ कुभकोणम (१९०५), श्रीरगम (१९१७-८) तथा मद्रास (१९३३) के सस्करणो के ही समान है, जिनमे दाक्षिणात्य पाठ का अनुसरण किया गया है। पश्चिमोत्तरीय पाठ के आधार पर रामायण का लाहौर-सस्करण १९२३-४७ में प० भगवद्दत्त, प० रामलभाया और प० विश्वबधु ने सपादित करके प्रकाशित कराया।

इन सबमें तीन सस्करण महत्वपूर्ण है—गोरेशियो का वगीय सस्करण, बबई और मद्रास का दाक्षिणात्य सस्करण तथा लाहौर का पश्चिमोत्तरीय सस्करण। कितने ही कथा-प्रसग दाक्षिणात्य सस्करण मे उपलब्ध होते है, पर अन्य दो सस्करणो मे उनका समावेश नही है। इसी प्रकार कुछ प्रसग ऐसे है, जो पश्चिमोत्तरीय और वगीय सस्करणो में मौजूद है, पर दक्षिणी मे नही। कुछ-एक प्रसग तीनो सस्करणो में मिलते है, परतु उनका परिमाण न्यूनाधिक है तथा सूक्ष्म विस्तार मे पर्याप्त भेद है। बडौदा के प्राच्य-विद्या-मदिर ने वाल्मीकि-रामायण का एक सचित्र समीक्षित सस्करण (क्रिटिकल एडिशन) तैयार करने की एक विशाल व्यय-साध्य योजना बनाई है, जिसके १९६० में पूरा होने का अनुमान है।

पाश्चात्य विद्वानो का अनुमान है कि रामायण के प्रक्षिप्त और अप्रक्षिप्त भागो के बीच कई शताब्दियो का अतर रहा होगा। आधुनिक अन्वेषक मौलिक रामायण (वाल्मीकि की प्रक्षेप-रहित प्रामाणिक रचना, काड दो से छ) तथा प्रचलित रामायण (जिसमें चौबीस हजार श्लोक तथा सात काड है) का अलग-अलग रचना-काल निर्धारित करते है। मूल रामायण में बालकाड और उत्तरकाड नही थे और उसमें बौद्ध धर्म की ओर सकेत नही मिलता। अत उसकी रचना बुद्ध से पूर्व, अर्थात पाचवी शताब्दी ई० पू० से पहले हुई होगी।[1] याकोबी, मैक्डानेल, मोनियर

१ लेकिन प्राचीन बौद्ध साहित्य तथा जातको की सामग्री के विश्लेषण से स्पष्ट है कि तिपिटक के रचना-काल में राम-कथा-सबधी स्फुट आख्यान-काव्य प्रच-

विलियम्स और चितामण विनायक वैद्य का यही मत है। इसके विपरीत कीथ रामायण की मूल रचना चौथी शताब्दी ई० पू० में रखते है और विंटरनित्स तीसरी शताब्दी ई० पू० मे। याकोवी मूल रामायण का रचना-काल ८००-६०० ई० पू० मानते हैं। इसी समय के निकट-परवर्ती ग्रथकार भास, कौटिल्य और पतजलि रामायण के कथानक से पूर्ण परिचित प्रतीत होते है।[1] मूल रामायण की रचना निश्चय ही पाणिनि (५०० ई० पू०) से पहले की जान पडती है, क्योकि रामायण की भाषा मे ऐसे अनेक आर्ष प्रयोग पाये जाते है, जो पाणिनीय व्याकरण से मेल नही खाते। यदि वाल्मीकि पाणिनि के वाद हुए होते तो ऐसा न होता। पाणिनि ने कोसल, कौसल्या, केकय, कैकेयी, भरत, वैश्रवण, विभीषण, रावण और वाल्मीकि-जैसे नामो की व्युत्पत्ति भी समझाई है। किंतु रामायण के प्रधान पात्र राम, सीता और दशरथ पाणिनि में नही मिलते।

मूल रामायण के विकसित होकर प्रचलित रामायण का बृहत्तर रूप धारण करने मे कई शताब्दिया लगी होगी। याकोवी पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी को प्रचलित रामायण का काल मानते है। चितामण विनायक वैद्य पहली शताब्दी ई० पू० अधिक सभव समझते है तो विटरनित्स दूसरी शताब्दी ईस्वी। कालिदास के समय मे रामायण ने अपना प्रचलित रूप धारण कर लिया था और यदि कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० है तो प्रचलित रामायण का रूप इसके वाद का नही हो सकता।

राम-जैसे अप्रतिम शासक के बारे मे लोक-मानस ने अनेक गीतो और आख्यानो की सृष्टि कर ली होगी तथा इनका वाल्मीकि के पहले से प्रचार रहा होगा। इसका आभास महाभारत के द्रोण-पर्व और शाति-पर्व के सक्षिप्त राम-चरित से तथा अन्य निर्देशो से मिलता है।[2] ये आख्यान आज अप्राप्य है, पर वाल्मीकि के समय मे ये उपलब्ध रहे होगे। निश्चय ही उन्होने एक विस्तृत सुसवद्ध राम-कथा की रचना करने मे इनका प्रयोग किया होगा।

लित हो चुका था, पर रामायण की रचना नहीं हो पाई थी (कामिल बुल्के-कृत 'राम-कथा', पृ० ३६)।

१. टी० परमशिव ऐयर —'रामायण एंड लंका', पृ० ८

२. 'राम-कथा', पृ० ३०

जहा तक रामायण की घटनाओ का प्रश्न है, पुराण-विशेषज्ञ पार्जिटर ने वशावलियो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि राम-रावण और कौरव-पाडव युद्धो के बीच पाच शताब्दियो का अतर था। उनके अनुसार महाभारत-युद्ध ११०० ई० पू० में हुआ था।[1] इस प्रकार राम १६०० ई० पू० में हुए और रामायण की घटनाए इसी काल में घटित हुई।

रामायण-काल का पूर्ववर्ती युग उपनिषदो का समय माना जाना चाहिए, क्योकि उपनिषदो के नीरस और आर्ष गद्य ने जन-मानस में किसी सरस और उदात्त काव्य का आस्वादन करने की उत्कठा जागृत की होगी, और वाल्मीकि की कृति ने जनता का अनुरजन किया होगा। उपनिषदो के दार्शनिक महाराज जनक सीता के पिता राजा जनक से अठारह पीढी पहले हुए थे[2] और राम का समय प्राचीन उपनिषदो मे लगभग चार सौ वर्ष बाद का रहा होगा।[3]

किंतु ये सब तिथिया विवादग्रस्त और अनिर्णीत है तथा अधिक शोध की अपेक्षा रखती है। अतएव इस पुस्तक में व्यवहृत 'रामायण-काल' अथवा 'रामायणकालीन' शब्द का स्थूल अर्थ उस काल अथवा युग से लेना चाहिए, जो वाल्मीकि-रामायण मे चित्रित ह, चाहे वह युग राम के समय का हो अथवा वाल्मीकि के समय का।

इस प्रसग में एक महत्वपूर्ण प्रश्न की भी चर्चा कर लेना आवश्यक है, वह यह कि रचना-काल की दृष्टि से रामायण और महाभारत में कौन पूर्ववर्ती है। क्योकि रामायण की काव्य-शैली परिष्कृत और अपने समय की साहित्यिक प्रगति के अनुरूप पर्याप्त पुष्ट एव अलकृत है, तथा महाभारत की भाषा और शैली में प्राचीनता और अस्तव्यस्तता दृष्टिगोचर होती है, अतएव कई विद्वानो का यह अनुमान है कि महाभारत की रचना रामायण से पहले हो चुकी थी। लेकिन

---

१. 'एन्शयट इडियन हिस्टॉरिकल ट्रैडीशन', अध्याय १५

२ बालकाड, सर्ग ७१, के अनुसार विदेह-वश में जनक इक्कीसवीं पीढी में हुए थे : विदेह—निमि—मिथि (मिथिला के सस्थापक)—जनक प्रथम—(११) हर्यश्व—(२०) ह्रस्वरोमा—(२१) जनक द्वितीय (सीता के पिता)

३. देखिए वी० वी० दीक्षित—'रिलेशन आफ दि एपिक्स टु दि ब्राह्मण लिटरेचर' ('पूना ओरिएटलिस्ट', जिल्द ६-७)

इस सबध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि महाभारत कई हाथो की रचनाओ का 'सहिता' है, इसलिए उसमे भाषा की विभिन्नता और काव्य-शैली का अपरिष्कार दिखाई पडना स्वाभाविक है । इसके विपरीत रामायण एक हाथ की रचना अधिक है । प्रक्षेप इसमे भी है, पर ऐसा जान पडता है कि इसका मुख्य अश एक ही कवि की कुशल लेखनी का चमत्कार है । काव्य में माधुर्य-गुण का सचार करना बहुत-कुछ एक व्यक्तिगत गुण है, किसी युग-विशेष का सामान्य लक्षण नहीं । अत भाषा और शैली के आधार पर रामायण को परवर्ती सिद्ध करने के तर्क मे अधिक बल नही है ।

इससे अधिक महत्व का प्रश्न यह है कि रामायण और महाभारत मे चित्रित सामाजिक व्यवस्थाओ मे कौन अधिक प्राचीन है । महाभारत मे वर्णित सभ्यता अशातिमय एव अव्यवस्थित है, किंतु रामायण की सभ्यता अपेक्षाकृत अधिक शात, व्यवस्थित, सुसस्कृत और आदर्श है । इस आधार पर पाश्चात्य विद्वान यह अनुमान करते है कि महाभारतकालीन समाज रामायणकालीन समाज की अपेक्षा प्राचीनतर है । लेकिन, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, महाभारत की रचना मे अनेक हाथो का योग रहा है, उसका सपादन एकाधिक वार किया गया है, उसमे एक व्यक्ति का नही बल्कि एक सपूर्ण युग का व्यक्तित्व, अपने समस्त गुण-दोषो के साथ, अत्यत जीवत रूप मे अभिव्यक्त हुआ है । अत उसमे सभ्यता के विभिन्न स्तरो का, शिष्ट-अशिष्ट व्यक्तियो का, समाज के बर्बर और शालीन दोनो रूपो का, अकन पाया जाना स्वाभाविक ही है । अन्यथा, रामायण ही मूल महाभारत की अपेक्षा भारतीय समाज के एक प्राचीनतर रूप को प्रकट करती है । जिन परंपराओ और अनुश्रुतियो के आधार पर रामायण की रचना हुई थी, वे महाभारत के समय मे आकर समाज की सामान्य धरोहर बन गई थी । रामायण के मुख्य पात्र आर्यो के अतिरिक्त वानर, ऋक्ष और राक्षस-जैसे आदिवासी है, जबकि महाभारत के मुख्य पात्र सुसस्कृत मनुष्य ही है, राक्षस केवल कथानक की नाटकीयता में अभिवृद्धि करने के लिए यदा-कदा आते है और मनुष्यो-जैसे वानर और ऋक्ष सर्वथा लुप्त हो चुके है । रामायण में अलौकिक तत्वो का प्रयोग एक सीमित मात्रा में हुआ है, पर महाभारत मे उनका सीमातीत उपयोग हुआ है । राम सर्वत्र पृथ्वीतल पर रहनेवाले एक मनुष्य बने रहते है । 'महाभारत के वीर मे नैतिक आचरण कुछ-कुछ बौद्धिक है, समय-समय पर उसका अन्यथाचरण हो सकता है, पर रामायण के वीर का नैतिक आचरण

सहज है, उसका अन्यथा भाव सभव नही। महाभारत के वीर अधिकतर सजातीय समाज मे चमके है, परतु रामायण के वीर प्राय विजातीय परिवेष्टन में चमके है। महाभारत के क्षत्रिय वीर अनेक प्रकार के कालोपयोगी अस्त्र-शस्त्रो मे सुसज्जित है, तत्कालीन प्रचलित नवीनतम युद्ध-कौशलो और युद्ध-रूढियो के अभ्यस्त है, पर रामायण के वीर—हनुमान, सुग्रीव, जाववान—न तो इन कौशलो के जानकार है और न रूढियो के कायल।'[1] दोनो ग्रथो के अवलोकन से पाठक पर यही प्रभाव पडता है कि जहा महाभारतकालीन भारत मे सामान्यत अधिक राज्य, अधिक राजा, अधिक नगर, अधिक तीर्थ-स्थान और अधिक नागरिक हलचल है, वहा रामायणकालीन भारत मे अधिक जगल, अधिक अनजाने रास्ते और प्रकृति से अधिक सपर्क है। रामायण-काल का आर्थिक जीवन भी महाभारत के आर्थिक जीवन से पिछडा हुआ है।[2] रामायण का समाज, अपने सीमित भौगोलिक दायरे में, अधिक सुगठित, व्यवस्थित और सघर्ष-रहित है, जबकि महाभारत के समाज की भौगोलिक सीमाए अधिक विस्तृत और सघर्ष-सकुल है। रामायणकालीन भारत के राजनीतिक मानचित्र मे छोटे-छोटे राज्यो का बाहुल्य तथा किसी सार्वभौम सत्ता का अभाव पाया जाता है, तो महाभारत चौथी शताब्दी ई० पू० की राजनीतिक स्थिति की ओर इगित करता है, जब पूर्वी भारत मे जरासध का शक्तिशाली साम्राज्य मगध के अतिरिक्त अनेक राज्यो को अपने भीतर समेटे हुए था। यदि रामायणकालीन सस्कृति महाभारतकालीन सस्कृति की अपेक्षा अर्वाचीन है तो रामायण मे महाभारत के सुप्रसिद्ध राज्यो का उल्लेख कैसे नही हुआ? रामायण क्योकि इक्ष्वाकु-नृपतियो के गौरवशाली युग से सबधित है और महाभारत के समय कोसल-राज्य को मगध-साम्राज्य ने उदरस्थ कर लिया था, इसलिए रामायण-काल निश्चय ही महाभारत-काल का पूर्ववर्ती है। रामायण की उत्तर-भारतीय आर्य-सभ्यता को महाभारत-काल के विस्तृत भारतवर्ष मे व्याप्त होते-होते काफी समय लगा होगा। तब यवन, शक, हूण, चीन और अन्य विदेशी जातिया भारत के विभिन्न भागो मे बस चुकी थी। दुर्योधन के दरबार मे क्षत्रियेतर म्लेच्छ,

---

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी—'सस्कृत के महाकाव्यो की परपरा' ('आलोचना', अक्तूबर १९५१, पृ० १४)

२ जे० एन० समद्दर—'एकानामिक कडिशन्स इन एन्शयट इडिया', पृ० ६८

यवन आदि राजा समादृत थे। दूसरी ओर रामायण में यवन आदि का उल्लेख केवल दो बार हुआ है (१।५४।२१, २३) और उनका देश के राजनीतिक जीवन में नगण्य स्थान है।[१]

इसके अतिरिक्त, पाश्चात्य विद्वान महाभारत की अपेक्षा रामायण को परवर्ती सिद्ध करने मे जो यह तर्क देते है कि महाभारत की विपम एव अव्यवस्थित सस्कृति ही कालातर मे रामायण की मर्यादित एव सुव्यवस्थित सस्कृति में परिणत हो गई, उसके मूल मे उनका वह विकासवाद का सिद्धात है, जिसके अनुसार मनुष्य उत्तरोत्तर सभ्य एव शिष्ट बनता जाता है। हमारा भारतीय दृष्टिकोण इसके विपरीत है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का क्रम मनुष्य की उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखी प्रकृति का ही परिचायक है। रामायण की समुन्नत सस्कृति का महाभारत-काल मे जाकर काल-क्रम से ह्रास हो गया। उस समय के आदर्श बाद मे शिथिल पड गये। कहा श्री राम का परम एव उदात्त आचरण और कहा युधिष्ठिर का द्यूत आदि कर्मों मे प्रवृत्त होना, कहा लक्ष्मण, भरत आदि का वह भ्रातृ-स्नेह और कहा युधिष्ठिर के प्रति भीम और अर्जुन द्वारा अपमान-सूचक शब्दो का प्रयोग, कहा राम और भरत की राज्य के प्रति अनिच्छा और कहा दुर्योधन की यह राज्य-लिप्सा—**सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव**! इस प्रकार दोनो कालों के सास्कृतिक आदर्शो मे महान अतर है। वैवाहिक जीवन की दृष्टि से भी क्रमिक अवनति दीख पडती है। कहा सती-साध्वी सीता का पातिव्रत्य और श्री राम का एकपत्नी-व्रत और कहा सत्यवती और कुती की कुमारावस्था मे ही सतानोत्पत्ति, पाडवो के बहु विवाह और द्रौपदी के पाच पति! जब हनुमान सीता को राम के पास अपनी पीठ पर बैठाकर ले जाना चाहते है, तब सीता पर-पुरुप-स्पर्श के भय से यह प्रस्ताव अस्वीकार कर देती है। रावण-वध के अनतर सीता को अपनी पवित्रता के प्रमाण-स्वरूप अग्नि-परीक्षा देनी पडती है। किंतु काम्यक-वन मे जब जयद्रथ द्रौपदी का अपहरण करता है, तब पाडव उसके चरित्र के सबध मे कुछ भी सदेह नही करते। युद्ध के आदर्श भी गिर गए।

---

१. नगेंद्रनाथ घोष—'दि रामायण एंड महाभारत, ए सोशियोलाजिकल स्टडी' (सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबिली वाल्यूम, ओरिएंटेलिया, भाग २, पृ० ३६१)

रण-क्षेत्र में रावण के घायल हो जाने पर राम कहते है कि घायल का वध धर्म-विरुद्ध है, तो महाभारत में शस्त्र छोडे हुए भीष्म और द्रोण का वध, रथ से उतरे हुए कर्ण का वध तथा सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखडी और द्रौपदी के पाचो पुत्रो का वध किया जाता है। राम-रावण या लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध मे वह क्रोधोन्मत्त, घृणा-सूचक सलाप या प्रलाप नही पाया जाता, जो भीम और दुर्योधन, अर्जुन और कर्ण के बीच होता है। इस प्रकार जहा रामायण पूर्ववर्ती सत्ययुग की झाकी कराती है वहा महाभारत परवर्ती कलियुग के आगमन की सूचना देता है। रामायण सुख, शाति, समृद्धि और व्यवस्था के युग का प्रतिनिधित्व करती है तो महाभारत प्रचड सक्षोभ, विप्लवकारी परिवर्तन तथा सहारकारी युद्ध के युग का दिग्दर्शन कराता है।[1]

१ 'सस्कृत साहित्य की रूपरेखा', पृ० २६-८

: २ :

आर्य और अनार्य

यदि वाल्मीकियुगीन भारत का कोई व्यक्ति आधुनिक भारत मे अकस्मात प्रकट हो जाय, तो उसके विस्मय की सीमा न रहेगी कि हमारे इस प्राचीन देश में आज कितनी जातिया निवास करने लगी है। विशेष कर उसका ध्यान इस देश के विभिन्न मत-मतातरो तथा बोल-चाल की अनेक भाषाओ की ओर आकृष्ट होगा। उसका यह विस्मय का भाव सकारण ही है, क्योकि उसके अपने समय मे जातियो और भाषाओ की ऐसी अनेकता दृष्टिगोचर नही होती थी। तब तो स्थूल रूप से भारतवासियो के दो ही विभाग थे—एक आर्य और दूसरा अनार्य। हा, इन दोनो विभागो के भी कुछ उप-विभाग अवश्य थे, किंतु उनकी सख्या अधिक नही थी। जातियो और उप-जातियो के आज जो असख्य भेद-प्रभेद दीख पडते है, उनकी तुलना में रामायण-काल की जातियो की सख्या कम ही जान पडेगी।

आर्यो और अनार्यों की सामाजिक व्यवस्था मे अतर था। जहा आर्यों का समाज वर्णाश्रम के साचे मे ढला हुआ था, वहा अनार्यों का समाज जाति-रहित था। आर्यों का प्रभुत्व गगा-सिधु के प्राय सारे मैदान पर फैला हुआ था, जबकि उसके दक्षिण मे वन-ही-वन थे, जिनमे अनार्य-जातिया निवास करती थी। आर्यो ने अपनी श्रेष्ठ सभ्यता और सस्कृति के बल पर धीरे-धीरे प्राय सारे देश पर अधिकार कर लिया। अनार्य-जातियो मे से कुछ ने आर्यो को सहयोग दिया और कुछ ने डटकर उनका विरोध किया। इन विरोधी जातियो को भी अत मे पूर्ण परास्त होकर आर्यों की प्रभुता स्वीकार करने को बाध्य होना पडा।

विध्य पर्वत के दक्षिण में निवास करनेवाली अनार्य-जातियो मे से अधिकाश ने आर्यों के प्रभुत्व और उनकी सस्कृति को अगीकार कर लिया, परतु भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर पर तथा लका-द्वीप में एक खूख्वार काली जाति निवास करती थी, जिसकी रीति-नीति आर्यों के आचार-विचार से बिलकुल मेल नही खाती थी। इस जाति को आर्यो ने राक्षसो की सज्ञा दी। वेदो मे यह नाम असभ्य, बर्बर और घृणित जातियो के लिए आया है। इसी राक्षस-जाति के विरुद्ध राम ने अभियान

किया था, जिसका विस्तृत यशोगान वाल्मीकि ने अपनी रामायण में किया है। वाल्मीकि ने राक्षसों को ऋषि-मुनियो के आश्रमो का ध्वस करनेवाले, वैदिक क्रिया-कलापो में विघ्न डालनेवाले, ब्राह्मणो के चिर शत्रु तथा स्वेच्छानुसार आकार वदलनेवाले निशाचरो के रूप मे चित्रित किया है। उत्तर भारत के सस्कृत-भापी आर्यो से राक्षसो का बराबर सघर्ष रहता था। पूर्व-महाभारतकालीन भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में राक्षसो का महत्वपूर्ण स्थान था। उनकी सभ्यता महान और परिष्कृत थी, फिर भी वे अपनी स्वेच्छाचारिता, भोग-लिप्सा, दुष्टता और क्रूरता के कारण कुख्यात थे। खान-पान एव यौन सबधो में उनका आचरण निर्लज्ज और अमर्यादित था। नर-मास-भक्षण भी उनके लिए वर्जित नही था।

राक्षसो के बाद रामायण में वानरो का उल्लेखनीय स्थान है। यह भी दक्षिण भारत की एक अनार्य-जाति थी, किंतु इसने आर्यों से सहयोग किया और उनकी धार्मिक क्रियाओ को भी स्वीकार किया। नस्ल, भाषा, वर्ण और आकृति में आर्यों से भिन्न होते हुए भी वानरो ने आर्य-सस्कृति को मुक्त हृदय से अपनाया। राक्षसो के विरुद्ध राम के अभियान में उनके सक्रिय सहयोग से यह प्रकट है। वाली और सुग्रीव वानरो के नेता थे। वास्तव में वानर-जाति विध्य-पर्वतमाला के दक्षिण में निवास करनेवाली एक वनचर जाति थी और उसे निरा बदर समझ लेना भूल है। उसके वानर कहलाने के दो कारण हो सकते है—रहन-सहन या आचार-विचार की दृष्टि से उसमे विचित्रता थी अथवा आर्य लोग उससे भली भाति परिचित नही थे और एक पूछयुक्त उछल-कूद मचानेवाली जाति को देखकर उसे वानर कहने लगे।[1] उसके यौन सवध भी अनियमित होते थे।

राक्षसो और वानरो के अतिरिक्त तत्कालीन भारत में निपाद, गृध्र, शबर, यक्ष और नाग-जैसी अन्य अनार्य-जातिया भी निवास करती थी। इनमें से निपाद-जाति कोसल-राज्य और गगा के बीच के प्रदेश में रहती थी। गुह उसके मुखिया थे और श्रृगवेरपुर उनकी राजधानी थी। निषाद लोग अच्छे तीरदाज थे। जब भरत राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट जा रहे थे, तब मार्ग में निपादो ने एक बार उनका सामना करने की ठान ली थी।[2] नदी के समीप होने तथा पास के वनो

१ जे० म्युअर—'ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट्स भाग २, पृ० ४१६-९
२ तिष्ठन्तु सर्वदाशाश्च गगामन्वीश्रिता नदीम्। देखिए २।८४।३-८

में लकड़ी बहुतायत से मिलने के कारण निषाद स्वभावतः नाव बनाने और खेने में कुशल थे। गुह ने ही राम को एक सुखद नौका मे गंगा-पार पहुचाने का प्रबंध किया था।[1] निषादराज कोसल-राजकुमार के **आत्मसम सखा** (अभिन्न मित्र) थे और उन्होने सीता-सहित राम-लक्ष्मण का हार्दिक स्वागत किया। राम ने भी लक्ष्मण के साथ आगे बढकर उनका प्रगाढ आलिंगन किया।[2] तत्पश्चात् गुह ने राम को उत्तम खाद्य-पदार्थ भेंट किये, किंतु राम ने घोडो के लिए घास-दाने के अतिरिक्त और कुछ स्वीकार नही किया, इसलिए नही कि उन्हे एक निषाद का भोजन ग्रहण करने में आपत्ति थी, बल्कि इसलिए कि उन्होने तपस्वी का व्रत ले रखा था और प्रतिग्रह (दान या उपहार) लेना उनके लिए निषिद्ध था—**न हि वर्ते प्रतिग्रहे** (२।५०।४३)। राजकुमार भरत ऐसे किसी व्रत से बधे नही थे और उन्होने गुह से अन्न-पान आदि सहर्ष स्वीकार कर लिया। इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यों को इस वनवासी अनार्य-जाति का स्पर्श करने में अथवा उसका भोजन ग्रहण करने मे आपत्ति नही थी।

कोसल-राज्य के पडोस के कारण निषाद-जाति आर्य-संस्कृति से विशेष प्रभावित हुई थी। कहा जाता है कि इन निषादो की सस्कृति उत्तर-पाषाण-युग की संस्कृति थी और किसी समय समस्त भारत की जन-सख्या मे इन्ही का बहुमत था, पर अन्य उन्नत जातियो की वेगवती लहरो ने इन्हें पीछे ढकेल दिया। फलत निषाद आर्यावर्त की सीमावर्तिनी जाति-मात्र बनकर रह गए, जबकि वे नई जातिया ही भारतीय समाज का मूलाधार बन गईं।[3]

प्राचीन भारत की कुछ घुमतू जातिया अपने पर्यटनशील स्वभाव के कारण पक्षियो—गृध्रो या सुपर्णों—के नाम से सबोधित की जाती थी।[4] रामायण-काल में गृध्र-जाति भारत के पश्चिमी समुद्र-तट और उसके आसपास की पर्वत-श्रेणियो पर रहा करती थी। इस जाति के मुखिया सपाति और जटायु नाम के दो भाई थे,

---

१. अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवती शुभाम्। सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर॥ २।५२।८

२. सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन सः। २।५०।३५

३. रमेशचंद्र मजूमदार—'हिस्ट्री आफ बंगाल', भाग २, पृ० ५५७

४. अविनाशचंद्र दास—'ऋग्वेदिक इंडिया', पृ० १४८

जिनकी मृत्यु के बाद गृध्रो का राजनीतिक अस्तित्व समाप्त हो गया। इस जाति का रामायण में विस्तृत परिचय नही मिलता। हम केवल इतना जान पाते है कि जटायु महाराज दशरथ के सखा थे[1] और पचवटी में जब कभी राम और लक्ष्मण शिकार खेलने चले जाते, तब सीता की रखवाली का भार उन्ही पर आ पडता था। रावण के चगुल से सीता को छुडाने के प्रयत्न में जटायु ने अपने प्राण तक गवा दिये थे। क्या आश्चर्य यदि राम ने अपने किसी निकट बधु की भाति उनका दाह-सस्कार किया हो—**ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दु खित** (३।६८।३१)। दक्षिण दिशा में सीता की खोज में गया हुआ वानर-दल जब हताश होकर समुद्र के किनारे बैठा हुआ था, तब सपाति ने पर्वत-गुफा में से निकलकर जटायु के भाई के रूप में अपना परिचय दिया था। अपने दिवगत भाई के पितरो को सपाति ने जला-जलि भी अर्पित की थी,[2] जिससे सूचित होता है कि गृध्र-जाति ने आर्यों की धार्मिक रीतियो को अपना लिया था। जटायु ने राम के प्रति प्राणियो की उत्पत्ति का वर्णन किया था (३।१४।६-३३) और सपाति ने वानरो को पक्षियो के विविध भेद बताये थे (४।५८।२४-७)। इन वर्णनो के अध्ययन से प्रतीकवाद (टोटे-मिज्म) की उत्पत्ति तथा उसके भेदो के सबध में कुछ सकेत मिल सकते है।

राम और लक्ष्मण सीता की खोज करते-करते शबरी नामक तपस्विनी के आश्रम में जा पहुचे थे, जो सभवत पपा-सरोवर के किनारे रहनेवाली शबर-जाति की स्त्री थी। इस जाति के लोग प्राय बहेलिये और शिकारी हुआ करते थे। आधुनिक समय में शबरो का प्रतिनिधित्व मध्य प्रदेश की पहाडियो में निवास करनेवाली इसी नाम की एक जाति करती है।[3] शबरी की कथा एक ऐसी अनार्य-जाति की कथा है, जो आर्यों की सस्कृति से पूर्णतया प्रभावित हो चुकी थी। इसकी पुष्टि शबरी के आश्रम तथा राम-लक्ष्मण के प्रति उसके अतिथि-सत्कार के वर्णनो से होती है। वाल्मीकि ने शबरी को 'श्रमणी' की सज्ञा दी है। पवित्र और सयत जीवन व्यतीत करनेवाली उस साध्वी तपस्विनी ने आर्यो के राजकुमार का कृपा-भाजन बनकर अपने को धन्य समझा (३।७४)।

---

१. उवाच वत्स मा विद्धि वयस्य पितुरात्मन। ३।१४।३

२. तत कृतोदक स्नात त गृध्र हरियूथपा। ४।६०।१

३. एस० वी० विश्वनाथ—'रेशियल सिथेसिस आफ हिंदू कल्चर', पृ० ८६

चित्र १—यक्षिणी (पटना, मौर्य-काल, चौथी-तीसरी शताब्दी ई०पू०)

यक्ष-जाति राक्षसो की ही समकालीन थी, पर संख्या और प्रभाव की दृष्टि से उसका महत्व नगण्य था। यक्ष अपने असाधारण सौदर्य और शारीरिक बल के लिए प्रसिद्ध थे। विकराल राक्षसी बनने से पहले ताटका एक सुदर और शक्ति-शाली यक्षिणी थी (१।२५।७-८)। यक्ष और राक्षस सभवत सजातीय थे। दोनो के बीच वैवाहिक सबधों के भी उदाहरण मिलते हैं। यक्षो के राजा कुबेर रावण के सौतेले भाई थे और दोनो विश्रवा मुनि की सतान थे। किंतु रावण ने साम्राज्यवादी महत्वाकाक्षाओ से प्रेरित होकर यक्षों के साथ शत्रुता ठान ली। लंका मूलत कुबेर की राजधानी थी। प्रारभ मे ये दोनो जातिया दक्षिण भारत मे निवास करती थी, जहा से यक्षो को उनके क्रूर बधुओ ने धीरे-धीरे उत्तर की ओर खदेड दिया।[1] बाद के सस्कृत ग्रथो में यक्षों को देव-योनि के अंतर्गत माना गया है।

यक्षो की एक और समकालीन जाति सर्प-चिह्नवाले नागो की थी।

१. चिंतामण विनायक वैद्य—'दि रिडिल आफ दि रामायण', पृ० ९९

यह भी दक्षिण भारत में पनपी थी। नागो ने लका के कुछ भागो पर ही नही, वरन् प्राचीन मलाबार प्रदेश पर भी अधिकार जमा रखा था। स्पष्टत यह एक समुद्री जाति थी। रामायण में सुरसा को नागो की माता और समुद्र को उनका अधिष्ठान बताया गया है।[१] महेद्र और मैनाक पर्वतो की गुफाओ में भी नाग निवास करते थे। हनुमान द्वारा समुद्र लाघने की घटना को नागो ने प्रत्यक्ष देखा था।[२] नागो की स्त्रिया अपनी सुदरता के लिए प्रसिद्ध थी।[३] रावण ने कई नाग-कन्याओ का अपहरण किया था।[४] नागो की राजधानी भोगवती नगरी पर आक्रमण करके उसने वासुकि, तक्षक, शख और जटी नामक प्रमुख नागो को परास्त किया था।[५] कालांतर में नाग-जाति चेर-जाति मे विलीन हो गई, जो ईस्वी सन के प्रारभ में प्रभुत्व-सपन्न हुई थी।[६]

जहा तक असुरो का प्रश्न है, रामायण में उनको और राक्षसो को पृथक-पृथक माना गया है, यद्यपि बाद के पुराणो में दोनो की एक ही जाति बताया गया है। असुरो की माता का नाम दिति था, जो देवो की माता अदिति की सौत थी। असुर लोग ऋषि-मुनियो के द्वेषी, मास-भक्षी और ब्रह्म-हत्यारे थे। वातापि और इल्वल उनके मुखिया थे, जो अगस्त्य के हाथो मारे गए (३।११)। दडकारण्य के ऋषियो ने असुरो को मारने के लिए राम से प्रार्थना की थी।[७] वाल्मीकि ने असुरो को पाताल के निवासी और अधर्म के पोषक के रूप में अकित किया है।[८]

१. सुरसां नागमातरम्। ५।१।१३७; भुजगा सागरंगमा। ५।१।७३
२. नागाश्च तुष्टुवु . . प्रेक्ष्य सर्वे कपिवर सहसा विगतक्लमम्। ५।१।८४
३. नागकन्या वरारोहा. पूर्णचन्द्रनिभानना.। दृष्टा हनुमता तत्र . . .॥ ५।१२।२१
४. प्रमथ्य राक्षसेन्द्रेण नागकन्या बलाद्धृता। ५।१२।१२
५ देखिए ७।२३।५; ६।७।९; ३।३२।१४
६. वी० आर० रामचद्र दीक्षितार—'साउथ इंडिया इन दि रामायण' (सप्तम ओरिएटल कान्फरेंस का विवरण, १९३३)
७. वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरै. सह। ऋषयोऽभ्यागमन्सर्वे वधाया-सुररक्षसाम्॥ १।१।४३-४
८. त्वमिहासुरसघाना देवराज्ञा महात्मना। पातालनिलयाना हि परिघ. सनि-वेशित॥ ५।१।९२; अधर्मो रक्षसा पक्षो ह्यसुराणा च राक्षस। ४।३५।१३

देवो और राक्षसो दोनो से असुरो की अनबन रहती थी। दशरथ ने एक बार दंडकारण्य मे जाकर असुरो पर धावा बोला था, जिसमें अपने प्राण बचाने के लिए उन्होने कैकेयी को दो वर दिये थे (२।९।११-७)। जब हनुमान के मारने पर रावण अचेत होकर गिर पडा, तब असुर बडे प्रसन्न हुए थे।[1] देवो के सौतेले भाई होने के कारण असुर भी आर्य-श्रेणी में गिने जा सकते है।

उपर्युक्त जातियो के अतिरिक्त रामायण मे देवो, गधर्वो, चारणो, सिद्धों, किन्नरो और अप्सराओ की भी चर्चा आती है। जब कभी कवि किसी आश्चर्यजनक घटना को देखने के लिए इकट्ठे हुए जन-समूह का आभास कराना चाहता है, तब वह इन जातियो का सामूहिक रूप से उल्लेख करता है। देवो को जहा स्वर्ग के देवता माना गया है, वहा वे पृथ्वी पर रहते हुए तथा पार्थिव रमणियो के प्रति आकृष्ट होते हुए भी पाये जाते है। आर्यो के यज्ञो मे देवो का एक भाग नियत रहता था। राक्षस उनके चिर शत्रु थे और वे प्राय राक्षसो के विनाश का उपाय ढूढने मे ही व्यस्त दीख पडते है।

चित्र २—गंधर्व (शितन्नवाशल गुहा-मदिर का एक भित्ति-चित्र, पल्लव, सातवीं शताब्दी ई०)

गधर्व लोग अलौकिक सगीतज्ञो के रूप में समादत थे। गधर्वों के गीतों,

---

१. विसंज्ञ रावणं दृष्ट्वा समरे भीमविक्रमम्। ऋषयो वानराश्चैव नेदुर्देवाश्च सासुराः॥ ६।५९।११५-६

अप्सराओ के नृत्यो और पुष्पो की वृष्टि के विना किसी भी समारोह का वर्णन कवि की दृष्टि में मानो सभव ही नही। किन्नर एक स्त्रैण जाति थी, जो सदा शृगारिक गीतो और क्रीडाओ मे मग्न रहती थी । सिद्धो और चारणो को वाल्मीकि ने अतरिक्ष के निवासी वताया है, जो वीरतापूर्ण कृत्यो के सपादन पर प्रशसा की बौछार किया करते थे।

रामायण मे अप्सराओ का वारवार उल्लेख आता है । सच पूछा जाय तो वे गणिकाओ या वारागनाओ से भिन्न नही थी और प्रतीत होता है, उनके सौंदर्य एव विशिष्ट आकर्षणो के कारण समाज उन्हें स्वर्ग की मुदरिया समझने लगा। पौराणिक दृष्टि से अप्सराओ की उत्पत्ति समुद्र-मथन से हुई, पर यह उल्लेखनीय है कि उनको न देव और न दानव ही पत्नी-रूप में ग्रहण करने को तैयार हुए, जिससे वे साधारणा' (सवके लिए सुलभ) स्त्रिया वन गई—

न ता स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवा ।
अप्रतिग्रहणादेव ता वै साधारणा स्मृता ॥१।४५।३५

रावण द्वारा अनेक अप्सराओ के उपभोग का वर्णन आता है । कही कोई अप्सरा एकाधिक देवो के प्रति अनुरक्त पाई जाती है तो कही कोई देव एकाधिक अप्सराओ का प्रेम पाने को व्याकुल दिखाई पडता है।[1] अप्सराओ की वेश्या-वृत्ति रभा-रावण-प्रसग से भी सिद्ध होती है, जिसमे रावण कहता है कि अप्सराओ के कोई पति नही होता—**पतिरप्सरसां नास्ति** (७।२६।४०)। पौराणिक मान्यता के अनुसार, जब कोई शूरवीर युद्ध-क्षेत्र मे प्राण त्याग कर इद्रलोक पहुचता, तव

चित्र ३—नृत्यशील अप्सरा (शितन्नवाशल गुहा-मदिर का एक भित्ति-चित्र, पल्लव, सातवीं शताब्दी ई०)

---

१. उदाहरणार्थ, मित्र की तृप्ति के लिए जाती हुई उर्वशी से वरुण प्रणय-याचना करते है (७।५६।१५-६); सुराणा न चैकस्त्रीपरिग्रह । ७।२६।४०

अप्सराए उसका स्वागत एव मनोरजन करती थी।[1] ऋषि-मुनियो के सयम को भग करने के लिए वे पृथ्वी पर भी उतरती थी और उन्हे अनवरत तपस्या से होनेवाले पुण्य से वचित कर देती थी। अप्सराए नृत्य-गान में विशेष दक्ष होती थी, जिनके बल पर वे ससारी प्राणियो के चित्त को लुभाया करती थी।

१. रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद । नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥ ४।२०।१३; न ह्येष उच्चावचताम्रचूडा विचित्रवेषाप्सरसोऽभजिष्यत् । ४।२४।३४

: ३ :

राक्षस

वाल्मीकि ने मुख्यत उत्तरी भारत की आर्य-सभ्यता का चित्रण किया है। प्रसगवश उन्होने ऐसी अन्य जातियो की सस्कृति पर भी प्रकाश डाला है, जिनके सपर्क में आर्य लोग दक्षिण की ओर वढते समय आये थे। ये जातिया धन-वैभव में बढी-चढी होने पर भी वास्तव में भारत की आदिम जातिया थी, जो आर्यो का सहयोग अथवा विरोध करने के कारण दिव्य अथवा दुष्ट योनिया वन गई।[१] इन्हें भारत की मूल द्रविड जातिया माना जा सकता है, जिन्होने अपने पृथक राज्य स्थापित कर लिये और जिनकी अपनी पृथक सस्कृति और राज्य-व्यवस्था थी। इन जातियो में मुख्य रूप से उल्लेखनीय राक्षस और वानर है। इनके अतिरिक्त आध्र, पुड्र, चोल, पाडच और केरल-जैसे राज्यो का भी उल्लेख आता है (४।४१।१२), पर इनके बारे में विस्तृत जानकारी नही मिलती, जिसका कारण सभवत यह था कि कवि लका जानेवाले एक मार्ग-विशेष का वर्णन कर रहा था और इसलिए इन राज्यो की विस्तार से चर्चा करने का उसे अवसर ही नही था।[२]

राजनीतिक दृष्टि से वाल्मीकि-रामायण में राक्षसो और आर्यो के पारस्परिक सघर्ष का सर्वप्रथम विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इस नाते उसमें राक्षसी सभ्यता का भी अपेक्षाकृत विस्तार से वर्णन आ गया है। यो तो महाभारत और पुराणो में भी राक्षसो का उल्लेख हुआ है, किंतु सास्कृतिक दृष्टि से वह विशेष महत्वपूर्ण नही, क्योकि उनके समय में राक्षसो की शक्ति अस्तोन्मुख अथवा लुप्तप्राय हो चुकी थी। यह तो रामायण का ही युग था, जिसमें राक्षसो की चरम उन्नति और चरम अवनति दोनो लक्षित होती है और इसीलिए वाल्मीकि-कृत राक्षसो के वर्णन का अपना विशेष महत्व है।

---

१. चिंतामण विनायक वैद्य—'दि रिडिल आफ दि रामायण', पृ० ९४

२. वी० आर० रामचद्र दीक्षितार—'साउथ इडिया इन दि रामायण' (सप्तम् ओरिएटल कान्फरेंस का विवरण, १९३३)

रामायण मे राक्षसो की तीन शाखाओ का स्पष्ट रूप से पता चलता है, जिनमें प्रत्येक का अपना अलग वंश था, यद्यपि ये सभी राक्षसो के सामान्य नाम से जानी-पहचानी जाती थी। इनमे से पहली विराध-शाखा थी, जो दडकारण्य के उत्तरी भाग में रहती थी। इस शाखा का मुंखिया विराध नामक राक्षस था, जिसके कथनानुसार जव और शतह्रदा उसके पूर्वज थे। विराध की आकृति बडी भयानक थी। राम-लक्ष्मण के हाथो उसका वध हुआ था (३।२-३)। राक्षसो की दूसरी शाखा दनु की सतति होने के कारण दानवो के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा का प्रतिनिधि कवध राक्षस था। उसकी आकृति बडी विचित्र थी, उसके भुजपाश में आनेवाला प्रत्येक प्राणी उसका आहार वन जाता था। उसकी मृत्यु होने पर लक्ष्मण ने उसका शव एक गड्ढे मे डालकर जला दिया था (३।६९-७२)। रावण ने दानवो के कई सरदारो का वध किया था (**हन्तारं दानवेन्द्राणाम्**)। राक्षसो की इन दो शाखाओ के बारे में, उनके अतिम सस्कारो के अतिरिक्त, और कोई जानकारी नही दी गई है। तीसरी शाखा, जो 'राक्षस' अथवा 'रक्ष' के नाम से विख्यात थी, सबसे अधिक क्रूर और शक्तिशाली थी। उसके अंतर्गत लका के निवासी गिने जाते थे, जो पुलस्त्य और दिति के वशज रावण के अधीन थे। लका के राक्षसो का वाल्मीकि ने, विशेषत सुदरकाड मे, विस्तार से वर्णन किया है, जिसके अध्ययन से उनके सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विविध पक्षो का स्पष्ट परिचय मिल सकता है।

उत्तरकाड (सर्ग ४-११) मे महर्षि अगस्त्य ने राक्षसो की उत्पत्ति और उनके विस्तार का इस प्रकार वर्णन किया है—प्रजापति ब्रह्मा ने जल की सृष्टि करके उसकी रक्षा के लिए प्राणियो की उत्पत्ति की। इनमे से कुछ, जो क्षुधा-पीडित थे, वोल उठे—"हम रक्षा करेगे" (**रक्षाम**), और दूसरे, जो भूखे नही थे, वोले—"हम यज्ञ करेगे" (**यक्षाम**)। ब्रह्मा ने इन दोनो प्रकार के प्राणियो को क्रमश राक्षस और यक्ष की सज्ञा दी।

राक्षसो के वश मे विद्युत्केश नामक एक यशस्वी राजा हुआ, जिसने सध्या की पुत्री सालकटकटा से विवाह किया। उसके सुकेश नामक एक पुत्र हुआ, जिसके पैदा होते ही कामोन्मत्त सालकटकटा ने उसे त्याग दिया। शिव-पार्वती ने कृपापूर्वक सुकेश की रक्षा की तथा उसे दीर्घ जीवन और एक आकाशगामी विमान प्रदान किया। सुकेश के तीन पुत्र हुए—माल्यवान, सुमाली और माली। वडे होकर ये तीनो क्रूर और दुर्धर्ष वीर निकले। उन्होने सुरो और असुरो दोनो को परास्त करके

भगा दिया। फिर वे अपने साथियो को लेकर लका के दुर्भेद्य दुर्ग मे जा वसे। राक्षसो के उत्पात से पीडित होकर देवो ने विष्णु से सहायता की याचना की। विष्णु ने राक्षसो को मार भगाया। तव वे अपनी स्त्रियो और अपने अनुयायियो-सहित लका छोडकर रसातल में सालकटकटा-जाति के वीच वस गए।

कुछ समय वाद सुमाली रसातल छोडकर भारत के मैदानी भाग में आया, जहा उसकी पुत्री कैकसी ने सायकाल की वेला में विश्रवा मुनि से सतान की याचना की। तत्पश्चात कैकसी ने काजल-जैसे काले रावण, विशालकाय कुभकर्ण, विकराल शूर्पणखा और धर्मात्मा विभीषण को जन्म दिया। रावण और कुभकर्ण वचपन से ही अत्याचारी थे, पर विभीषण सदा धर्म में स्थित रहते, स्वाध्याय करते और सयमित जीवन व्यतीत करते थे। रावण ने दीर्घ समय तक कठोर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे अजेय होने का वर प्रदान किया। अपने नाना सुमाली से उकसाये जाने पर रावण ने कुबेर को लका छोडने के लिए विवश कर दिया और तब से लका राक्षस-साम्राज्य की राजधानी बन गई। रावण के शासन-काल मे राक्षसो ने अपनी पाशविक शक्ति और प्रचुर साधनो के वल पर भारतीय प्रायद्वीप के समुद्री भागो पर अधिकार स्थापित कर लिया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लका-विजय से पहले राक्षसो के राजनीतिक इतिहास में कई उतार-चढाव आ चुके थे। उनकी उत्पत्ति के पौराणिक वर्णन से यह अनुमान होता है कि वे समुद्र-तट के निवासी और जलीय प्रदेशो के सरक्षक थे। यक्षो की तुलना में वे पेटू और अभक्ष्यभक्षी थे। उनका प्रधान निवास-स्थान भारत का दक्षिणी समुद्री किनारा और लका-द्वीप था। इस जाति के कुछ अवशेष आज भी अडमान, वोर्नियो, सुद तथा भारतीय महासागर के अन्य द्वीपो मे पाये जाते है। यह भी उल्लेख्य है कि रावण मातृ-पक्ष की ओर से सालकटकटा के वश में उत्पन्न हुआ था। श्री चिंतामण विनायक वैद्य के अनुसार इस नाम में निस्सदेह एक आदि-वासीपन झलकता है और यह माना जा सकता है कि इस नाम की एक नर-भक्षक जाति राम से पूर्व ही लका में रहती थी।[१]

लका-दुर्ग को हस्तगत करके रावण त्रैलोक्य-विजय की महत्वाकाक्षा से अपनी सेना लेकर निकल पडा और उसने भूमडल के समस्त ज्ञात भागो में लूटमार

---

१. 'दि रिडिल आफ दि रामायण', पृ० ९९-१००

का भयकर आतक मचा दिया। एक अजेय धनुर्धर के रूप मे उसका सर्वत्र लोहा माना जाने लगा। एक नगर से दूसरे नगर को वह कूच करता और वहा के राजाओ को चुनौती देता कि या तो मुझसे लडाई मोल लो या अपनी हार स्वीकार करो—

युद्धं मे दीयतामिति
निर्जिताः स्मेति वा ब्रूत। ७।१९।२

रावण ने अपने साम्राज्यवादी अभियान का आरम्भ यक्षो पर प्रबल आक्रमण करके किया। उन्हे जीतकर उसने कुबेर को द्वद्व-युद्ध मे परास्त किया और युद्ध की लूट के रूप मे उनका विख्यात पुष्पक-विमान छीन लिया। मनुष्य-लोक को अधीन करके रावण ने यमपुरी पर आक्रमण किया और फिर रसातल की ओर अपना विमान मोडकर वह समुद्र के ऊपर से निकला। मार्ग में उसने वासुकि की राजधानी भोगवती को सर किया। तत्पश्चात वह निवातकवच् की मणिन्मयी मे पहुचा, किंतु प्रारभिक युद्ध के बाद, ब्रह्मा के हस्तक्षेप करने पर, उसने उससे सधि कर ली। फिर कालिय दैत्य के अश्मनगर मे पहुचकर उसे अपने अधीन किया। अत मे वह अपना विमान क्षीरसागर के तट पर स्थित वरुणालय पर ले गया। वरुण-पुत्रो को पराजित कर वह उसी मार्ग से लका लौट गया जिससे वह आया था। पाताल-लोक पर रावण का यह धुआधार हमला शीघ्रता, आकस्मिकता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से एक आधुनिक हवाई आक्रमण के समान जान पडता है।

इसके बाद रावण ने इद्रलोक जीतने की ठानी। अपने बहनोई मधु के साथ उसने सुरलोक पर धावा बोला। देवो और राक्षसो के बीच एक घमासान युद्ध हुआ। रावण के पुत्र मेघनाद ने छद्म युद्ध करके देव-सेना में भीषण आतक मचा दिया और देवराज इद्र की धरपकड कर ली। इस घटना से रावण का नाम समस्त भूमडल पर भय-मिश्रित आदर के साथ लिया जाने लगा। ब्रह्मा के बीच-बचाव करने पर ही देवराज मुक्त हो सके।

अनार्यो में वानरराज वाली एक-मात्र ऐसा व्यक्ति था, जिसने साम्राज्यवादी रावण का सफलता से मुकाबला किया। कहते है कि वाली ने रावण को अपनी बगल मे दबोचकर पशु की भाति चारो समुद्रो तक घुमाया था (**येनाह पशुवद्गृह्य भ्रमितश्चतुरोऽर्णवान्, ७।३४।४०**)। रावण ने अपने प्रतिद्वद्वी का लोहा मानकर उससे सधि कर ली। अतएव राम के समक्ष वाली की यह दर्पोक्ति उचित ही थी कि यदि

आपने मुझसे पहले कहा होता तो मैं आपकी भार्या का अपहरण करनेवाले उस दुरात्मा राक्षस के गले में रस्सी बाधकर उसे ले आता।[1] वस्तुत वाली के अकुश से ही दक्षिण में रावण की साम्राज्य-लिप्सा-नियत्रित रह सकी थी।

राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण राक्षसो और आर्यों का सघर्ष था। सुप्रसिद्ध राम-रावण-युद्ध से पहले भी इन दोनों जातियो के बीच सघर्ष की अनेक घटनाए हो चुकी थी। रसातल-विजय के बाद रावण ने पचवटी के समीप जनस्थान में अपनी उत्तरी सैनिक-चौकी स्थापित की, जहा उसने खर-दूषण के सेनापतित्व में चौदह हजार राक्षसो की सेना रख छोडी थी। यहा से ये लोग गगा-यमुना के मैदान तक धावा बोला करते थे। उत्तरी भारत के कुछ भागो पर राक्षसो ने आधिपत्य भी जमा रखा था। रावण का भतीजा लवणासुर यमुना पर स्थित मधुपुरी (मथुरा) नगरी का शासक था। ताटका और उसके पुत्र मारीच ने, जो रावण के ही सबधी थे, सोन और गगा नदियो के बीच के प्रदेश पर अधिकार कर रखा था, जो उन दिनो 'मलद' और 'करूष' के नाम से ख्यात था। विश्वामित्र के आश्रम में राक्षस लोग उत्पात मचाकर उनका यज्ञ-समारभ भग कर दिया करते थे। बलि को पराजित करने के सकल्प से वामन ने सिद्धाश्रम में तपस्या की थी। ये दोनो आश्रम गगा के उत्तर में अयोध्या और मिथिला के मार्ग में पडते थे। इससे स्पष्ट है कि राक्षस उत्तरी भारत मे कितनी दूर-दूर तक अपना आतक फैलाया करते थे। आर्यावर्त के राजाओ को भी रावण ने नही छोडा। उसका आक्रमण महमूद गजनी और महमूद गोरी के हमलो के समान था, जिनके सामने उत्तर भारत के हिंदू राजा एक-एक करके धराशायी होते गए। केवल माहिष्मती-नरेश कार्तवीर्य अर्जुन के आगे रावण को मुह की खानी पडी। सधि करके उन्हे रावण ने अपने पक्ष मे मिला लिया। अन्य सभी आर्य-नृपति—दुष्यत, सुरथ, गाधि, गय और पुरूरवा—लकेश के समुख नतमस्तक थे। अयोध्या पर भी रावण ने दो बार आक्रमण किया—एक बार अनरण्य के शासन-काल में और दुबारा माधाता के राज्य-काल मे। अनरण्य रावण के हाथो काम आये और माधाता ने राक्षसराज से सधि कर ली। स्वय दशरथ ने यह स्वीकार किया था कि मैं रावण का युद्ध में सामना करने में असमर्थ हू—**न हि शक्तोऽस्मि**

---

१. **मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदय । . राक्षसं च दुरात्मान तव भार्यापहारिणम्। कण्ठ बद्ध्वा प्रदद्या ते निहत रावण रणे॥४।१७।४९-५०**

संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः (१।२०।२०)। इस प्रकार आर्य-प्रभुत्व का गौरवशाली सूर्य रावण के पशु-बल के समक्ष अस्तप्राय हो चुका था। वाल्मीकि कहते हैं कि 'रावण को आते देखकर सूर्य अपनी उष्णता कम कर देता, पवन वेग से नही चलता, समुद्र गर्जन-तर्जन रोक देता, नदिया धीरे-धीरे बहने लगती और पर्वत अपनी कठोरता भूल जाते—रावण की उपस्थिति मे समस्त प्रकृति भय के मारे कुठित-सी हो जाती थी।' किसी व्यक्ति के आतक का इससे बढकर वर्णन और क्या हो सकता है!

राक्षसो और आर्यो की इस शत्रुता का प्रधान कारण उनका एक-दूसरे के क्षेत्रो मे घुसने का प्रयास था। जहा राक्षस अपना राजनीतिक प्रभाव आर्यो के प्रदेशो पर फैलाना चाहते थे, वहा आर्य भी दक्षिण भारत मे अपना विस्तार करने पर तुले हुए थे। दक्षिण की ओर आर्यो के प्रसार में एक बडी बाधा दुर्गम विध्य-पर्वतमाला थी। उसे पार करने का श्रेय अगस्त्य मुनि को मिला, जो दक्षिण में आर्यो की बस्तिया स्थापित करने में अग्रगामी थे। विंध्य के बीहड वनो मे होते हुए वह दक्षिण मे दूर तक चले गए, जनस्थान के निकट गोदावरी के ऊपरी तटो के पास, दडकारण्य मे, उन्होने आर्यो के एक आश्रम-मडल की स्थापना की। अगस्त्य एक तपस्वी होने के साथ-साथ शस्त्रास्त्रो से सपन्न भी थे, उन्होने स्वय राक्षसो से मोर्चा लिया और दक्षिण-प्रदेश को निशाचरो के आतक से मुक्त कर दिया।[1] अगस्त्य का अनुसरण करके अनेक ऋषि-मुनि दक्षिण मे जाकर बस गए और राम के समय में, गोदावरी के उत्तर मे, आर्यो के अनेक समृद्धिशाली आश्रम बने हुए थे। ये आश्रम एक प्रकार से दक्षिण मे आर्य-प्रसार के अग्रिम सनिवेश ही थे।

यो तो आर्यो और राक्षसो के बीच छुटपुट झगड़े देश के कई भागो में होते रहते थ, पर गोदावरी नदी के स्रोत के निकटवाला प्रदेश, जहा आर्यो की बस्ती दडकारण्य और राक्षसो की चौकी जनस्थान पास-पास थी, उनके आपसी संघर्ष का प्रमुख रगमच था। महाराज दशरथ भी कई बार इस मोर्चे पर लडने गए थे। मदाकिनी (चित्रकूट) से लेकर पपा तक के प्रदेश मे राक्षसो ने भीषण उत्पात मचा रखा था।[2]

---

१. निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया। दक्षिणा दिक्कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ॥३।११।८१

२. पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि। चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं महत् ॥३।६।१७

इद्र की पराजय के वाद राक्षसो से जूझने का जो उत्तरदायित्व अगस्त्य पर आ पडा, उसे उन्होने भारत के राजनीतिक गगन मे राम के आविर्भाव के वाद इन्हीको सौंप दिया, और इसमें कोई सदेह नही कि राक्षसो से लोहा लेनेवालो मे राम अपने युग के सर्वश्रेष्ठ आर्य-योद्धा थे। वचपन से ही उन्होने अपने वल-वीर्य और शस्त्रास्त्रो का उपयोग राक्षसी आक्रमणो मे आर्य-ऋषियो की रक्षा करने मे किया, जैसाकि सोलह वर्ष की आयु में उनके विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षार्थ जाने से प्रकट है। अपने वन-वास-काल में जव राम ने दडकारण्य मे प्रवेश किया, तव राक्षसो से त्रस्त वहा के ब्राह्मणो और ऋषि-मुनियो ने उनके आगमन का एक वरदान के रूप में स्वागत किया। राम के साथ रावण के युद्ध का प्रत्यक्ष कारण लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का विरूपीकरण था, जिसमे रावण द्वारा सीता के अपहरण ने मानो आग में घी का काम किया। वास्तव मे यह युद्ध आर्यो और राक्षसो की चिरकालीन शत्रुता की चरम परिणति था, और लका-युद्ध में रावण के वध के वाद भारत की राजनीति में राक्षसो का महत्व सदा के लिए मिट गया।

राक्षसो के रूप-रग के वारे में हमारे वीच परपरा से एक विचित्र धारणा प्रचलित रही है, जिसका वर्णन इतिहास-पुराणो में भी पाया जाता है। उसके अनुसार राक्षस लोग काली-मोटी देह, विखरे वाल, लपलपाती जीभ, पर्वताकार डीलडौल, अगारो के समान आखें, तीखे नख और रोए, टेढे-मेढे दात, डरावनी आगे की ओर निकली हुई ठोढी, फैला हुआ मुह आदि विशेषताओवाले विकराल प्राणी होते थे। कुछ राक्षसो के अग-प्रत्यग कवध की तरह विकृत होते थे—मस्तक-रहित धड, छाती में एक आख, पेट में एक भयकर मुह और दो लवी फैली हुई भुजाए (३।६९।२६-३२)। राक्षसी स्त्रियो की विकरालता भी ऐसी ही रोगटे खडे कर देनेवाली थी। ताटका एक वडे भयानक आकार-प्रकार की स्त्री थी। अयोमुखी कुरूप मुह, लवे पेट, तीखे दात और रूखी त्वचावाली महाकाय राक्षसी थी। रावण ने सीता को डराने के लिए उनके चारो ओर भयानक राक्षसिया तैनात कर रखी थी।

किंतु रामायण में ऐसे स्थल अपेक्षाकृत कम ही है, जिनमें राक्षसो की विकरालता या कुरूपता का आग्रह किया गया हो, अन्यथा वे प्राय सामान्य मनुष्यो की तरह ही चित्रित किये गए है। राक्षसो को भयानक या विकराल सभवत इसलिए वताया गया कि वे आर्य-जाति के जन्मजात और वशगत शत्रु थे। ग्रिफिथ

महोदय के अनुसार 'रामायणकार ने राक्षसो का संबोधन एक विरोधी और घृणास्पद जाति के लिए किया है और यह नाम विशुद्ध ऐतिहासिक न होकर मात्र घृणा का सूचक है, ससार की सभी जातियो की पौराणिक कथाओ मे दैत्य और पिशाच भयानक और अप्राकृतिक रूपवाले वर्णित किये गए है।' सीता पर पहरा देनेवाली विकराल राक्षसियो के वर्णन से यह सूचित होता है कि रावण ने अपने यहा कुरूप आकृतिवाली स्त्रिया रख छोडी थी।[1] ऐसी भद्दी औरतो से लगातार घिरे रहने के कारण बेचारी सीता के मन पर उनका आतक जम गया होगा। अत कोई आश्चर्य नही यदि आगे चलकर राक्षसो और राक्षसियो की कुरूपता के बारे मे एक अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा प्रचलित हो गई हो।

इतना तो निश्चित है कि राक्षस-जाति के लोग बडे बलशाली, कद में ऊचे और भारी-भरकम शरीरवाले होते थे। उनका रूप-रग अवश्य ही काला-कलूटा रहा होगा, जैसाकि आज भी दक्षिण भारत के अधिकाश निवासियो का पाया जाता है। वाल्मीकि ने अनेक स्थलो पर आर्यो के गौर वर्ण की तुलना में राक्षसो के कृष्ण वर्ण का उपमापूर्ण वर्णन किया है।[2] फिर भी सभी राक्षस भद्दे या कुरूप नही थे। उनके अग-प्रत्यग नियमित और सुदर-सुडौल भी होते थे। रात्रि के समय लका में विचरण करते हुए हनुमान को सुरूप और कुरूप दोनो प्रकार के नर-नारी दिखाई पडे थे (**विरूपान् बहुरूपाश्च सुरूपांश्च सुवर्चस**, ५।२।२०)। रावण की पटरानी मदोदरी एक 'चारुरूपिणी, गौरी, कनकवर्णा' सुदरी थी (५।१०।५२), जिसकी ओर हनुमान का ध्यान हठात आकृष्ट हो गया था। स्वय रावण का व्यक्तित्व बडा भव्य और सुदर था (६।११।३४-६)।

राक्षसो के सामान्य मनुष्य होने का प्रमाण युद्धकाड मे मिलता है, जहा राम वानरो से कहते है कि तुम लोगो मे से कोई भी मनुष्य का रूप धारण करके

---

१. इसी प्रकार कैकेयी के महल में भी विरूप, कुबडी और नाटी स्त्रियां रखी गई थी—कुब्जावामनिकायुतम्। २।१०।१३

२. उदाहरणार्थ—सा हेमवर्णा नीलांग मैथिली राक्षसाधिपम्। शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नील गजमिवाश्रिता ॥३।५२।२३; अर्थात सोने के समान रगवाली सीता काले-कलूटे रावण को वैसे ही सुशोभित कर रही थीं, जैसे काले हाथी को सोने की करधनी।

न लडे, जिससे हमारे पक्ष मे (मैं, लक्ष्मण तथा विभीषण और उनके चार अनुयायी इन्हें मिलाकर) कुल सात मनुष्य होगे और तुम इनके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य को नि.शक होकर मृत्यु के घाट उतार सकते हो।[1] इससे यह ध्वनित होता है कि विभीषण और उनके समान रावण की ओर के सभी राक्षस मनुष्य-रूप थे। हनुमान का रावण की राक्षसी पत्नी मदोदरी को सीता समझ लेना इस बात का प्रमाण है कि राक्षसो और सामान्य मनुष्यो की आकृतियो में कोई अंतर नहीं था।

जन-मानस और कला के क्षेत्र में रावण के विषय में यह धारणा रूढ हो गई है कि वह 'दशानन' (दस मुहवाला), 'दशशीर्ष' (दस सिरोवाला), 'दशग्रीव' (दस गर्दनोवाला) तथा 'विंशतिभुज' (बीस भुजाओवाला) एक विचित्र व्यक्ति था। प्रस्तर-कला के प्राचीन नमूनो में रावण के अनेक सिर और हाथ प्रदर्शित किये गए है। दस मुहवाला कोई भी विकृत मानव-चित्र रावण मान लिया जाता है। यद्यपि वाल्मीकि-रामायण में (उत्तरकाड को छोडकर) कुछ स्थलो पर रावण के इस विकृत स्वरूप की पुष्टि होती है, तथापि अनेकानेक स्थलो पर इसका विरोध भी मिलता है, और वह एक सिर, एक गर्दन, दो हाथ और दो आखोवाले सामान्य मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है।

जब हनुमान ने रावण को लका में पहले-पहल देखा, तब वह अपने अत पुर मे सोया हुआ था। रावण की दोनो भुजाए इद्रध्वज के समान फैली हुई थी। हनुमान को रावण का एक ही बडा मुह और एक ही बडा चेहरा दिखाई दिया। इस वर्णन में वाल्मीकि ने भुजाओ के लिए द्विवचन तथा मुह के लिए एकवचन प्रयुक्त किया है।[2] राक्षसो के सबध में यह मान्यता प्रचलित है कि वे सोते समय और मरने के बाद अपने असली रूप में आ जाते है। क्योकि हनुमान ने रावण को सोते हुए पाया था, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि रावण ने इस समय कोई छद्म रूप धारण कर लिया था।

---

१. न चैव मानुष रूप कार्यं हरिभिराहवे। वय तु मानुषेणैव सप्त योत्स्यामहे परान्॥ अहमेव सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन महौजसा। आत्मना पचमश्चायं सखा मम विभीषण. ॥६।३७।३३-५

२. विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ। ५।१०।१५; तस्य राक्षसराजस्य निश्चक्राम महामुखात्। ५।१०।२४; कुण्डलोज्ज्वलिताननम्। ५।१०।२५

उक्त स्थल की टीका करते हुए तिलक टीकाकार ने लिखा है कि क्योंकि यहा कवि रावण की दो भुजाओ का उल्लेख करता है, अत यह समझना चाहिए कि युद्ध के समय वह दस सिर और बीस भुजाए धारण कर लेता था।[1] किंतु हम देखेंगे कि इसका प्रमाण भी प्राय नही मिलता।

रावण के अनुचित प्रेम-प्रस्ताव करने पर सीता ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा था—"अनार्य, मुझ पर दृष्टि डालते हुए तेरी ये दोनो क्रूर और विकारयुक्त काली-पीली आखें निकलकर पृथ्वी पर क्यो नही गिर पडती ?"—

इमे ते नयने क्रूरे विकृते कृष्णपिंगले।
क्षितौ न पतिते कस्मान्मामनार्य निरीक्षतः ॥५।२२।१८

(यहा आखो के लिए द्विवचन प्रयुक्त हुआ है और बाद के श्लोको में भी उसकी पुनरावृत्ति हुई है।) तब रावण ने सीता की ओर आखें तरेरकर देखा और मदर पर्वत के समान अपनी दोनो विशाल परिपूर्ण बाहें फैलाकर वह गर्व से खडा हो गया (५। २२। १७)। जब सीता की राक्षसी पहरेदारनियो ने जाकर रावण को सूचना दी कि हनुमान ने अशोकवाटिका का विध्वस कर डाला है, तब रावण प्रज्वलित चिता की भाति क्रोध से जल उठा और उसके दोनो क्रुद्ध नेत्रो से आसू की बूदें वैसे ही टपकने लगी जैसे दो जलते हुए दीपको में से तेल की बूदे गिरती हो—

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुबिन्दवः।
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ॥५।४२।२३

टीकाकार का यह कथन कि युद्ध-क्षेत्र में रावण दस सिर और बीस भुजाओं-वाला बन जाता था, युद्धकाड से प्रमाणित नही होता। जब रावण आक्रमणकारियो का मुकाबला करने लका-दुर्ग से निकला, तब कवि ने उसका आलकारिक वर्णन किया है, उसमे उसके अनेक सिर-हाथ होने का कोई उल्लेख नही है। सुग्रीव के साथ द्वद्व-युद्ध करते समय रावण ने अपने दोनो बाहुओ से उसे उठाकर जमीन पर पटक दिया था (**बाहुभ्यामाक्षिपत्तले**, ६। ४०। १३)। उस समय रावण ने एक ही मुकुट पहन रखा था। राम के साथ अतिम बार युद्ध करने जाते समय रावण की बाईं

---

१. अत्र द्विभुजत्वकथनाद्युद्धादिकाल एव विंशतिभुजत्वं दशशीर्षत्वं चेति बोध्यम्। ५।१०।२१ पर तिलक-टीका।

आख और बाई बाह फडकने लगी थी।[1] राम ने रावण के चमकते मुकुट से सुशोभित सिर को काट डाला। वर्णन आता है कि उसकी जगह एक दूसरा सिर उग आया। वह भी काट डाला गया। इस प्रकार सौ सिर उगे और कटे, पर सर्वत्र सिर के लिए एकवचन का प्रयोग हुआ है (६।१०७।५४-७)।

रावण की मृत्यु के बाद विभीषण ने विलाप करते हुए अपने भाई की दो लबी बाहो और एक ही मुकुट का उल्लेख किया था। इसी अवसर पर मदोदरी ने विलाप करते हुए रावण के सुदर मुख का इस प्रकार वर्णन किया—"आपका मुखमडल दो सुदर भौहो, एक ऊची नाक और दमकते हुए कुडलो से युक्त तथा किरीट के प्रकाश से चमकता रहता था। जब आप मधुशाला में मदोन्मत्त हो जाते थे,तब आपकी आखें नशे के कारण कैसी चचल और व्याकुल मालूम होती थी तथा आपके अधरो पर कैसी मोहक मुसकान नाच उठती थी। वही आपका मुख आज राम के बाणो से घायल होकर सुदर नही प्रतीत होता" (६।१११।३४-६)। इस समस्त वर्णन में यथास्थान एकवचन और द्विवचन का ही प्रयोग हुआ है।

रामायण में दो महत्वपूर्ण स्थलो पर रावण को दस सिर और बीस भुजाओ-वाला बताया गया है। पचवटी में सीता को डराने के लिए रावण भिक्षु का रूप त्याग कर दस सिर और बीस भुजाओ से युक्त महाकाय निशाचर बन गया था (३।४९।१,८)। इसी प्रकार जब हनुमान बदी के रूप में राक्षस-दरबार में लाये गए, तब वहा उन्होने रावण को मदर पर्वत के शिखरो के समान दस सिरो तथा चदन-चर्चित भुजाओ से सुशोभित पाया था (५।४९।६,८)। इसकी टीका में भी तिलक टीकाकार ने लिखा है कि हनुमान के देखने पर रावण ने वैसा ही भीषण रूप धारण कर लिया होगा, जैसा वह युद्ध में करता था। किंतु हम देख चुके है कि रावण ऐसा नही करता था। रामायण में रावण के एक ही सिर और दो हाथ होने के जो प्रचुर प्रमाण मिलते है, उनके सामने उपर्युक्त दोनो स्थलो का विरोध असगत और अप्रामाणिक जान पडता है।

तब फिर रावण दस सिरोवाला कैसे बना? वास्तव में रामायण में रावण के लिए 'दशानन' और 'दशग्रीव' शब्द स्थायी सबोधनों के रूप में व्यवहृत हुए है। उनका शाब्दिक अर्थ लगाकर रावण को अनेक सिरोवाला सिद्ध करने की चेष्टा

---

१. नयनं चास्फुरद्वामं वामो बाहुरकम्पत। ६।९५।४५

निराधार है। ये शब्द उसी रूप मे प्रयुक्त हुए है, जिसमें राम के पिता के लिए दशरथ शब्द का उपयोग हुआ है। 'दशरथ' शब्द का यह अर्थ नही किया जा सकता कि राम के पिता के पास केवल दस रथ थे अथवा वह दस रथो पर एक साथ सवारी करते थे। इसका अर्थ यही हो सकता है कि दशरथ के पास सभवत साधारण दस रथों के समान एक महारथ था, या वह दस रथियो की बराबरी के अकेले योद्धा थे, या उनके रथ की दसो दिशाओ मे अबाध गति थी। दशरथ का नाम एक तुलना या उपमा लिये हुए है। इसी प्रकार 'दशग्रीव' या 'दशानन' शब्द भी रूपकात्मक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा इस बात का उदाहरण है कि रूपको या उपमाओ में समय की गति से किस प्रकार अर्थ-भेद हो जाता है और जन-मानस उसके शब्दार्थ को ही वास्तविक अर्थ समझने लगता है।[1] यह सभव है कि अधिकाश बलवान मनुष्यों की भाति रावण का सिर और उसकी गर्दन विशाल और भारी-भरकम हो तथा इस कारण लोग आरभ में उसे 'दशग्रीव' (जिसकी गर्दन दस गर्दनो के समान बडी हो) कहने लगे हो। 'दशानन' या 'दशशीर्ष' का भाव यह है कि उसकी ससार मे दसो दिशाओ मे अप्रतिहत गति थी, अथवा वह दसो दिशाओ की विजय के उपलक्ष्य में अपने सिर पर दस प्रकार के मुकुट या दस मणियोवाला एक किरीट धारण करता था।[2] रावण के इन नामों की विचित्र व्याख्या से यह धारणा प्रचलित हो गई कि रावण के दस सिर, बीस आंखे और बीस बाहें थी। इन नामो का वास्तविक लक्ष्य रावण को एक अजेय और अद्वितीय योद्धा-मात्र घोषित करना है।

राक्षसो की नर-मास-भक्षण की प्रवृत्ति भी उन्हे एक विकृत और कुरूप जाति बनाने मे सहायक हुई। नर-मास के प्रति उनकी बर्बरो की-सी रुचि थी, इसलिए उन्हे बारबार **नरमांसाशिनः** कहा गया है। राक्षसी ताटका के लिए 'पुरुषादी' (मनुष्य-मास-भक्षी) विशेषण प्रयुक्त हुआ है। कहा जाता है कि वह एक बार गरजनी हुई अगस्त्य ऋषि तक को खाने के लिए झपटी थी (१।२५।११)। मारीच राक्षस ऋषियो का मास खाते हुए दडकारण्य मे विचरण किया करता था। जब हनुमान को लका में सीता नही दीख पडी, तब उन्हे शका हुई कि कही रावण या उसकी स्त्रियो ने उन्हे खा न डाला हो (५।१३।११-२)। उत्तरकाड में वर्णन आता है कि

---

१. चि० वि० वैद्य—'दि रिडिल आफ दि रामायण', पृ० १४५-६

२. नवीनचंद्र दास—'ए नोट आन दि एटीक्विटी आफ दि रामायण', पृ० ११

रावण ने कुबेर के दूत को तलवार से काटकर राक्षसो के भक्षणार्थ फेंक दिया था। रावण के अमात्यो ने कार्तवीर्य अर्जुन के अमात्यो को कच्चा ही चवा डाला था। विराध राक्षस को ऋषियो का मास विशेष प्रिय था। सीता की राक्षसी पहरेदारनिया इस आशा में वडी प्रसन्न जान पडती थी कि हमे सुरा के साथ-साथ सीता का मास भी खाने को मिलेगा (५।२४।४४)।

नर-मास के अतिरिक्त राक्षस अन्य सभी प्रकार के मास का भक्षण किया करते थे। 'पिशिताशन' और 'मासाशन' उनके सामान्य विशेषण है। सुदरकाड के ग्यारहवें सर्ग में रावण के भोजन के वर्णन में विविध प्रकार के मास पदार्थ गिनाये गए है।

राक्षस नर और नारी दोनो मदिरा का भरपूर सेवन करते थे। नर-रक्त भी उनका प्रिय पेय था (**मास-शोणित-भोजना.**)। विराध ने राम-लक्ष्मण को धमकी दी थी कि मै तुम दोनो पापियो का खून पीकर रहूगा—**युवयो पापयोश्चाह पास्यामि रुधिर मृधे** (३।२।१४)। शूर्पणखा राम-लक्ष्मण और सीता का खून पीने को व्याकुल थी। गाढी नीद से जगने पर कुभकर्ण छककर रक्त-पान कर सके, इसके लिए पहले से ही खून से भरे हुए घडे तैयार रखे गए थे (६।६०।३३)।

शिष्टाचार और लोक-व्यवहार में राक्षस प्राय आर्यों का ही अनुकरण करते थे। युद्ध-क्षेत्र में जाने से पहले कुभकर्ण ने अपने वडे भाई रावण का आलिगन करके उसकी प्रदक्षिणा की और सिर से अभिवादन किया। जब रावण राम के साथ युद्ध करने पहली वार जाने लगा, तव मत्रो के पवित्र घोष से उसके लिए मगल-कामना की गई।[1] मारीच ने अपने आश्रम में रावण का पाद्य, अर्घ्य, आसन और श्रेष्ठ भक्ष्य-भोज्य पदार्थो से स्वागत किया। राम की शरण में आने पर विभीषण ने समयानुकूल विनम्रता और समान-भावना व्यक्त की थी।

जान पडता है कि राक्षसो मे पितृ-पक्ष से वश चलने की प्रथा नही थी। रावण मातृ-पक्ष से राक्षसो का सम्राट वना था।

राक्षसो में शवो को गाडने का रिवाज प्रचलित था।[2] विराध के शव को

---

१. पुण्यैस्तवैश्चापि सुपूज्यमानस्तदा ययौ राक्षसराजमुख्य ।६।५९।८

२. अवटे चापि मा राम निक्षिप्य कुशली व्रज । रक्षसा गतसत्त्वानामेष धर्म· सनातन· ॥३।४।२२

राम-लक्ष्मण ने एक गड्ढे में डालकर पत्थरो से पाट दिया था। कबध राक्षस का अतिम सस्कार राक्षसो और आर्यों की मिली-जुली पद्धति से किया गया। आर्य-रीति के अनुसार उसके शव को पहले जलाया गया और फिर राक्षस-प्रथानुसार उसके अवशेष जमीन मे गाड दिये गए। साधारण सैनिको के शव रण-भूमि मे गीधो और मासाहारी पशुओ के नोचने के लिए छोड दिये जाते थे। राक्षस शूरवीर प्रायः यह डीग हाका करते थे कि हम अपने शत्रुओ को गीधो की भेट चढायगे।[1]

आर्य-सस्कृति से प्रभावित विभीषण पहले तो राम के इस प्रस्ताव से सहमत नही हुए कि रावण-जैसे त्यक्तधर्मा का अतिम सस्कार आर्य-पद्धति से सपन्न हो। किंतु राम रावण का पितृमेध-सस्कार करके राक्षसो में आर्य-प्रथाए जारी करना चाहते थे। **मरणान्तानि वैराणि** (मृत्यु होने पर वैर समाप्त हो जाता है), यह घोषणा करके वह राक्षसो को आर्यों का मित्र बनाना चाहते थे। उन्होने सोचा होगा कि शव-संस्कार एक महत्वपूर्ण सस्कार है, अत यदि राक्षसराज की दाह-क्रिया वैदिक विधि से कर दी जाय तो सारी राक्षस-जाति आर्यो का धर्म अगीकार कर लेगी। इसलिए राम ने आग्रह करके रावण की अत्येष्टि ब्राह्मी विधि से करवाई, जिसमे द्विजो, याजकों और अध्वर्युओ का सहयोग लिया गया (६।१११।१०३-२३)। विभीषण का राज्याभिषेक भी राम के हाथो वैदिक रीति-से हुआ था **(विधिना मन्त्रदृष्टेन)**। इस प्रकार राक्षसो को आर्य-सभ्यता मे दीक्षित कर लिया गया।

आर्यों की भाति राक्षसो मे भी विवाह-सस्कार अग्नि की दुहाई देकर किया जाता था। रावण ने अग्नि प्रज्वलित करके मदोदरी का पाणिग्रहण किया था। वधू का अपहरण करके विवाह करने की प्रथा, जो बाद मे राक्षस-विवाह कहलाई, राक्षसो मे व्यापक रूप से प्रचलित थी। स्वय रावण की विवाह-योग्य भतीजी कुभीनसी का मधु दैत्य ने अपहरण करके उससे विवाह किया था। प्रतीत होता है कि राक्षस लोग किसी भी स्त्री से—चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित—समागम करने मे अपने को स्वच्छद समझते थे। जब रावण को यह परामर्श दिया गया कि आप सीता का उपभोग करने में कुक्कुट की तरह पाशविक बल का प्रयोग क्यों नही करते,[2] तब उसने कहा कि मै इस विधि का आश्रय नही ले सकता, क्योकि

१. कस्य पत्ररथा कायान् मासमुत्कृत्य संगताः। प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥३।१९।१०

२. बलात्कुक्कुटवृत्तेन प्रवर्तस्व महाबल। ६।१३।४

पुजिकस्थला अप्सरा पर बलात्कार करने के कारण मैं ब्रह्मा के शाप का भागी बन चुका हू । यह आख्यान राक्षसो के अमर्यादित यौन सबधो में एक आवश्यक सुधार का सूचक है । एक तो उपभुक्ता नारी की दयनीय दशा और दूसरे सुसस्कृत आर्य-जाति का आदर्श, इन दोनो ने राक्षसो को इस आवश्यक समाज-सुधार के लिए प्रेरणा दी होगी ।

आर्यों और अनार्यों में परस्पर विवाह-सबध के उदाहरण भी मिलते है । रावण सीता और वेदवती-जैसी आर्य-रमणियो से विवाह करने को इच्छुक था । शूर्पणखा राक्षसी होते हुए भी राम-लक्ष्मण-जैसे विजातियो से विवाह करना चाहती थी । अनेक राजर्षियो, विप्रो, गधर्वों और दैत्यो की कन्याए कामासक्त होकर स्वेच्छा से रावण की पत्निया बन गई थी ।[1]

राक्षसो के धार्मिक कृत्यो में स्वस्त्ययन नाम की मागलिक क्रिया बहुत प्रचलित थी । रावण ने कुभकर्ण और अपने पुत्रो को प्रशस्त आशीर्वचनो के साथ रण-भूमि में भेजा था । विश्व-विजय के लिए विमान पर सवार होने से पहले रावण ने स्वस्त्ययन किया था । अनेक राक्षस-वीरो को स्वस्त्ययन करके युद्ध मे जाते हुए दिखाया गया है—**कृतस्वस्त्ययना सर्वे रणाभिमुखा ययुः** (६।९५।७) ।

आर्यो की भाति राक्षस भी नियमपूर्वक तपस्या करने के अभ्यासी थे, किंतु जहा आर्य-तपस्वी आध्यात्मिक ज्ञान और परलोक-सुधार के लिए तप करते थे, वहां राक्षसो का उद्देश्य भौतिक शक्तिया प्राप्त करना होता था । विराध राक्षस ने तपस्या करके किसी भी शस्त्र से अवध्य बन जाने का वर प्राप्त किया था । तप-श्चरण की अवधि में राक्षस तितिक्षा और सयम के कठोर व्रतो का पालन करते तथा पवित्र, सत्यपरायण और सयत जीवन व्यतीत करते थे । मारीच ने अपने प्रारभिक दुष्कर्मों के बाद मृग-चर्म और जटाओ का तपस्वी बाना पहन लिया था । नियताहार रहकर वह तप करने मे प्रवृत्त हो गया था । हनुमान के अनुसार रावण का तपस्या-जन्य पुण्य इतना अधिक था कि सीता का स्पर्श करने पर भी वह नष्ट नही हुआ ।[2] राक्षसो के विरुद्ध सदा यही शिकायत रहती थी कि वे तपस्या से प्राप्त

१. **राजर्षिविप्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः । रक्षसां चाभवन् कन्यास्तस्य कामवशं गताः ॥५।९।६८**

२. **सर्वथातिप्रकृष्टोऽसौ रावणो राक्षसेश्वरः । यस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम् ॥५।५९।४**

होनेवाली सिद्धियो का उपयोग अधर्माचरण मे करते थे। हा, विभीषण का आचरण इसके सर्वथा विपरीत था। **न तु राक्षसचेष्टितः** कहकर वाल्मीकि ने उन्हे दुर्जनों के बीच एकाकी सज्जन बताया है (५।१७।२२)।

राक्षस यज्ञ-यागादिक का भी अनुष्ठान करते थे, पर इनमे अधिकतर जादू-टोनोवाली (अथर्ववेदीय) क्रियाए होती थी, जिनसे वे अजेय बनने की रहस्यमयी शक्ति पाना चाहते थे। रावण स्वय एक अग्रगण्य याज्ञिक और अग्निहोत्री था; उसके अग्निहोत्र की अग्नि से उसकी चिता प्रज्वलित की गई थी। घनघोर लका-युद्ध के दौरान में इद्रजित ने छद्म शक्ति पाने के लिए एक यज्ञ का समारभ किया था। वाल्मीकि ने उसका जो वर्णन किया है (६।८०।५-१६), उससे स्पष्ट है कि इद्रजित का यज्ञ गीता के अनुसार एक तामस यज्ञ था।

निकुभिला राक्षसो की कुल-देवी थी। लका नगरी में उसके नाम पर एक पृथक उद्यान बना हुआ था।[1] सीता पर पहरा देनेवाली राक्षसिया कहा करती थी कि 'सर्वशोकविनाशिनी' सुरा ले आओ, उसे पीकर और मनुष्य-मास खाकर हम निकुभिला देवी के आगे नृत्य करेगी (**नृत्यामोऽथ निकुम्भिलाम्**, ५।२४।४४)। लका-युद्ध में इद्रजित ने निकुभिला देवी की प्रीत्यर्थ एक यज्ञ किया था।[2] राक्षसो की इस रहस्यमयी देवी के बारे में वाल्मीकि ने कोई निश्चित जानकारी नही दी है।

इन गुप्त और रहस्यमय क्रिया-कलापो के उपासक होते हुए भी राक्षस लोग एक सुशिक्षित जाति थे। वैदिक शिक्षा का उनमे बहुत प्रचार था। लका के भवनों में हनुमान ने वैदिक मत्रो का घोष सुना था और राक्षसो को स्वाध्याय में सलग्न पाया था।[3] रात्रि के चौथे पहर में अशोकवाटिका में उन्हे षडग वेदो के ज्ञाता और यज्ञो का अनुष्ठान करनेवाले ब्रह्मराक्षसो की वेद-ध्वनि सुनाई दी थी।[4]

---

१. **ततो निकुम्भिला नाम लंकोपवनमुत्तमम्। तद्राक्षसेन्द्रो बलवान् प्रविवेश सहानुगः ॥७।२५।२**

२. **निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहुवेन्द्रजित्। ६।८२।२५**

३. **शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै। स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान्ददर्श ह ॥५।४।१३**

४. **षडङ्गवेदविदुषा क्रतुप्रवरयाजिनाम्। शुश्राव ब्रह्मघोषान्स विरात्रे ब्रह्मराक्षसाम् ॥५।१८।२**

रावण के राजमहल की ओर जाते समय विभीषण को अपने भाई के सम्मान में की जानेवाली वैदिक विद्वानो की प्रशस्तिया सुनाई पडी थी,[1] और उन्हें ऐसे वेद-वेत्ता विप्र भी दिखाई पडे थे, जिनका नागरिक लोग उपहारो से समान कर रहे थे।[2]

जनश्रुति के अनुसार रावण महान वैदिक विद्वान था। इसकी पुष्टि रामायण के मौलिक और प्रक्षिप्त दोनो स्थलो से होती है। रावण के शौर्य और शास्त्र-ज्ञान की प्रशसा में तमिल-ग्रथो में भी अनेक उक्तिया मिलती है। कहा जाता है कि स्वर-सहित वेद-पाठ करने की प्रणाली का आविष्कार उसीने किया था। सामवेद के स्तोत्रो से उसने नर्मदा के तीर पर भगवान शकर की आराधना की थी—

तुष्टाव वृषभध्वजम्।
सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशानन ॥७।१६।३३

रावण की मृत्यु पर विलाप करते हुए विभीषण ने अपने भाई को **आहिताग्नि**, **महातपा**. और **वेदान्तग**. बताया था (६।१०९।२३), अर्थात रावण वेदो में निर्दिष्ट अग्नि-पूजा किया करता था, स्वाध्याय और तपस्या का कर्मठ सेवी था तथा वैदिक शिक्षा की चरम सीमा तक पहुच गया था। लका के युद्ध में अपने पुत्रो और बधु-बाधवो को मारे जाते देखकर रावण जब एक बार सीता का वध करने को उद्यत हो गया, तब उसके एक बुद्धिमान सभासद सुपार्श्व ने उसे समझाया कि आप 'वेदविद्याव्रतस्नातक' हैं, तब फिर आप स्त्री-वध करने पर कैसे उतारू हो गए?[3] इसका अर्थ यह हुआ कि रावण ने नियमानुसार किसी आश्रम में रहकर वैदिक शिक्षा का सागोपाग अध्ययन किया, तत्पश्चात वैदिक विधि के अनुसार स्नातक की दीक्षा ली और गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था।

---

१. पुण्यान् पुण्याहघोषाश्च वेदविद्भिरुदाहृतान्। शुश्राव सुमहातेजा भ्रातुर्विजयसश्रितान् ॥६।१०।८

२. पूजितान्दधिपात्रैश्च सर्पिभिः सुमनोक्षतैः। मन्त्रवेदविदो विप्रान् ददर्श स महाबल ॥६।१०।९

३. वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तदा। स्त्रियः कस्माद्वधं वीर मन्यसे राक्षसेश्वर ॥६।९२।६०

रावण के कनिष्ठ पुत्र अतिकाय के बारे मे कहा गया है कि वह ज्ञानी वृद्धजनो की सेवा करनेवाला, वेदो मे पारगत, सब शस्त्रास्त्रो के प्रयोग में कुशल, घोडे और हाथी की सवारी में प्रवीण तथा धनुर्विद्या मे सिद्धहस्त था, राजनीति और कूटनीति के अतिरिक्त साम, दान, दड और भेद की चालो में भी वह निष्णात था (६।७१।२९)। रण-क्षेत्र पर जाने से पहले कुभकर्ण ने रावण की सभा में जो वक्तृता दी थी, उसमें अर्थ-शास्त्र और राजनीति का उल्लेख हुआ है (६।६३।१४-६)। इसी अवसर पर महोदय नामक एक अन्य राक्षस ने चार पुरुषार्थो—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—के सिद्धात की विवेचना की थी (६।६५)।

रावण तथा अन्य प्रमुख राक्षस संस्कृत बोल सकते थे। अशोकवाटिका में सीता को संबोधित करने से पूर्व हनुमान ने सोचा था कि यदि मैं सीता से एक ब्राह्मण की तरह सस्कृत में बोलूगा तो वह मुझे रावण समझकर डर जायगी।[1] इल्वल और वातापि नामक असुर-बधु ब्राह्मणो की-सी परिष्कृत सस्कृत बोलकर उन्हे श्राद्धो मे आमत्रित किया करते थे।[2]

रावण की राज्य-सभा सर्वज्ञ और बुद्धिमान अमात्यो तथा नीति-निर्माण में निष्णात मत्रियो से युक्त थी—

मन्त्रिणश्च यथामुख्या निश्चितार्थेषु पण्डिताः।
अमात्याश्च गुणोपेताः सर्वज्ञा बुद्धिदर्शनाः॥ ६।११।२५

सभा में शिष्टाचार और अनुशासन की दृष्टि से आदर्श वातावरण था—वहा कोई न नारे लगाता, न परस्पर बातचीत करता और न असत्य-भाषण ही करता था।[3] बुद्धि, ज्ञान, शिष्टता से मानो ओतप्रोत थी रावण की राज्य-सभा। लकापुरी में वैदिक ज्ञान के अनुशीलन के साथ-साथ विभिन्न कलाओ और आमोद-प्रमोद का भी पर्याप्त सेवन किया जाता था, जैसाकि 'चित्रगृह', 'निशागृह', 'लतागृह',

---

१. **यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमानां मां सीता भीता भविष्यति॥५।३०।१८**

२. **धारयन् ब्राह्मण रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्। आमन्त्रयति विप्रान् स...॥ ३।११।५५**

३. **न चुक्रुशुर्नानृतमाह कश्चित्सभासदो नापि जजल्पुरुच्चैः। ६।११।३०**

'चित्रशाला', 'क्रीडागृह', 'पुष्पगृह' और 'आपानशाला' (मधुशाला) के अस्तित्व से प्रकट है (५।१२)। हृदय, कठ और मूर्धा—इन तीन स्थानो से निकलनेवाले (मद, मध्यम और उच्च) स्वरो से विभूषित मनोहर गीत लका मे सर्वत्र प्रचलित थे।[1] ऐसे वातावरणमें रहना ही अपने-आपमे एक प्रशिक्षण रहा होगा। 'जो लका जाता वही राक्षस बन जाता', इस कहावत का एक ठोस आधार था, क्योकि राक्षस एक सुसस्कृत व्यक्ति था।

रावण के शासन-काल में राक्षसो का साम्राज्य भौतिक समृद्धि के शिखर पर पहुच गया था। त्रिकूट पर्वत पर स्थित लका का दुर्ग अपने युग का एक चमत्कारी किला था। उसकी निर्माण-योजना अद्‌भुत थी और उसके धन-ऐश्वर्य की जो झाकी वाल्मीकि ने सुदरकाड मे कराई है, वह कल्पना से परे जान पडती है। रावण का राजप्रासाद एक पर्वत-शिखर पर अवस्थित था। वह चारो ओर सूर्य के समान चमचमाती हुई दीवार से घिरा था। भयानक राक्षस उसकी रक्षा करते थे। चादी से मढे हुए चित्रो, सोने के दरवाजो, भव्य प्रागणो और अद्‌भुत अतर्द्वारो से वह सुशोभित था। उसमें लडाई के रथो तथा अन्य सवारियो के आने-जाने के मार्ग थे। इन मार्गो पर दोनो ओर नियत दूरी पर योद्धाओ की हाथी-दात की प्रतिमाएँ थी तथा घुडसवार सैनिक तैनात थे। वह महल मदराचल के समान ऊचा, मोरो के स्थान से युक्त, ध्वजाओ से व्याप्त, अनत रत्नो का भडार और खजानो से भरा था। उसमें धीर पुरुषो ने निधि-रक्षा के लिए उपयुक्त साधनो की प्रतिष्ठा की थी तथा वह साक्षात कुबेर के भवन के समान जान पडता था। वह राजोचित सामग्री से पूर्ण और रमणी-रत्नो से भरा था—नूपुरो की झनकार, करधनियो की खनखनाहट और मृदग के घोष से वह मुखरित था। उसमे अनेक अटारिया थी, वैदूर्य-मणियो से जटित सोने की खिडकिया थी, अनेक पक्षी किलोल कर रहे थे तथा उत्तम जाति के शख, शस्त्रास्त्र और धनुषो की शालाए थी। उस पर्वत-सदृश भवन में अनेक मनोहर और विशाल चौबारे थे। महल के बाहरी भाग में सैनिक-वर्ग के विख्यात वीरो के सामरिक साधनो से सपन्न और विपुल सपत्तिशाली निवास-स्थान बने हुए थे। उनके इर्दगिर्द लबे-चौडे मैदान थे, जिनमें पशु-पक्षियो के कलापूर्ण और व्यवस्थित घेरे बने हुए थे। कोई भी उद्यान ऐसा नही था, जिसमे कलात्मक ढग से सजे हुए

---

१. शुश्राव रुचिर गीत त्रिस्थानस्वरभूषितम्। ५।४।१०

मनोहर कुज, कदली-गृह, दिन और रात के विहार-स्थान, क्रीडा-पर्वत और रम्य सरोवर न बने हो। निकट ही घोडो और हाथियो के अस्तबल तथा अन्यान्य सवारियो को रखने के स्थान बने हुए थे। ये सब सोने और अन्य बहुमूल्य धातुओ की जालियो से छाये हुए थे।

रावण का शयन-कक्ष भव्य और सुदर, स्वच्छ और विशाल था। उसमे कई कमरे बने हुए थे। उनमें मणियो से जडी सीढिया, स्फटिक का फर्श, रत्नजटित स्तभ और हाथी-दात की बनी नारी-मूर्तिया थी। फर्श पर रग-बिरगे चित्रो से सजे चौकोर कालीन बिछे थे और दीवारो पर ऐसे पर्दे टगे थे, जिनका रग आसपास की वस्तुओ से मेल खाता था (**तत्र तत्र च विन्यस्तैः सुश्लिष्टशयनासनैः**, ५।११।२०)। सभी कमरे सुगधित अगुरु से सुवासित थे, उनकी दीवारें पुष्पमालाओ और बदन-वारो से अलकृत थी। रात के समय दीपो के प्रकाश मे वे प्रज्वलित-से जान पडते थे। सारा वातावरण अतीव आह्लादकारी, उत्साहजनक और चित्ताकर्षक था। महल के दूसरे भागो मे सुसज्जित नृत्य-शाला, सगीत-शाला और आपान-शाला बनी हुई थी। निकट ही, नदन-वन के समान आकर्षक और रमणीय रावण की अशोक वाटिका थी, जिसमें तरह-तरह के पशु-पक्षी, भवन और प्रासाद थे। कमल-कमलिनी से परिपूर्ण एव बावलियो, लता-कुजो तथा कर्णिकार, किशुक, पुन्नाग, चपक और अशोक वृक्षो से सुशोभित वह वाटिका वास्तव मे **नेत्रमन कान्तम्** थी।

लंका मे सामान्य राक्षसो के निवासस्थान 'समृद्ध, बहुमूल्य, अनेकानेक कक्षो से सपन्न तथा सोने के पूर्ण और अर्ध चंद्रमा से अलकृत थे। उन भवनो मे सुदर चद्र-शालाए बनी थी और उनकी बैठको के झरोखे बढिया रत्नो से खचित थे। वे घर मणि और मगो मे चित्र-विचित्र थे, ऊचाई में मानो सूर्य को छूना चाहते थे तथा क्रौच और मोर के शब्द की तरह उनमे भूषणो की झनकार सुनाई पडती थी' (६।७५।१८-२१)। वानरो के आग लगा देने पर 'तोरणो, अटारियो, शिखरो आदि से युक्त वे पर्वताकार महल टूट-टूटकर जमीन पर गिरने लगे थे। कही अगुरु जल रहा था, कही चदन की लकडिया जल रही थी, कही मणि, मोती, हीरे, मूगे और कही छाल के वस्त्र जल रहे थे। कही क्षौम और कौशेय वस्त्र, कही ऊनी कपड़े, कही सोने के बर्तन और कही शस्त्रास्त्र आग की भेंट हो रहे थे। कही अनेक तरह के चित्र-विचित्र घोडो के आभूषण, कही हाथियो की गर्दन के गहने, कही झूलें और कही रथो की अलंकरण-सामगी धाय-धांय जल रही थी। कही योद्धाओ, हाथियो और

घोडो के कवच तो कही चवर, श्रेष्ठ कंबल, व्याघ्र-चर्म, कस्तूरी, मुक्ता-मणि, सुवर्ण-आभूषण और मालाए भस्मीभूत हो रही थी' (६।७५।८-१४)। यह समस्त वर्णन राक्षसो की अपार समृद्धि और सपत्ति का द्योतक है।

हनुमान ने लका में जो कुछ देखा, उसके वर्णन में सभवत कवि ने अतिरजना का आश्रय लिया है। विशेष कर उन लोगो में, जिन्हें अकस्मात कोई नवीन, अप्रत्याशित या विस्मयजनक दृश्य दिखाई पड जाय, बढ-चढकर वर्णन करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। किंतु इस सारे अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में सत्य का अश निस्सदेह विद्यमान है, भले ही दीर्घ समय के अनतर, आज की परिवर्तित परिस्थितियो में, वह अवास्तविक और कल्पनाजन्य प्रतीत हो। राक्षस-राजधानी में सुवर्ण और मणि-रत्नो की जो बहुलता बताई गई है, वह मात्र कवि के मस्तिष्क की उपज नही है। जब हम यह पढते हैं कि मैक्सिको के लोगो के पास बेहद सोना था, पेरू (दक्षिण अमरीका) के विशाल सूर्य-मदिर की दीवारें सोने से मढी थी और आज भी तिब्बत की राजधानी ल्हासा के बौद्ध मदिर की छत सोने से पटी है, तब यह न मानने का कोई कारण नही कि बर्बर जातियो की अभिरुचि के अनुरूप लका के राक्षसो ने भी अपने घरो और उनकी दीवारो को कही-कही मणि-सुवर्ण से अलकृत किया होगा। उनके पास सोना अत्यधिक मात्रा में था, यह भी बहुत सभव है। प्राचीन समय में, दक्षिण भारत और लका में सोना खानो और नदियो की रेत में से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता था और आज भी मैसूर राज्य की खानो में से सोना काफी निकलता है। अत वाल्मीकि-कृत सुवर्णमयी लका का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण भले ही हो, पर निरा कवि-कल्पना-प्रसूत नही है।[1]

रावण ने राम-जैसे दुर्धर्ष आर्य-वीर को उकसाकर अपने हाथो अपना अनिष्ट किया, सही, फिर भी यह सोचना भूल है कि राक्षस लोग राजनीतिक औचित्य या बुद्धिमत्ता से सर्वथा शून्य थे। मारीच और विभीषण दोनो ने सीता को मुक्त करने के लिए रावण को भरसक समझाया था और ऐसा न करने पर राक्षस-जाति के सभावित विनाश की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया था। यह तो मृत्यु का भय था, जिसने मारीच को सीता-हरण के षड्यत्र में रावण को सहयोग देने के लिए विवश किया। अतरराष्ट्रीय नीति-नियमो से भी राक्षस अनभिज्ञ नही थे। विभीषण

---

१. चि० वि० वैद्य—'दि रिडिल आफ दि रामायण', पृ० १६२

के यह बताने पर कि दूत अवध्य होता है,[1] रावण ने हनुमान के प्राण छोड दिये थे। स्वय रावण का स्त्री-दाक्षिण्य इस बात से प्रकट है कि बार-बार ठुकराये जाने पर भी उसने सीता का वध नही किया।

कुभकर्ण ने अपने दृष्टिकोण से राजनीति की विशद व्याख्या करके अपने भाई को युद्ध मे प्रवृत्त होने से रोकना चाहा था। उसकी वक्तृता (६।६३।५-१६) से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुभकर्ण पशु की तरह निरा पेटू नही था, उसमें अपने अभिमानी भाई की खरी आलोचना करने और उसके परामर्शदाताओ का पर्दा फाश करने का नैतिक साहस भी था। राजनीतिक कर्तव्य के नाते ही कुभकर्ण ने रावण का साथ दिया, वह भी तब जबकि इसके अतिरिक्त और चारा नही रह गया था। विभीषण ने भी रावण को राम के न्याय्य पक्ष और अप्रतिम बल-वीर्य से अवगत कराकर यह परामर्श दिया कि क्षमा-याचना-पूर्वक आप उन्हे वैदेही लौटा दे। इस 'अप्रिय किंतु पथ्य' परामर्श के बदले जब रावण ने उन्हे कुवचन कहे और उन पर कृतघ्न और देशद्रोही होने का लाछन लगाया, तब विभीषण ने राम का न्यायपूर्ण पक्ष लेकर अपना नैतिक कर्तव्य निभाया था।

जहा आर्य लोग युद्ध मे उचित और निष्कपट साधनो का सहारा लेते थे, वहा राक्षस शत्रु को परास्त करने मे धोखेधडी का आश्रय लेने के लिए कुख्यात थे। इसीलिए उन्हे रामायण में स्थल-स्थल पर **कूटयोधिनः** (छिपकर युद्ध करनेवाले) कहा गया है। आग, विष और जादू-टोनो के प्रयोग द्वारा वे अपने माया-बल को प्रकट करते थे। मारीच 'महामायाविशारद' था। रावण युद्ध में छल-कपट करने के लिए प्रसिद्ध था (**मायास्त्रष्टारमाहवे**, ६।१११।५३)। लका-युद्ध के वर्णन में राक्षसो के कपट-युद्ध के अनेक उदाहरण मिलते है।

राक्षसी सेना मे नकाव पहनकर लडनेवाले सैनिक होते थे। जब रावण पहले-पहल रण-भूमि में गया, तब उसके साथ-साथ बाघ, घोडा, ऊट, हरिण और दूसरे पशुओं के मुखवाले प्राणी भी चले थे।[2] ये लोग वे राक्षस सैनिक थे, जिन्होने जगली जानवरो के नकाव लगा रखे थे। शत्रु-पक्ष को भयभीत करने की उनकी यह युक्ति

---

१. दूता न वध्याः समयेषु राजन् सर्वेषु सर्वत्र प्रवदन्ति सन्तः। ५।५३।१३

२. यश्चैष नानाविधघोररूपैर्व्याघ्रोष्ट्रनागेन्द्रमृगाश्ववक्त्रैः। भूतैर्वृतो भाति विवृत्तनेत्रैर्योऽसौ सुराणामपि दर्पहन्ता ॥६।५९।२३

थी, युद्ध में धोखधडी का प्रयोग करने की उनकी नीति का यह एक अग था। इसके अतिरिक्त वे ऐसे छद्म रूपो का भी आश्रय लेते थे, जिनसे असली और नकली में अतर करना कठिन हो जाता था।

राक्षसो में एक सुनिश्चित सैन्य-व्यवस्था के अनुसार युद्ध-सचालन किया जाता था। रावण की अपनी चतुरगिणी सेना थी, जिसमें एक सेनापति और अनेक नायक (बलाध्यक्ष) होते थे। राम के आक्रमण के समय रावण ने मत्रियो के साथ शीघ्र ही अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया और उन्हे आदेश दिया कि घौसा बजाकर सब सैनिको को इकट्ठा करें, किंतु इसका कारण न बतायें।[1] लका-दुर्ग के फाटको पर कडा पहरा रहता था। दुर्ग में कई 'कूटागार' बने हुए थे, ये सभवत भूगत मार्ग और सैनिको को छिपाने के तहखाने थे।

राक्षसो का अपना जासूस-विभाग भी था। शूर्पणखा ने रावण को गुप्तचर-व्यवस्था क्रियाशील रखने की आवश्यकता समझाई थी, क्योकि जासूस ही राजा को दीर्घ दृष्टि प्रदान करते है (**चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुष**, ३।३३।१०)। रावण के जासूस लका-दुर्ग के मध्य में घूमते रहते तथा प्रजाजनो और सैनिको में घुले-मिले रहते थे। सीता-हरण के बाद रावण ने आठ जासूसो को इस काम में लगा दिया था कि वे राम-लक्ष्मण की गति-विधि की सूचना बराबर देते रहें और उनका काम तमाम कर डालने का कोई मौका न चूकें (३।५४।२६-७)। शत्रु-सेना में भेद-नीति द्वारा फूट डालने की युक्ति का राक्षस प्राय आश्रय लिया करते थे। राम और सुग्रीव में फूट डालने के लिए रावण ने अपने गुप्तचर शुक को नियुक्त कर रखा था (६।२०।८-१५)। राम की वानरी सेना का बलाबल जानने के लिए भी उसने शुक, सारण और शार्दूल के नेतृत्व में कई जासूस भेजे थे।

प्रमुख राक्षस-वीर रथो में बैठकर रण-क्षेत्र मे जाते और युद्ध करते थे। वानरो की भाति वे शस्त्रास्त्रो के प्रयोग से अनभिज्ञ नही थे। इद्रजित, रावण, अतिकाय, महारक्ष आदि रक्ष-वीर निपुण धनुर्धर थे। आकाश-युद्ध में भी राक्षस कुशल थे। उत्तरकाड में रावण और वरुण-पुत्रो के बीच हुए एक आकाश-युद्ध का वर्णन आता है। बाहु-युद्ध, गदा-युद्ध और मुष्टि-युद्ध द्वारा भी राक्षस अपने प्रतिपक्षी का सामना करते थे।

---

१. शीघ्र भेरीनिनादेन समानयध्व सैन्यानि वक्तव्यं न च कारणम्। ६।३२।४३

फिर भी आर्यो के हाथो राक्षसो को जो भयानक हारें खानी पडी, उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे सैन्य-साधनो और युद्ध-सचालन मे पर्याप्त समुन्नत नही थे तथा अपने आर्य-प्रतिपक्षियो के मुकाबले में नही ठहर सकते थे। उनका धनुर्विद्या-कौशल आर्य-वीरो के समक्ष टिक नही पाता था। एक और कारण यह था कि राक्षस लोग व्यक्तिगत रूप से तो बलवान थे, पर युद्ध में सगठित मोर्चा बनाकर लडने के बजाय एक भारी और अव्यवस्थित भीड के रूप मे शत्रु-पक्ष से भिडते थे और इस तरह अपने सख्या-बल का पूरा लाभ नही उठा पाते थे। ऐसी स्थिति मे यदि जनस्थान मे राम ने अकेले ही खर की चौदह हजार राक्षसी सेना को (यह सख्या कुछ अतिरजित हो सकती है) खदेड दिया हो, तो कोई आश्चर्य नही। राम की विजय का रहस्य संभवत यह था कि धनुष-बाण के प्रयोग तथा युद्ध-कौशल में राक्षस-पक्ष का कोई वीर उनसे बाजी नही मार सकता था।[1]

धर्म-कर्म और शिक्षा-स्वाध्याय मे सलग्न रहने पर भी रावण और उसके साथियो ने अनीति और अधर्म, हिंसा और अत्याचार, विलास और व्यभिचार मे लिप्त रह-कर अपने सर्वनाश को न्योता दिया। रावण के उदाहरण मे हम देखते है कि महत्ता-सूचक गुणो का उपयोग किस प्रकार निकृष्ट उद्देश्यो की पूर्ति मे किया गया। उसकी वैभवशालिता और पापाचारिता से चकित हो हनुमान कह उठे थे—"अहो, इसका रूप और धैर्य अद्भुत है। इसका साहस अनोखा और काति निराली है। इस राक्षस-राज में सभी राजोचित लक्षणो का होना महान आश्चर्य की बात है। यदि इसमें अधर्म की प्रबलता न होती तो यह देवलोक और इद्र का भी रक्षक होता। किंतु इसके कर्म इतने कठोर, निर्दयतापूर्ण और निंदित है कि देवता और दानवो-सहित सपूर्ण जगत के प्राणी इससे डरते रहते है।"[2]

सच पूछा जाय तो राक्षसो का नाम ही, शाति-प्रिय आर्य-ऋषि-मुनियो के प्रति उनकी हिंसा-वृत्ति के कारण, देश-भर मे कुख्यात और कलकित हो चुका था।

---

१. चि० वि० वैद्य—'दि रिडिल आफ दि रामायण', पृ० १४०

२. अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः। अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षण-युक्तता॥ यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः। स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता॥ अस्य क्रूरैर्नृशंसैश्च कर्मभिर्लोककुत्सितैः। सर्वे विभ्यति खल्वस्माल्लोकाः सामरदानवाः॥५।४९।१७-९

उनके यज्ञ-यागो का विध्वस करना निशाचरो का एक कुत्सित व्यापार बन गया था। वे यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली सामग्री को फेंक देते, यज्ञ की अग्नि पर पानी की बौछार कर बुझा देते और जल-पात्रो को तोड-फोड डालते थे। जब विश्वामित्र ने अपना यज्ञ प्रारभ किया, तब मारीच और सुबाहु ने यज्ञ-वेदी पर गाढा खून बरसाया था।[1] रावण अनेक यज्ञो को नष्ट करनेवाला (नैकयज्ञविलोप्तारम्), धर्म की व्यवस्था को तोडनेवाला (धर्मव्यवस्याभेत्तारम्) तथा नैतिक धर्मो की धज्जिया उडानेवाला (उच्छेत्तार धर्माणाम्) था। अतुल शक्ति-सपन्न होने के कारण वह यज्ञ-भूमि से मत्रपूत सोम-रस को छीनकर ले जाता था। इसीलिए यज्ञ-भूमि में किसी राक्षस का प्रवेश गदे कुत्ते के प्रवेश की तरह अशुभ और अपवित्र माना जाता था।[2]

राक्षस लोग आर्यो के यज्ञ-समारोहो को नष्ट-भ्रष्ट ही नही करते थे, अपितु उनमें भाग लेनेवालो को भी मौत के घाट उतार देते थे। रावण को 'ब्रह्मघ्न' अर्थात ब्रह्म-हत्यारा कहा गया है। उत्तरकाड में वर्णन आता है कि रावण ने किस प्रकार राजा मरुत्त के माहेश्वर-यज्ञ में आये हुए ऋषियो को खाकर और उनका खून पीकर अपने को परितृप्त किया था (७।१८।१९)। राम के दडकारण्य में आने पर वहा के निवासियो ने उन्हे राक्षसो द्वारा मारे गए ऋषि-मुनियो की हड्डियो का ढेर दिखाया था।[3] इद्रजित-वध के पश्चात देवता, दानव और गधर्व आकर यह कहने लगे थे कि अब ब्राह्मण लोग निर्भय होकर पृथ्वी पर विचरण करेंगे,[4] जिससे सिद्ध है कि जीते-जी वह ब्राह्मणो के लिए कितना अभिशाप-तुल्य था।

किंतु राक्षसो का सबसे घृणित कार्य, जिसने उन्हे सभ्य ससार की दृष्टि में हेय और निंदित बना दिया, स्त्रियो पर बलात्कार था। रावण के शब्दो में 'पराई स्त्रियो का उपभोग करना अथवा उन्हे बलपूर्वक हर लेना राक्षसो का सदा से प्रच-

---

१. आगम्य भीमसंकाशा रुधिरौघानवासृजन्। ता तेन रुधिरौघेण वेदीं वीक्ष्य समुक्षिताम् ॥१।३०।१२-३

२ रावणः प्राविशद्यज्ञं सारमेय इवाशुचि'। ७।१८।६

३. एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम्। हताना राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने ॥३।६।१६

४. विज्वरा. शान्तकलुषा ब्राह्मणा विचरन्त्विति। ६।९०।८८

लित स्वधर्म रहा है।'[1] कुभकर्ण नर-हत्या, आश्रम-विध्वस और परस्त्री-हरण के लिए कुख्यात था (६।६१।१९)। देवो ने विष्णु के समक्ष रावण के जिस अत्याचार को प्रमुख रूप से उपस्थित किया और जो उनकी दृष्टि मे विष्णु के धराधाम पर अवतरित होने का सबसे प्रबल कारण हो सकता था, वह रावण द्वारा स्त्रियो का अपहरण ही था (१।१६।७)। वह एक अजितेंद्रिय, परस्त्रीगामी लंपट था—एक ऐसा बटमार था, जिसने अपनी त्रैलोक्य-विजय मे स्त्रियो की खुले आम लूट मचा दी थी। उसकी पटरानी मदोदरी को पता था कि वह देवो और असुरो की कन्याओ को देश-विदेश से हरकर लाया था (**देवासुरकन्यानामाहर्तारं ततस्ततः**; ६।१११।५३)। पुजिकस्थला और रभा-जैसी अप्सराओ पर उसका बलात्कार, आर्य-ललना वेदवती का काम-भाव से स्पर्श तथा अन्य अगणित सुदरियो का उनके सबधियो को मारकर अपहरण ऐसी घटनाए थी, जिनका तत्कालीन आर्य राजा कोई सबल प्रतिरोध न कर सके, किंतु सीता के अपहरण ने रावण को आर्यों के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर की क्रोधाग्नि की आहुति बना दिया, जिसकी विनाशकारी लपटो में राक्षस अपना साम्राज्य खो बैठे।

राक्षस लोग आर्यों की चर्चा 'नर','मनुष्य' या 'मानुष' के नाम से किया करते थे। नर-मास के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि होने पर भी उनके और मानुषो के बीच सौहार्दपूर्ण सबध के उदाहरण मिलते है। रावण की अशोकवाटिका में हनुमान ने हर्षमग्न मनुष्य देखे थे (५।१४।८)। इससे सूचित होता है कि इन नरभक्षी बर्बरो के राज्य मे भी मनुष्य आनदपूर्वक रह सकते थे। प्रतीत होता है कि राक्षस उन्ही मनुष्यो का मास खाया करते थे, जिन्हे वे युद्ध में बदी बना लेते थे, अथवा जिनके प्रति उनकी शत्रुता होती थी, उनके समाज के अग बनकर उन्हीके बीच बस जाने-वाले मनुष्यो को वे कोई हानि नही पहुंचाते थे। यही नही, राक्षसो ने आर्यों की ब्राह्मण-सत्कार की भावना भी अपना ली थी। उदाहरणार्थ, जब राक्षस-सेनापति प्रहस्त रण-क्षेत्र को प्रस्थान करने लगा, तब बहुत-से राक्षस उसकी मगल-कामना के लिए ब्राह्मणो को प्रणाम करने लगे थे।[2] स्पष्ट है कि जिन ब्राह्मणो ने राक्षस-

---

१. **स्वधर्मो रक्षसा भीरु सर्वदैव न संशयः। गमनं वा परस्त्रीणां हरणं संप्रमथ्य वा ॥५।२०।५**

२. **हुताशनं तर्पयतां ब्राह्मणांश्च नमस्यताम्। ६।५७।२१**

राज की यजमान-वृत्ति स्वीकार कर ली थी, वे उसके राज्य में नि शक होकर बस सकते थे।

किंतु अन्य दृष्टियो से राक्षसो की मनुष्यो के प्रति हीन भावना थी। वे उन्हें मरणधर्मा और दुर्बल प्राणी समझते थे तथा अपने को उनसे भिन्न और उच्चतर। रावण तो मनुष्यो को कुछ भी नही गिनता था, ब्रह्मा से गरुड, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस, देवता आदि जातियो से अवध्य होने का वरदान मागते समय उसने मनुष्यो से भय-मुक्त होना आवश्यक नही समझा, क्योकि **तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादय**, वह मनुष्य आदि प्राणियो को तिनके के समान मानता था (७।१०।२०)। जब मारीच ने रावण को राम-जैसे महापराक्रमी वीर से शत्रुता मोल न लेने का परामर्श दिया, तब रावण ने उसका उपहास करते हुए कहा—"अपनी इस बकवास से तुम मुझे उस राम से भयभीत नही कर सकते, जो मूर्ख है, पापी है और विशेष कर एक मनुष्य है।"[1] मदोदरी सीता को कुल, रूप या गुण किसी बात मे अपने से बढकर नही समझती थी।[2] शूर्पणखा ने राम-लक्ष्मण-जैसे मनुष्यो को मारने में असमर्थ खर को 'नि सत्व और अल्प-वीर्य' कहकर लताडा था (३।२१।१९)। रावण ने राम को 'राज्य से च्युत, दीन, तापस, पैदल घूमनेवाला, मनुष्य और अल्प तेजस्वी' बताकर सीता को अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की थी।[3] स्वय सीता ने राक्षसियो से त्रस्त होने पर अपनी मनुष्यता और पराधीनता को धिक्कारा था—**धिगस्तु खलु मानुष्य धिगस्तु परवश्यताम्** (५।२५।२०)।

एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राक्षस लोग जन्मना और कर्मणा कौन थे। रामायणकालीन आर्यो के दृष्टिकोण से स्वधर्म से च्युत, अतएव जाति-बहिष्कृत मनुष्य राक्षसो की श्रेणी में आ जाते थे। इसकी पुष्टि उन लोगो के उदाहरणो से होती है, जो मूलत आर्य या अराक्षस थे और बाद में, अधर्माचरण के कारण,

---

१. त्वद्वाक्यैर्न तु मा शक्य भेत्तुं रामस्य सयुगे। मूर्खस्य पापशीलस्य मानुषस्य विशेषत ॥३।४०।४

२. न कुलेन न रूपेण न दाक्षिण्येन मैथिली। मयाधिका वा तुल्या वा तत्तु मोहान्न बुध्यसे ॥६।१११।२८

३. राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन पदातिना। किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्प-तेजसा ॥३।५५।२१

राक्षस बनने का शाप पा गए। ताटका आरंभ मे एक यक्षिणी थी, पर जब उसने अगस्त्य-जैसे महामुनि पर आक्रमण करना चाहा, तब उन्होने उसे नरभक्षी राक्षसी बन जाने का शाप दे दिया। उसका पुत्र मारीच भी राक्षस बना दिया गया—**राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः** (१।२५।१२)। उत्तरकाड में आई राजा कल्माष-पाद की कथा भी कुछ ऐसी ही है। जब राजा ने वसिष्ठ को (भ्रमवश) नर-मास परोस दिया, तब मुनि ने उसे नरभक्षी राक्षस बन जाने का शाप दे दिया (७।६५।२८)। इस प्रकार एक आर्य भी किसी घृणित अपराध के दडस्वरूप राक्षस-योनि में पतित हो जाता था।

उपर्युक्त दृष्टिकोण कतिपय आधुनिक विद्वानो के मत से मेल खाता है। यह तो हम देख चुके है कि राक्षसो मे वैदिक अध्ययन और कर्मकाड प्रचलित था तथा वे अग्नि और शिव के पूजक थे। इस आधार पर इन विद्वानो का कथन है कि राक्षस-जाति आर्यो की वह शाखा थी, जो दक्षिण के उपजाऊ प्रदेशो मे जाकर बस गई और एक विशिष्ट सभ्यता का निर्माण कर अत्यत शक्तिशाली और समृद्धि-युक्त बन गई। राक्षसो की उत्पत्ति के प्रसग से यह ज्ञात होता है कि रावण प्रजापति ब्रह्मा के वशज विश्रवा मुनि का पुत्र था। यह भी राक्षस-जाति के मूल आर्यत्व का सूचक है। किंतु आर्यो की यह दक्षिणी शाखा जब अपनी मूल सस्कृति के कल्याणकारी प्रभाव से दूर जा पडी, तब वह क्रूरता और विलासिता मे लिप्त होकर अनार्यों का-सा आचरण करने लग गई।[1]

एक अन्य मत यह है कि राक्षस लोग दक्षिण भारत और लका के मूल निवासी थे, जो अपनी बर्बर स्थिति से उठकर रामायण-काल मे एक अर्ध-सभ्य दशा में आ गए थे। नस्ल की दृष्टि से वे उन दस्युओ से मिलते-जुलते थे, जिनके साथ ऋग्वेदीय आर्यो का सघर्ष रहता था।[2] दक्षिण भारतीय दृष्टिकोण से[3] राक्षस आदिम तीरदाजो और मछुओ के वशज थे, जिन्होने सख्या में बढने पर अपना अलग राज्य

---

१. के० एस० रामस्वामी शास्त्री—'दि आर्यन कॉलनीज आफ किष्किधा एंड लंका' ('इंडियन कल्चर', भाग ५, पृ० १९५)

२. टी० के० वेंकटरमन—'दि राक्षसाज' (के० वी० रंगास्वामी स्मृति-ग्रंथ, पृ० १८७-९३)

३. वी० आर० रामचंद्र दीक्षितार—'साउथ इंडिया इन दि रामायण'

स्थापित कर लिया। कालातर में आर्यावर्त से उनका सपर्क बढता गया, जिसके फल-स्वरूप राक्षसो ने ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लिया, जैसाकि ब्रह्मराक्षसो (वे राक्षस जो ब्राह्मण-धर्मी बन गए थे) के अस्तित्व मे प्रकट है। इन ब्रह्मराक्षसो ने वैदिक कर्मकाड के सपादन के लिए सस्कृत भी सीख ली।

इतना तो निश्चित और निर्विवाद है कि रामायण के समय भारत के दक्षिणी छोर पर लका में एक काली खूख्वार जाति निवास करती थी, जो आर्यों से विमुख थी और उनके धार्मिक क्रिया-कलापो में विघ्न डालती थी। इस जाति के कुछ अवशेष आज तक जावा में पाये जाते है।[1] उसकी ध्वसात्मक प्रवृत्तिया भारतीय महासागर के द्वीपो तक व्याप्त थी। आर्यो का प्रभुत्व स्थापित होने से पहले इस जाति ने विश्व के घटना-चक्र में प्रमुख भाग लिया था। आर्यों ने राक्षसो को दैत्याकार, इच्छानुसार वेश बदलनेवाले और रक्त-पिपासु आक्रामको के रूप में चित्रित किया है, वैसे ही जैसे सेमाइट लोगो ने अपनी विरोधी जातियो को अपवित्र, भयकर और दैत्याकार वर्णित किया। राक्षस लोग कृष्ण वर्ण के थे, उनके बाल हबशियो की तरह ऊननुमा घुघराले होते थे और वे सोने-चादी के गहनो से लदे रहते थे, जिनसे उनकी जाति को सदा से प्रेम रहा है और जिनके उपयोग मे उनके सजातीय सूडानी लोग अब भी रस लेते है। डा० जान फ्रेजर का अभिमत है कि सिलोन के मूल निवासी आर्यों से पहले पनपनेवाली एक काली जाति के लोग थे और दक्षिण भारत की द्रविड जातिया उसीसे निकली है, भारत में आर्यो का प्रभुत्व स्थापित होने पर यह जाति दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायद्वीप मे तथा इडोनेशिया और ओशिएनिया के द्वीपो में खदेड दी गई, तथा मलयेशिया के निवासी उसके वर्तमान प्रतिनिधि है।[2]

---

१. नवीनचद्र दास—'ए नोट आन दि एंटीक्विटी आफ दि रामायण', पृ० ६

२. पॉलिनेशियन जर्नल, भाग ५, उपर्युक्त में उद्धृत।

: ४ :

वानर

कुछ विद्वानो की धारणा है कि वानर-जाति एक पौराणिक अथवा काल्पनिक जाति थी और वाल्मीकि ने उसके कार्य-कलाप का जो वर्णन किया है, वह 'निरर्थक विचित्रताओ का एक ब्योरा-मात्र' है। कुछ अन्य विद्वान वानरो को निरा बंदर मानकर उन्हे कोई महत्व नही देते, और यह इसलिए कि कवि ने उन्हे बंदरो की विशेषताओ से युक्त बताया है। किंतु वानरो की सभ्यता का जो चित्रण रामायण में प्रस्तुत है, उससे ये दोनो मान्यताए गलत सिद्ध हो जाती है और यह प्रमाणित होता है कि वानरो की जाति एक वास्तविक मनुष्य-जाति थी, जिसकी अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था और सस्कृति थी। भले ही यह जाति मध्यदेश के आर्यों और लका के राक्षसो की-सी समुन्नत न रही हो, पर निश्छल, सरल और साम्राज्यवादी आकाक्षाओ से अलिप्त होने के कारण इसका भी अपना एक अनोखा गौरव और महत्व था। रामायण ही भारतीय साहित्य का सबसे प्राचीन और सभवत एक-मात्र ऐसा ग्रथ है, जिससे हम वानर-सभ्यता की निकट से झाकी पा सकते है।

वानरो को कवि ने ऐसे बलवान प्राणियो के रूप मे चित्रित किया है, जो 'माया जाननेवाले, शूरवीर, वायु के समान वेगवान, नीतिज्ञ, बुद्धिमान, विष्णु के समान पराक्रमी, किसीसे परास्त न होनेवाले, तरह-तरह के उपायो के जानकार, दिव्य शरीर-धारी और देवताओ की तरह सभी शस्त्रास्त्रो के प्रयोग में कुशल' थे (१।१७।२-४)। **कामरूपिणः** उनका एक बहु-प्रयुक्त विशेषण है—वे इच्छानुसार रूप धारण कर सकते थे। राम-लक्ष्मण से पहली भेट के समय हनुमान ने अपना कपि-रूप त्याग कर भिक्षु-रूप धारण कर लिया था। लका मे सीता की गुप्त ढग से खोज करते समय भी उन्होने अनेक रूप-परिवर्तन किये थे।

वानर अपने दातो और नखो का शस्त्रो के रूप मे प्रयोग करते थे। बाघ के-से पैने दातो से उनकी आकृति विकृत और रोगटे खडे कर देनेवाली हो जाती थी।[१]

१ नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे वीरा विकृतदर्शनाः। सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च . .॥४।३१।२४; रोमहर्षणाः।४।३१।२३

विशालकाय होने के कारण उनकी समता महागजो, वट और शाल-वृक्षो, पर्वतों तथा मेघो से स्थापित की गई है। उनका वर्ण सोने का-सा होता था। सुग्रीव को हेमपिंगल और वाली को कनकप्रभ कहा गया है। लका पर धावा बोलनेवाले वानरो का मुख तावे-जैसा और रग सोने-जैसा था (ताम्रवदना., हेमाभा)। लका मे सीता की पहरेदारनियो ने 'तुमसे बातें करनेवाला वह ताम्रमुख कपि'[1] यह कहकर हनुमान की ओर सकेत किया था। वानरो के शरीर पर घने रोए होते थे। उनमें सुदरता का भी अभाव नही था। सुग्रीव के राजप्रासाद में दिव्य वस्त्र और मालाधारी 'प्रियदर्शन' वानर मौजूद थे। लक्ष्मण ने वहा रूप और यौवन से गर्वित वानर-स्त्रिया देखी थीं।[2] फिर भी यह नि सदिग्ध है कि रामायणकालीन वानर पूछ नामक उस 'लोचदार, मृदु उपकरण' से युक्त थे, जो आजकल के बदरो की विशेष पहचान है।

वानरो के अपने कतिपय मानसिक लक्षण भी थे, जो अन्य जातियो से उनका पार्थक्य स्थापित करते थे। उनके स्वभाव का सबसे उल्लेखनीय तथ्य उनका शारीरिक और मानसिक चापल्य था। राम ने वाली पर यही आरोप लगाया था। रावण की दृष्टि में वानरगण चपल, उद्धत और अस्थिर-चित्त थे—चपला ह्यविनीताश्च चलचित्ताश्च वानरा (६।५७।९)। उसने अपने गुप्तचर शुक से हँसते हुए पूछा था कि कही तुम चचल वानरो के फदे में तो नही पड गए थे।[3] जब भरत ने हनुमान के कथनानुसार राम को नियत समय पर अयोध्या लौटते नही पाया, तब उन्हे यह सदेह हुआ कि कही हनुमान का वक्तव्य कापेयी चलचित्तता (वानरी चचलता) से तो प्रेरित नही है।[4] वानरो की इस दुर्बलता को—उनके अस्थिर-मतित्व को—हनुमान ने भी स्वीकार किया था—

नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुंगव ।४।५४।९

वानरो के स्वभाव की एक और विशेषता थी, उनका तेज और गरम मिजाज। उनके लिए 'चड' (भीषण) विशेषण कई बार प्रयुक्त हुआ है। वे स्वभाव के रूखे

१. यस्त्वया कृतसवाद सीते ताम्रमुख कपि ।५।५३।२३
२. बह्वीश्च विविधाकारा रूपयौवनगर्विताः। स्त्रिय. सुग्रीवभवने ददर्श स महाबल. ।४।३३।२२
३. कच्चिन्नानेकचित्ताना तेषा त्व वशमागत ।६।२४।२५
४. कच्चिन्न खलु कापेयी सेव्यते चलचित्तता ।६।१२७।२३

होते थे और उनके साथ समझौते की बातचीत चलाना दूभर था।[1] वानर लोग शरारती भी बहुत थे। उनकी शरारतो से परेशान होकर मतग ऋषि ने अपने मतग-वन से उन्हे बहिष्कृत-सा कर रखा था (४।११।५५-९)। मधु-वन में वानरो के अनियत्रित आमोद-प्रमोद का वर्णन करके कवि ने इस **प्रकृतिः कपीनाम्** (वानरी स्वभाव) का अत्यत मनोरजक चित्र उपस्थित किया है (५।६१)।

वानर बडे भावुक प्राणी थे। सौभाग्य या दुर्भाग्य आ पडने पर वे हर्ष या शोक से विभोर हो जाते थे। लका मे मदोदरी को सीता समझकर हनुमान किस प्रकार प्रसन्नता से नाचने-कूदने और किलकारिया मारने लगे थे, इसका वाल्मीकि ने बडा सुदर वर्णन किया है।[2] हनुमान के लका से लौटने पर तथा राघव-भ्राताओ के नाग-पाशो से मुक्त होने पर वानरो ने अपना हर्षातिरेक शारीरिक हलचलो से प्रकट किया था। साथ ही, दु ख या विपत्ति आ पडने पर वानर लोग शोक-समुद्र मे भी डूबने-उतराने लगते थे। राम और लक्ष्मण को नाग-पाश मे जकडा देखकर उनके नेत्रो से आसुओ की गगा-यमुना बहने लग गई थी। प्रथम परिचय के समय जब लक्ष्मण ने सुग्रीव को सीता-हरण की घटना सुनाई, तब वानरराज इतने उद्विग्न हो उठे कि कवि को उनका वर्णन करने के लिए राहु-ग्रस्त सूर्य से घटकर कोई उपमान ही नही मिला।

वानरो की एक और विशेषता उनकी कुतूहल की भावना थी। पुष्पक-विमान के अयोध्या के निकट आने पर उसमे बैठे वानर लोग उत्सुकता-वश उचक-उचककर नगर को देखने लगे थे।[3] इसी औत्सुक्य-भावना ने उनमें शोरगुल करने और बातें फैलाने की भी प्रवृत्ति पैदा की। घनघोर युद्ध के समय विभीषण को देखकर वे एकदम आतकग्रस्त हो गए थे, उन्होने इन्हे विकराल इद्रजित समझकर आपस मे कानाफूसी करनी शुरू कर दी (**कर्णे कर्णे प्रकथिताः**)। बातूनी होने के कारण वे कही भी आपस में बातचीत करने का लोभ-सवरण नही कर सकते थे। इसीलिए उनसे सपाति को कहना

---

१. **न ते सम्भाषितुं शक्या सम्प्रश्नोऽत्र न विद्यते। प्रकृत्या कोपनास्तीक्ष्णा वानरा राक्षसाधिप ॥७।२४।२९**

२. **आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम। स्तम्भान-रोहन्निपपात भूमौ निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम् ॥५।१०।५४**

३. **उत्पत्योत्पत्य सहृष्टास्तां पुरी ददृशुस्तदा ॥६।१२३।५३**

पडा कि सीता के विषय में मै जो कुछ वता रहा हू उसे शोर-गुल किये विना ध्यानपूर्वक सुनो (कृत्वा नि.शब्दमेकाग्रा शृण्वन्तु हरयो मम, ४।६०।३०)। राम के महाप्रयाण के समय भी उनका अनुगमन करनेवाले वानर किलकारिया मारना नही भूले ।[१]

वानर ऐसे सीधे-सादे लोग थे कि अनायास ही दूसरो के वहकावे में आ जाते थे। वाल्मीकि ने उनकी निराधार आशकाओ, सहज भोलेपन, मूर्खतापूर्ण कायरता और विचित्र अनुमानो के अनेक उदाहरण दिये है। एक वार पर्वताकार कुभकर्ण को देखते ही वानरगण सभी दिशाओ में भाग खडे हुए थे। इस भगदड को रोकने के लिए विभीषण ने राम को राय दी कि वानरो से यह कह देने पर कि लका में यह एक यत्र खडा किया गया है, वे निडर हो जायगे।[२] तव अगद ने भागते हुए वानर-वीरो को सवोधित करके कहा कि यह राक्षस वडा योद्धा नही है, इसकी तो सिर्फ सूरत डरावनी है—यह राक्षसो की ओर से भेजी गई एक विभीषिका (डराने की चीज)-मात्र है। "महान और कुलीन वश मे उत्पन्न होकर तुम लोग निरे वदरो की तरह क्यो भाग रहे हो ? यदि तुम हथियार डालकर भाग जाओगे तो तुम्हारी स्त्रिया ही तुम लोगो का उपहास करेंगी और वह उपहास तुम्हे जीते-जी मृत्यु के समान दु ख-दायी होगा। तुम जन-समुदाय में बैठकर जो डीग मारा करते थे कि हम बडे प्रचंड वीर है और स्वामी के हितैषी है, वे सव वातें आज कहा चली गई ?" (६।६६।२०-२२)। अगद की वात सुनकर वानर-वीर वडी कठिनाई से लौटे और हाथो में वृक्ष लेकर रणभूमि की ओर चले। राम के इन भोले साथियो के मन की इद्रजित ने सच्ची थाह पा ली और इन्हे भयभीत करने के लिए माया-सीता की हत्या रची। इस कपट से उसे निकुभिला देवी के मदिर में होम करने का आवश्यक समय मिल गया, जिसके अनुष्ठान से वह अपने को अजेय वना लेना चाहता था। स्वय हनुमान इद्रजित की इस माया से धोखा खा गए थे। एक वार पहले भी वुद्धिमान हनुमान ने रावण के अत पुर में भ्रमवश मदोदरी को सीता समझ लिया था।

---

१ स्नाता. प्रमुदिता. सर्वे हृष्टपुष्टाश्च वानरा.। दृढ किलकिलाशब्दै. सर्वं राममनुव्रतम् ॥७।१०९।१६

२ उच्यता वानरा सर्वे यन्त्रमेतत्समुच्छ्रितम् । इति विज्ञाय हरयो भविष्यन्तीह निर्भया. ॥६।६१।३२

वानरगण सदा समूहो मे निवास करते और टोलिया बनाकर विचरते थे। सीतान्वेषण करते समय उन्होने एक-दूसरे से विलग होने का खतरा कभी नही उठाया। इस समूह-प्रेम के कारण ही अगद, हनुमान, जाववान आदि वानर-नेताओ ने अपने दल को छोटी-छोटी टोलियो मे विभाजित करना सोचा ही नही, यद्यपि ऐसा करके वे विस्तृत दक्षिण-प्रदेश की शीघ्रता से खोजबीन करा सकते थे। यही दलगत आसक्ति वानरो को अपने नेताओ के अधानुकरण मे प्रवृत्त करती थी। जब हनुमान ने ऋक्षबिल गुफा में से हस, सारस आदि जलचर पक्षियो को निकलते देखकर वानरो से कहा कि इसमे निश्चय ही जल है, तब भूखे-प्यासे वानरो ने तुरंत उनकी बात दुहराई और सबके-सब उस गुफा मे जा घुसे (४।५०।१७)। इसी प्रकार जब अगद ने सीता की खोज करते-करते हताश होने पर अनशन करके प्राण-त्याग करने का निश्चय किया, तब उसके साथियो ने भी अपने अनुकरणात्मक स्वभाव-वश, बिना कुछ सोच-विचार किये, ऐसा ही करने का सकल्प कर लिया (४।५५।१९-२०)। वानरो का पराक्रम भी, जिसका रामायण मे पर्याप्त वर्णन है, बहुत-कुछ उन्हे रण-क्षेत्र में ले जानेवाले नेताओ पर निर्भर करता था। राक्षस-वीर अकपन की बाण-वर्षा से नौ-दो-ग्यारह होनेवाले वानर-सैनिको और कप्तानो ने जब अकेले हनुमान को उससे जूझने के लिए तैयार देखा, तब वे भी साहस बटोरकर लौट आये (६।५६।९), और इसमें कोई शक नही कि उचित नेतृत्व और निर्देश मिलने पर वानर लोग, अपनी निराली युद्ध-प्रणाली द्वारा, शत्रु-पक्ष मे आतंक फैला सकते थे।

किष्किधा नगर वानरो का गढ था। रावण के गुप्तचर सारण के अनुसार 'सौ वृद, एक सहस्र शकु और इक्कीस सहस्र कोटि वानर किष्किधा मे सुग्रीव के सगी-साथी थे' (६।२८।४-५)। किष्किधा के अतिरिक्त देश मे और भी कई स्थल, जैसे पर्वतीय और वन-प्रदेश तथा नदियो और समुद्र के तट, जहा पेडो और अन्य पदार्थो की बहुतायत थी, उनके निवास-स्थान थे।

किष्किधा को वाल्मीकि ने एक गुफा मे स्थित बताया है। सुग्रीव को चेतावनी देने के लिए जाते समय लक्ष्मण ने इसी गुहा मे प्रवेश किया था।[1] यह गुफा अवश्य ही सामान्य अर्थ मे समझी जानेवाली पर्वतीय गुहा नही रही होगी, क्योकि कवि ने उसमें वृक्षो, पुष्पो, गुल्मो, प्रासादो, राजमार्गों, नदी-नालो आदि की स्थिति

१. अथ प्रतिसमादिष्टो लक्ष्मणः परवीरहा। प्रविवेश गुहां रम्या किष्किन्धां रामशासनात् ॥४।३३।१

बताई है (४।३३)। वानर-जीवन की यह विशेषता—उनका एक गुफा में निवास करना—या तो कवि की कल्पना-मात्र है, अथवा इस आदिम जाति के अर्ध-सभ्य तरीको की ओर एक सकेत है।[1]

वाल्मीकि ने कई स्थलो पर वानरो की घनी आबादी का उल्लेख किया है, जिससे यह निश्चित प्रतीत होता है कि देश में उनका सख्या-बल अपरिमित था, और यह एक कारण रहा होगा, जिसने राम को उनकी सहायता लेने के लिए प्रेरित किया।

जिन वानर-मुख्यो को सुग्रीव ने राम की सहायतार्थ बुला भेजा था, वे आर्य-प्रदेशो के पूर्व और उत्तर में निवास करनेवाले आदिवासी राजा थे। वानरो का अपना स्वतत्र अस्तित्व था और उनका समाज 'हरिगण' के नाम से ख्यात था। 'हरि' शब्द वानर का ही पर्यायवाची है। हरिगण की तीन शाखाए थी—ऋक्ष, गोलागूल और वानर। सामान्य धारणा के विपरीत ऋक्ष लोग भालू नही थे, वरन ऋक्ष पर्वत पर निवास करनेवाले हरिगण थे। गोलागूलो के विषय में सारण का कथन है कि वे काले मुहवाले, घोर और महाबली होते है (६।२७।३२), पर वानरो की सभ्यता काफी समुन्नत थी।

वानरो का समाज अनेक यूथो या वर्गों में विभक्त था, जिनके मुखिया 'यूथप' कहलाते थे। दुर्धर, केसरी, गवाक्ष और नील प्रसिद्ध यूथप थे। इन यूथपो के ऊपर सनादन और जाववान-जैसे महायूथप हुआ करते थे, और इन सब पर 'महा-यूथप-यूथप' (प्रधान सेनापति) का नियत्रण रहता था। समूची वानर-जाति का सर्वोच्च नेता राजा होता था, जो किष्किधा के गिरि-दुर्ग में अपने यूथपो के साथ रहता था। पहाडो या वनो में निवास करनेवाले समस्त वानर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, नल, नील और हनुमान-जैसे यूथपो की अधीनता में, अतत वाली या सुग्रीव के आज्ञाकारी थे। प्रत्येक वानर व्यक्तिगत रूप से राजा के प्रति अनुरक्त रहता था। शाति-काल में वह उसके लिए स्वदेश में श्रम करता और युद्ध-काल में सुदूर देशो में लडने के लिए जाता। सर्वत्र राजा और प्रजा, शासक और शासित में व्यक्तिगत सबध कायम रहते थे। इस समाज-व्यवस्था से मध्ययुगीन सामत-प्रथा का बहुत साम्य दीख पडता है।

---

१ जे० म्युअर—'ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्टस', भाग २, पृष्ठ ४१६

वानरो का अपना राजनीतिक सगठन भी था। कवि ने 'कपिराज्य' के अनेक उल्लेख दिये है, जो वानरो के एक सुगठित राज्य की ओर सकेत करते है। अगद ने तो एक बार सुग्रीव से स्वतत्र रहकर एक नया वानर-राज्य स्थापित करने की ठान ली थी।[1] वानरो में राजा का पद परपरागत होता था और ज्येष्ठ पुत्र उसका उत्तराधिकारी। राजा का अपना मत्रिमडल तथा अपनी गुप्तचर-व्यवस्था थी। वाली के पिता के दिवगत होने पर उसके मत्रियो ने ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते वाली का राजतिलक किया था। सुग्रीव का राज्याभिषक उसके अमात्यो द्वारा अनुमोदित था और राजकीय वैभव एव शास्त्रीय विधि से सपन्न हुआ था (४।२६)। सुग्रीव के नि सतान होने के कारण वाली के पुत्र अगद को युवराज बनाया गया। राम-सुग्रीव की मित्रता की सूचना गुप्तचरो ने अगद को दी थी और अगद ने तारा को।[2] हनुमान को दूत के कर्तव्यो का पूरा पता था। सुग्रीव को मोह-निद्रा से जगाते समय उन्होने राजकीय 'कोष' की ओर सकेत किया था (४।२९।११)। हर प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक सगठन के मूल मे स्वामित्व और सपत्ति की भावना काम करती है और ये भावनाए वानरो मे भी प्रचलित थी। क्रुद्ध लक्ष्मण को शात करते हुए तारा ने कहा था कि राम का प्रिय करने के लिए सुग्रीव मुझे, रुमा, अगद, राजपाट, धन-धान्य और पशुओ को भी छोड सकते है।[3] सीता को ढूढने दक्षिण दिशा में गए वानरो ने जब समुद्र के विस्तार से अपने प्रयत्नो को कुठित होते देखा, तब अगद ने भावावेश मे कहा था—"अब किसके प्रसाद से हम लोगो का प्रयोजन सिद्ध होगा, और हम सुखपूर्वक लौटकर अपनी स्त्रियो, पुत्रो और घरो को फिर देखेगे ?"—

कस्य प्रसादाद्दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च।
इतो निवृत्ता पश्येम सिद्धार्था सुखिनो वयम् ॥४।६४।१७

वानरो के राज्य को आतरिक स्वतत्रता प्राप्त थी, पर था वह अयोध्या-नरेशो का करद। राम ने शैलो और काननोवाले समस्त वानर-प्रदेश को अयोध्या-साम्राज्य

---

१. अथ मेने हृत राज्य हनूमानङ्गदेन तत् ।४।५४।१, टीका देखिए।

२. अङ्गदस्तु कुमारोऽयं वनान्तमुपनिर्गतः। प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैरासीन्निवेदिता ॥४।१५।१६

३. रुमां मां चाङ्गदं राज्यं धनधान्यपशूनि च। रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम ॥४।३५।१३

के अतर्गत बताकर वाली के वध को उचित और न्यायसगत सिद्ध किया था।[1]

वनचर जाति होने के कारण वानर लोग फल-मूल-जैसे प्रकृति-प्रदत्त आहार से ही अपनी उदर-पूर्ति करते थे। लक्ष्मण को शात करते समय तारा ने 'धान्य' या अन्न का जो उल्लेख किया (४।३५।१३), उससे वानरो के आहार में अन्न के समाविष्ट होने की ध्वनि आती है। पर आग का व्यवहार जानते हुए भी वानरो के लिए भोजन पकाने की कला अज्ञात थी। इस दृष्टि मे वे आर्यो और राक्षसो से पिछडे हुए थे। वानर नर-नारियो दोनो की मद्य-पान मे अत्यधिक आसक्ति थी।

सामान्य धारणा के प्रतिकूल वानर लोग बदरो की तरह नग-धडग नही घूमते थे, वरन सुदर वस्त्राभूषण धारण करते थे। वे प्राय दो वस्त्र पहनते थे। इसका पता राम के प्रति सुग्रीव के इस कथन से चलता है कि वाली ने मुझे मात्र एक वस्त्र देकर ही निकाल दिया।[2] वानर लडने से पहले अपना अधोवस्त्र कमर मे लपेट लिया करते थे। सुग्रीव ने लगोट से अपनी कमर खूब कस लेने के बाद (**गाढ परिहित**) वाली को ललकारने के लिए आकाश-भेदी गर्जना की थी। वाली की अत्येष्टि पूर्ण होने के समय शोक-मग्न सुग्रीव ने गीले वस्त्र पहन रखे थे (**क्लिन्नवाससम्**)। सीता ने सर्वप्रथम हनुमान को एक श्वेत वस्त्र पहने हुए देखा था (**वेष्टितार्जुनवस्त्रम्**)।

वानर आभूषणो का प्रचुर व्यवहार करते थे। सुग्रीव के राजप्रासाद की रमणिया **भूषणोत्तमभूषिताः** थी (४।३३।२३)। वाली को वाल्मीकि ने 'हेममाली' (सोने की माला पहननेवाले) की सज्ञा दी है। राम के चरणो में प्रणाम करते समय सुग्रीव के गले के आभूषण लटकने लगे थे (**प्रलम्बीकृतभूषणा.**)। वानरो मे कलाप्रियता भी विद्यमान थी। पुष्प, गध, प्रसाधन और अगराग के वे शौकीन थे। किष्किधा का वायुमडल चदन, अगुरु और कमलो की मधुर गध से सुवासित रहता था (**चन्दनागुरुपद्मानां गन्धं सुरभिगन्धिताम्**, ४।३३।७)। लक्ष्मण ने सूर्य के समान तेजस्वी सुग्रीव को 'सोने के सिहासन पर बहुमूल्य बिछौने पर विराजमान

---

१. **इक्ष्वाकूणामिय भूमिः ससैलवनकानना। मृगपक्षिमनुष्याणा निग्रहानुग्रहेष्वपि ॥४।१८।६**

२ **एवमुक्त्वा तु मा तत्र वस्त्रेणैकेन वानर। तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वस ॥४।१०।२६**

देखा था—वह दिव्य मालाओ और वस्त्राभूषणो से सज्जित थे तथा अलंकृत युवतिया उन्हे घेरे खडी थीं' (४।३४।६३-४)।

वानरो के रीति-रिवाज बहुत-कुछ आर्यो से मिलते-जुलत थे। उनके मूल आचार-विचार भले ही कुछ और रहे हो, पर राम के समय तक उन्होने आर्यों की सस्कृति और उनके शिष्टाचार के नियम अपना लिये थे। अतिथि-सत्कार तथा सभ्य व्यवहार मे वानर आर्यो से घटकर नही थे। अपरिचितो का परिचित एव विश्वास-भाजन बनने मे हनुमान बेजोड थे। पहली भेंट में ही वह अपने विनम्रतापूर्ण व्यवहार तथा शालीन शब्दो से राम के प्रीति-पात्र बन गए थे। मायावी शत्रु-देश मे भी वह सशक और साव-धान सीता को, अपने युक्तिपूर्ण भाषण और मनोहर शिष्टाचार से, नि शक और हर्षित कर सके थे। एक-दूसरे के प्रति भी वानरो का बर्ताव शिष्ट और विनीत था। लका से हनुमान के लौटने पर साथियो ने उनका जो हार्दिक स्वागत किया, उससे यह प्रकट होता है (५।५७।३२-६)। सुग्रीव ने पहले अपने श्वसुर सुषेण के पास नम्रतापूर्वक जाकर उनके चरणो मे प्रणाम किया और फिर अजलि-बद्ध होकर उनसे सीता की खोज मे पश्चिम दिशा की ओर जाने की प्रार्थना की। आर्य गुरुजनो की उपस्थिति मे वानर उपयुक्त शिष्टाचार का पालन करना भली भाति जानते थे। अपने राज्याभिषेक के बाद जब सुग्रीव पहले-पहल राम के दर्शनार्थ प्रस्रवण पर्वत पर गए, तब वह दूर से ही अपनी पालकी से उतर पडे और समीप आने पर हाथ जोड-कर उनके चरणो मे गिर पडे। अन्य वानरो ने भी अजलि-पुटो द्वारा राम का अभि-वादन किया (४।३८।१५-९)।

उपहारो का आदान-प्रदान करने की प्रथा वानरो में खूब प्रचलित थी। वानर-सैन्य को इकट्ठा करने के लिए सुग्रीव ने जिन अनुचरो को आदेश देकर भेजा था, उन्होने हिमालय पर शिव की यज्ञ-भूमि से दिव्य फल-मूल और ओषधिया अपने राजा को समर्पित करने के लिए ले ली थी (४।३७।३१-२)। सुग्रीव के राज्याभिषेक की घडी मे हनुमान ने राम से साग्रह प्रार्थना की थी कि आप कृपापूर्वक किष्किधापुरी पधारें, जिससे उपकृत वानरराज पुष्पो और रत्नो से आपका सत्कार कर अपना आभार प्रकट कर सके (४।२६।४-८)

सुग्रीव का राज्याभिषेक, जो शास्त्रीय विधि तथा परंपरागत प्रणाली से सपन्न हुआ था, इस बात का सूचक है कि वानर आर्यो की ही रीति-नीति का पालन करते थे। वाली की और्ध्वदैहिक क्रिया भी प्रमाणित करती है कि वानर-जाति अपने

धार्मिक सस्कारो मे सर्वथा आर्य बन गई थी—उसका दृष्टिकोण और उसके आचार-विचार आर्यो के रग में रगे जा चुके थे।

वानर-साम्राज्य की राजधानी किष्किधा नगरी सुख और वैभव की क्रीडास्थली थी। लक्ष्मण के प्रवेश करते समय का उसका जो चित्रण महाकवि की लेखनी से प्रसूत हुआ है, वह वानर-राज्य की आर्थिक समृद्धि पर भरपूर प्रकाश डालता है। 'उसके राजमार्गो पर प्रधान वानर-वीरो के विध्य और मेरु के तुल्य विशाल और अनेक धन-वाले महल बने थे, जो श्वेत मेघो के समान उज्ज्वल, सुगठित मालाओ मे सुसज्जित, प्रचुर धन-धान्य से सपन्न तथा स्त्री-रत्नो मे सुशोभित थे। वानरराज सुग्रीव का शुभ्र प्रासाद इद्र-भवन की शोभा को मात कर रहा था—वह कैलास-शृगो के सदृश शिखरो से युक्त, दिव्य मालाओ से वेष्टित, सुवर्ण के तोरणो से विभूषित, दिव्य पुष्प और इच्छित फल प्रदान करनेवाले मनोहर वृक्षो मे सज्जित तथा सशस्त्र वानरो मे सुरक्षित था। सवारियो और आसनो से सुशोभित सात ड्योढियो के पार सुग्रीव का गुप्त और विस्तीर्ण अत पुर था, जहा सोने-चादी के पलग और अनेक उत्तम मच पडे थे। उन सब पर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे। वहा प्रवेश करते ही लक्ष्मण को सगीत की मीठी तान सुनाई पडी। वीणा की लय पर कोई कोमल कठ से गीत गा रहा था, जिसमे प्रत्येक पद और अक्षर का उच्चारण स्वर-ताल के साथ हो रहा था' (४।३३।१२-२४)।

वाल्मीकि ने वानरो के यौन सबधो में अनियमितता दिखाई है। हनुमान-जन्म की परिस्थितियो मे इसका आभास मिलता है। एक बार केसरी वानर की पत्नी अजना, रूप और यौवन से शोभित होकर, पर्वत-शिखर पर भ्रमण कर रही थी। उसके झीने वस्त्र को वायु ने धीरे से हर लिया, जिससे उसके अगाग का सौदर्य निरावरण हो गया। काम-मोहित होकर वायु ने दोनो भुजाए बढाकर उसका आलिगन कर लिया—अजना के गर्भ में वायु का तेज प्रविष्ट हो गया। उसके विरोध करने पर वायु ने उसे अपने ही समान तेजस्वी पुत्र प्रदान करने का आश्वासन दिया। इससे वह प्रसन्न हो गई और फिर एक निर्जन गुफा में जाकर उसने हनुमान को जन्म दिया (४।६६।८-२०)।

यद्यपि जाववान ने हनुमान को वायु का औरस पुत्र और केसरी का क्षेत्रज पुत्र[1]

१. स त्व केसरिण पुत्र क्षेत्रजो भीमविक्रम। मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ॥४।६६।२९-३०

बताया था और यद्यपि इस बात मे हनुमान स्वयं गर्व का अनुभव करते थे,[1] तथापि उक्त घटना को उस नियोग-पद्धति से नही जोडा जा सकता, जो महाभारत-काल में आकर एक समाज-समत प्रथा बन गई थी। एक तो यहा पर किसीने केसरी के हित में पुत्रोत्पादन करने के लिए वायु को 'नियुक्त' नही किया था। दूसरे, वायु ने काम-भावना से प्रेरित होकर ही अजना से सपर्क किया, जबकि शास्त्रीय आज्ञानुसार नियोग करनेवाले व्यक्ति को स्त्री के पास वासना-रहित होकर जाना चाहिए। अत-एव यह यौन सपर्क स्पष्टत वायु और अजना का एक अमर्यादित कृत्य था।

वाली और सुग्रीव का वैवाहिक जीवन इस बात का उदाहरण है कि वानरो की यौन शिथिलता कभी-कभी अवैध सबधो का रूप धारण कर लेती थी—ऐसे सबध, जिनमें यौन संपर्क धर्म और व्यवहार दोनो दृष्टियो से वर्जित है। राम ने वाली को फटकारते हुए कहा था—"तुम पापी हो और सनातन धर्म का त्याग करके अपने छोटे भाई की स्त्री रुमा का, जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, कामवश उपभोग करते हो। यही कारण है, जिससे मैंने तुम्हारा वध किया है। जो पुरुष अपनी कन्या, बहन अथवा छोटे भाई की स्त्री के पास काम-बुद्धि से जाता है, उसका वध करना ही उसके लिए उपयुक्त दड है" (४।१८।१८-२३)। आश्चर्य की बात है कि सुग्रीव के ऐसे ही पाप पर राम ने आखें मूद ली थी। जब वाली दुदुभि से द्वद्व-युद्ध करते-करते दीर्घ काल तक गुफा से बाहर नही निकला, तब सुग्रीव ने, जो एक वर्ष तक गुफा-द्वार पर उसकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहे थे, उसे मरा हुआ समझ लिया और किष्किधा लौटकर उन्होने राज्य के साथ-साथ अपनी पत्नी रुमा और वाली की पत्नी तारा पर भी अधिकार कर लिया—**राज्यं च सुमहत्प्राप्य तारा च रुमया सह** (४।४६।९)। किंतु जब वाली दुदुभि को परास्त करके लौटा, तब उसने रुमा को छीनकर सुग्रीव को निकाल बाहर किया। अत में वाली की मृत्यु होने पर सुग्रीव ने अपनी पत्नी रुमा तो फिर से पा ही ली, वाली-पत्नी तारा को भी हथिया लिया। मृत शत्रु की विधवा को युद्ध की लूट के रूप मे ले लेने का यह रिवाज वानर-जाति मे अवशिष्ट बर्बर प्रथाओ का सूचक है।

यह भी विचारणीय है कि अपनी पत्नी रुमा को पुन पा लेने पर सुग्रीव ने उसकी न कोई शुद्धि कराई, न अग्नि-परीक्षा ली। पर-पुरुष की रखैल बनकर रहने-

१. **यस्याह हरिणः क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि। हनूमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा॥५।३५।८१**

वाली अपनी भार्या को पुन अगीकार करने में उन्हे कोई आपत्ति नही थी। उन्होने उसे ग्रहण ही नही किया अपितु उस पर अपना समस्त अनुराग भी उडेला। जब लक्ष्मण बेरोकटोक वानरराज के अत पुर में जा पहुचे, तब सुग्रीव रुमा (और तारा) के साथ विलास में डूबे हुए थे।[1]

इस यौन अमर्यादा और अनियमितता के बावजूद वानर-समाज में विवाह का वह सस्कार पूर्णतया रूढ हो चुका था, जो किसी पुरुष और स्त्री को पति-पत्नी के रूप में परस्पर अनुरक्त बना देता है। पुष्पक-विमान में लका से स्वदेश लौटते समय मार्ग में सीता ने यह इच्छा प्रकट की थी कि मै तारा, रुमा तथा अन्य प्रमुख वानर-पत्नियो को साथ लेकर अयोध्या जाना चाहती हू (६।१२३।२४-५)। यदि वानरो में विवाह-सबध प्रचलित न होता तो सीता इन वानर-पत्नियो का उल्लेख न करती। तारा ने भी किष्किधा के विवाहित और अविवाहित वानरो का उल्लेख किया था।[2] वाली की मृत्यु पर उसके विलाप-प्रलाप में पति-पत्नी-सबध की प्रगाढता ध्वनित होती है।

स्त्री-पुत्रो की ममता और परिवार का बधन ही घर-बार से दूर विचरण करनेवाले वानरो का प्रधान सबल था—प्रिय जनो की स्मृति उन्हें लक्ष्य-प्राप्ति करके शीघ्र घर लौटने को आदोलित करती थी। हनुमान ने सीता की खोज करते समय अगद को सचेत कर दिया था कि इन चचल-चित्त वानरो को अपने स्त्री-पुत्रो से बिछुडे काफी समय हो गया है, और कोई आश्चर्य नही यदि ये अब, उनकी याद में उद्विग्न होने के कारण, तुम्हारी आज्ञा मानने से इन्कार कर दे (४।५४।७,९)। वानरो के इस पारिवारिक प्रेम से परिचित होने के कारण ही राम ने लका-विजय के बाद इद्र से यह वर मागा था कि जो वानर मेरे लिए युद्ध में मरकर अपने स्त्री-पुत्रादि से बिछुड गए है, उन्हे आप जीवित कर दें (६।१२०।५-६)।

वानरो के मुख से कवि ने उच्च एव आदर्श नैतिक भावनाओ को अभिव्यक्त कराया है। उदाहरणार्थ, अगद की दृष्टि में उसके चाचा सुग्रीव को धर्म का बिलकुल ज्ञान नही था, क्योकि 'उन्होने मेरे पिता के जीवन-काल में ही मेरी माता तारा का,

---

१ स्वां च पत्नीमभिप्रेता तारा चापि समीक्षिताम्। विहरन्तमहोरात्र कृतार्थं विगतज्वरम्॥४।२९।४

२ अभार्या सहभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिण.।४।१९।१६

जो बडे भाई की पत्नी होने के नाते उनके लिए मातृ-तुल्य होनी चाहिए थी, कामवश उपभोग किया था'।[1] नैतिक उदात्तता की दृष्टि से यह कथन आर्यों के आदर्श से मेल खाता है। जब वायु ने कामोन्मत्त होकर अपनी लंबी भुजाओ से अजना का आलिंगन किया और जब 'आत्मा से आत्मा मिल चुकी थी' (गतात्मा), तब उस वानरी ने विरोध करते हुए कहा कि यह कौन है, जो मेरे पातिव्रत्य को भग करने का दु साहस कर रहा है—**एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति** (४।६६।१६)। सीता की खोज मे रावण के अत पुर को ढूढते समय हनुमान को मद्य और मदन के नशे मे चूर अनगिनत सुदरिया अस्तव्यस्त दशा मे निद्रा-मग्न दिखाई पडी थी। इस पर वह धर्म-लोप के भय से सशकित होकर सोचने लगे—"मैंने आज तक कभी दूसरो की स्त्रियो पर दृष्टि नही डाली, और आज इस प्रकार अत पुर में सोई पराई स्त्रियो को देखना मेरे धर्म को बिलकुल नष्ट कर देगा।" कुछ देर बाद उन्हे यह जानकर आत्म-सतोष की प्रतीति हुई कि "इन पर-स्त्रियों को मैंने काम-बुद्धि से नही देखा है। समस्त इद्रियो की शुभ या अशुभ क्रियाओ मे प्रवृत्ति का कारण मन ही है और मेरा मन निर्विकार रहा है" (५।११।३७-४२)। वाली-कृत राम की आलोचना आज भी नैतिक तर्क का एक ज्वलंत नमूना है (४।१७)।

रामायण के अध्ययन से वानरो के धर्म-कर्म की भी जानकारी मिलती है। वे आर्यों के ही देवताओ की पूजा-अर्चना करते और उन्हीके धार्मिक कृत्यो का पालन करते थे। वे पितरो के लिए श्राद्ध और तर्पण करते थे। धार्मिक अनुष्ठानो मे वे ब्राह्मण कर्मकाडियो का सहयोग लेते थे। अपने राज्याभिषेक के अवसर पर सुग्रीव ने रत्न-वस्त्र एव भोज्य-पदार्थों का दान देकर द्विज-श्रेष्ठो को प्रसन्न किया था (४।२५।२९)। समृद्धि-प्राप्ति के लिए वानर स्वस्त्ययन-जैसे मागलिक कृत्य करते थे। वाली को विदा करते समय तारा ने प्रदक्षिणा करके उसकी विजय-कामना से विधिपूर्वक स्वस्त्ययन किया था।[2] लका की ओर उड़ान भरने से पहले हनुमान ने सूर्य, महेंद्र, पवन, स्वयंभू ब्रह्मा और भूतो को नमस्कार किया था (५।१।८)। लका में भी अशोकवाटिका मे घुसने से पहले उन्होने विजय की इच्छा से ब्रह्मा,

१. भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम्। धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः॥ कथ स धर्मं जानीते... ।४।५५।३-४

२. चचार रुदती मन्दं दक्षिणा सा प्रदक्षिणम्। ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी॥४।११२।११

अग्नि, वायु, वज्रधारी इद्र, पाशयुक्त वरुण, चद्र, सूर्य, अश्विन, मरुत, ऋषियो तथा सब भूतो की अभ्यर्थना की थी (५।१३।६२-५)।

वानरो की जाति पर्याप्त सुसस्कृत और सुशिक्षित थी। सुग्रीव के सचिव हनुमान रामायण के सर्वाधिक प्रमुख वानर है, जिन्होंने अपनी सस्कृति और शिक्षा से राम को अतिशय प्रभावित किया था। वह 'वाक्यज्ञ' और 'वाक्य-कुशल' थे (४।३।२४), अर्थात उन्हे शब्दो का शास्त्रीय ज्ञान तो था ही, उनके समुचित प्रयोग में—व्याकरण, व्युत्पत्ति और अलकारो के व्यवहार में—भी वह पूर्णतया विचक्षण थे। उनकी प्रथम बातचीत से राम ने यह अनुमान लगा लिया कि 'जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नही मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नही किया तथा जो सामवेद का विद्वान नही है, वह इस प्रकार सुदर भाषा में वार्तालाप नही कर सकता। इन्होने निश्चय ही व्याकरण-शास्त्र का कई बार स्वाध्याय किया होगा, क्योकि बहुत-सी बातें करने पर भी इनके मुह से कोई अशुद्धि नही निकली।'[1] हनुमान एक आदर्श वक्ता थे—उनकी वाणी बुद्धि के आठो गुणो से भूषित थी।[2] वह उन आदर्श सचिवो और दूतो में से थे, जो अपनी वाणी का आश्रय लेकर ही अपने स्वामी का मनोरथ पूरा कर लिया करते है।[3] तलवार लेकर वध करने को उतारू शत्रु का हृदय भी उनकी-सी अद्भुत वाणी से बदल सकता है।[4] ऐसे पडित-प्रवर को लक्ष्मण ने आरभ से ही 'विद्वन्' कहकर सबोधित किया था (४।३।३७)

सुग्रीव ने उनमें 'बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-काल के अनुसार आचरण और

---

१ नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिण। नासामवेदविदुषः शक्यमेव विभाषितुम्॥ नून व्याकरण कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥४।३।२८-९

२. बुद्ध्या ह्याष्टागया युक्त त्वमेवार्हसि भाषितुम्। ६।११३।२४; शुश्रूषा श्रवण चैव ग्रहण धारण तथा। ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणा॥ अर्थात सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, स्मरण रखना, तर्क-वितर्क द्वारा सिद्धात का निश्चय करना, अर्थ का ज्ञान होना तथा तत्व को समझना, ये बुद्धि के आठ गुण है।

३. एवगुणगणैर्युक्ता यस्य स्यु. कार्यसाधकाः। तस्य सिध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिता॥४।३।३५

४. कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि।४।३।३३

नीति' इन गुणो का समवाय पाया था।[1] उनमे सिद्धि, मति, व्यवसाय, शूरता और शास्त्र-ज्ञान सव कुछ प्रतिष्ठित था।[2] विभीषण के राम की शरण में आने पर हनुमान ने उपयुक्त राय देकर अन्य वानर-वीरो की तुलना मे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की थी—वह सभ्य, विनीत और शास्त्र-सस्कार से सपन्न थे, उनके वचन मधुर, सारगर्भित और सक्षिप्त थे, तर्क, स्पर्धा, सघर्ष, वुद्धि के अभिमान अथवा किसी प्रकार की कामना से उन्होने अपनी समति नही दी थी।[3]

हनुमान ओषधियो का भी ज्ञान रखते थे, भले ही वह सुषेण और जाववान की तरह निपुण न रहे हो। उनका सुशिक्षित मस्तिष्क नये-नये स्थानो की सास्कृतिक विशेषताओ का मूल्याकन करने मे सदा सजग रहता था। सीता की खोज करते समय उन्होने रमणीय ऋक्षविल को ढूढ निकाला तथा उसकी सुसस्कृता तपस्विनी अधिष्ठात्री स्वयप्रभा का परिचय प्राप्त कर गुफा के इतिहास की शोध कर डाली। राम के गुप्त दूत की हैसियत से वह सीता-दर्शन करने के साथ-साथ महानगरी लका की सुनियोजित निर्माण-व्यवस्था तथा वहा के कलापूर्ण आकर्षणो और रमणी-रत्नो के सौदर्य का भी अवलोकन करना नही चूके। सुशिक्षित सीता से सभाषण करते समय उन्होने शास्त्र-ज्ञान-प्रसूत उपमाओ का जो विवेकपूर्ण उपयोग किया तथा सीता के विश्वासार्थ राम की वौद्धिक, नैतिक और शारीरिक विशेषताओ का जो सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया, वह सव उनकी उत्कृष्ट वौद्धिक प्रतिभा का परिचायक है, क्योकि कोई भी व्यक्ति किसीकी शिक्षा-दीक्षा का समालोचन एव विश्लेषण तव तक नही कर सकता, जव तक वह स्वय शिक्षित न हो और समालोचित शिक्षा से अभ्यस्त न हो। सक्षेप मे, हनुमान एक पूर्ण मानव, वानर-जाति के सर्वोत्तम रत्न थे, जिनमे वल, शूरता, शास्त्र-ज्ञान, उदारता, पराक्रम, दक्षता, तेज, क्षमा, धैर्य, स्थिरता, विनय आदि उत्तम गुणो का अद्भुत एव अनुकूल समिश्रण था—**एते चान्ये च वहवो गुणास्त्वय्येव शोभना.** (६।११३।२५-६)।

---

१. त्वय्येव हनुमन्नस्ति वल वुद्धिः पराक्रमः। देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित ॥४।४४।७

२. हनुमतोह सिद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम। व्यवसायश्च शौर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम् ॥५।६४।३३-४

३. न वादान्नापि संघर्षान्नाधिक्यान्न च कामतः। वक्ष्यामि वचनं राजन्यथार्थं रामगौरवात् ॥६।१७।५२

वाल्मीकि ने प्रसगवश और भी कई वानरो की शिक्षा-दीक्षा की ओर सकेत किया है। विभीषण की शरणागति के समय राम ने जिन वानर-वीरो से परामर्श किया था, उनमें शरभ अपने अर्थ-निश्चय (राजनीतिक समस्याओ के समाधान) के लिए, जाववान अपनी शास्त्र-बुद्धि, विचक्षणता और दोप-रहित वक्तृता के लिए तथा मैद अपनी युक्तियुक्तता के लिए प्रख्यात थे। सुग्रीव ने अपने भाषण में कौओ और उल्लुओ के आख्यान का हवाला देकर यह समति दी कि भ्रातृ-द्रोही राक्षस विभीषण को उसके सचिवो-सहित मार डालना चाहिए। इस पर राम ने प्रत्युत्तर दिया कि हे हरीश्वर, जैसी राय तुमने दी है, वैसी तो शास्त्रो का अध्ययन न करने-वाला और गुरुजनो की सेवा न करनेवाला भी नही दे सकता। राम ने कडु ऋषि की एक गाथा को उद्धृत किया और उसमें निर्दिष्ट शरणागत-रक्षा के उपदेश को हृदयगम करने के लिए सुग्रीव से कहा (६।१७-८)। इससे यह सिद्ध है कि सुग्रीव ने निश्चय ही शास्त्राध्ययन किया था और गुरुजनो से शिक्षा भी ग्रहण की थी तथा यह कडु-जैसे ऋषि द्वारा रचित गाथा-साहित्य से भी लाभ उठाने मे समर्थ थे।

वानर लोग सुदूर देशो की यात्रा करने के शौकीन थे। उत्तरकाड मे वर्णन आता है कि वाली 'सध्योपासन के लिए प्रतिदिन चारो समुद्रो की यात्रा करता था'।[1] अपनी ज्ञान-पिपासा शात करने के लिए हनुमान ने विश्व-भ्रमण किया था। जाववान ने समुद्र-मथन के समय इक्कीस बार पृथ्वी-परिक्रमा की थी। विभिन्न देशातरो से परिचित होने के कारण वानरो को ओषधियो और उनके प्राप्ति-स्थान का भली भाति पता था। सच तो यह है कि वानर उस युग के श्रेष्ठ चिकित्सक थे। लका-युद्ध के दौरान में राम, लक्ष्मण तथा अन्य अनेक वीरो की जीवन-रक्षा वानर-वैद्य सुषेण की सामयिक चिकित्सा से ही सभव हो सकी थी।

वाल्मीकि ने वानर-नारियो मे वाली और सुग्रीव की पत्नी तथा सुषेण की पुत्री तारा को एक बहुज्ञ, तेजस्वी और प्रतिभाशालिनी नारी के रूप में चित्रित किया है। जब सुग्रीव दूसरी बार वाली से लडने आये, तब तारा ने इसमें कोई रहस्य भापकर अपने पति से अनुरोध किया कि आप सुग्रीव और राम से समझौता कर लें। यद्यपि वाली ने तारा की राय न मानी, फिर भी वह उसके सुहृदोचित स्नेह और

---

१ चतुर्ष्वपि समुद्रेषु संध्यामन्वास्य वानरः।७।३४।३३

परामर्श के लिए आभार प्रकट करना न भूला।[1] प्राण-त्याग से पहले उसने तारा की बुद्धिमत्ता की प्रभूत प्रशसा करते हुए सुग्रीव से कहा था—

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पातिके च विविधे सर्वत. परिनिष्ठिता॥
यदेषा साध्विति ब्रूयात्कार्यं तन्मुक्तसंशयम्।
न हि तारामतं किंचिदन्यथा परिवर्तते॥४।२२।१३-४

अर्थात सुषेण की पुत्री यह तारा सूक्ष्म विषयो के निर्णय करने तथा नाना प्रकार के उत्पातो के चिह्नो को समझने मे सर्वथा निपुण है। जिस कार्य को यह अच्छा बताये, उसे तुम नि शक होकर कर डालना—तारा की किसी भी संमति का उलटा परिणाम नहीं होता।

स्पार्टा की स्त्रियो की तरह तारा को भी वीरोचित प्रशिक्षण मिला जान पडता है। वह एक 'अनिंद्यवर्णा, चारुनेत्रा, प्रियवादिनी और चारुहासिनी' सुदरी थी। उस मनस्विनी महिला की लोक मे पर्याप्त ख्याति थी (लोकश्रुता)। उसका पुराण-ज्ञान विस्तृत था। क्रुद्ध लक्ष्मण को तुष्ट करने के लिए उसने पुराणो के अनेक अश प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये थे (४।३३।५१-७)। सीता की खोज कराने में सुग्रीव की शिथिलता का कारण बताते हुए उसने, परपरागत ज्ञान के आधार पर, लक्ष्मण से कहा था कि सुग्रीव तो स्वभाव से ही चचल वानर है, उस पर उन्हे राज्य मिल गया है, ऐसी दशा में वह सुख-भोग मे क्यों न आसक्त होगे? अपनी स्त्री-सुलभ चतुरता, काता-संमित अनुनय-विनय एव धर्मानुकूल सारगर्भित वचनो से चद्रमुखी तारा ने सुग्रीव के प्रति लक्ष्मण के मनोमालिन्य को दूर कर दिया। निश्चय ही तारा एक असाधारण नारी थी; स्त्रियोचित दाक्षिण्य और गुणो के साथ-साथ उसमें उच्च कोटि की राजनयज्ञता और वाग्मिता विद्यमान थी—सरस भावुकता के साथ क्षत्रियोचित निडरता भी थी। सुख के समय सुकुमार और विलास-प्रिय, पर आवश्यकता आ पडने पर कठोर और दृढ निश्चयी बनने की उसमे क्षमता थी। वास्तव में तारा ही पहले वाली और फिर सुग्रीव के द्वारा किष्किधा का राज्य-संचालन करती थी—उन दोनो की नीतिया और कार्य तारा के निर्देशानुसार निर्धारित होते थे। जब सुग्रीव भोग-विलास में निमग्न थे, तब तारा ने ही सजग रहकर सीता की खोज का प्रबंध

---

१. कृतं तारे सहायस्त्वं दर्शितं सौहृदं मयि।४।१६।९

करवाया था (४।३५।१९-२२)। सीता ने तारा के इस विशिष्ट व्यक्तित्व को भली भाति परखा होगा, तभी उन्होने लका से अयोध्या की विजय-यात्रा में समिलित होने के लिए तारा को भी आमत्रित किया था।

वानर-सस्कृति की उक्त विवेचना के बाद यह प्रश्न स्वत ही समाधान के लिए उठ खडा होता है कि वानर बदर थे या मनुष्य। इसमे सबसे बडी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि स्वय कवि ने वानरो के चित्रण में परस्पर विरोधी या असगत बातों का आश्रय लिया है। कभी-कभी तो वह उन्हें निरे बदरो के रूप में चित्रित करता है और इस साम्य को कायम रखने के प्रयत्न में अनेक युक्तियो का सहारा लेता है। पहली बार सुग्रीव का वर्णन करते समय कहा गया है कि 'वह वानरेंद्र मन को वश में रखनेवाले, महान पराक्रमी, तेजस्वी, अनत कातिमान, सत्यप्रतिज्ञ, विनीत, धैर्यवान और परम बुद्धिमान है' (३।७२।१३-४)। निस्सदेह यह वर्णन बदरो का-सा नही प्रतीत होता। किंतु सुग्रीव का बदरपन तब उद्घाटित हो जाता है जब राम-लक्ष्मण को देखकर वह सशकित, भयग्रस्त और उद्विग्न हो उठते हैं। इस दृश्य के अकन में कवि ने 'वानर' शब्द के अतिरिक्त उसके 'प्लवगम', 'हरि', 'शाखामृग', 'कपि' आदि पर्यायो का भी प्रयोग किया है। सुग्रीव को धैर्य बधाते हुए हनुमान उनके बदरपन की ही दुहाई देते हैं—"हे प्लवगम, इस समय आपका बदरपन बिलकुल साफ दिखाई दे रहा है, तभी तो आप ऐसे अधीर हो गए है कि अपनी बुद्धि को भी स्थिर नही रख सकते।"[1] तत्पश्चात प्रकृतिस्थ होने पर और राम के सौहार्द का आश्वासन मिलने पर सुग्रीव ने रमणीय वेश-भूषा में सज्जित होकर (**दर्शनीयतमो भूत्वा**) अपना हाथ बढाते हुए उनसे प्रगाढ मैत्री का प्रस्ताव किया। राम ने भी उनका हाथ अपने हाथ मे लेकर हर्ष के साथ उन्हे छाती से लगा लिया। हनुमान ने दो लकडियो को रगडकर अग्नि प्रज्वलित की। राम और सुग्रीव दोनो ने अग्नि की प्रदक्षिणा की, और इस प्रकार उनमें विशुद्ध आर्य ढग से प्रगाढ मैत्री-सबध स्थापित हो गया। वास्तविक बदर अग्नि के उपयोग से अनभिज्ञ होते हैं और उसके धार्मिक या कर्मकाडीय महत्व का उन्हें कोई पता नही रहता। इस मानवीय आचरण के तुरत बाद ही सुग्रीव ने साल-वृक्ष की पत्ती और फूलोवाली एक शाखा तोडी और उसे बिछाकर वह राम के साथ

---

१. **अहो शाखामृगत्व ते व्यक्तमेव प्लवगम। लघुचित्ततयात्मानं न स्थापयसि यो मतौ ॥४।२।१७**

उस पर जा बैठे। इसी प्रकार हनुमान ने भी चदन-वृक्ष की एक पुष्पयुक्त डाली तोडकर लक्ष्मण को बैठने के लिए दी।

वानरो में इस प्रकार बदरो और मनुष्यो का-सा व्यवहार दिखाकर कवि विरोधाभास की सृष्टि कर देता है। राम और वाली के सवाद मे यह विरोधाभास खुलकर प्रकट हुआ है। मरणासन्न वाली ने राम पर युद्ध के नियमो का भग करने का आरोप लगाया और उनके इस अनैतिक कृत्य को अनावश्यक बताते हुए कहा—"मै तो पाच नखोवाला वनवासी वानर हूं। पंडितजन मेरे चमड़े और हड्डियो को छूते भी नही और मेरा मास तो अभक्ष्य है ही। ऐसी स्थिति मे मेरा शिकार करना एक निरर्थक क्रूरता का कार्य था।" इसके उत्तर में राम ने कहा—"किष्किधा के सार्वभौम सत्ताधारी होने के नाते हमे यह अधिकार है कि सुग्रीव की पत्नी से अवैध सबध रखने के दंडस्वरूप तुम्हारा वध कर दें।" बदरो की जाति को आर्य-आदर्श की कसौटी पर कसने की यह प्रवृत्ति विचित्र जान पडती है।

अन्यत्र, वानरो की सस्कृति को महान एव समुन्नत अकित किया गया है। सुग्रीव का राज्याभिषेक तथा वाली की अत्येष्टि दोनो वैदिक विधि से सपन्न हुए थे। सुग्रीव, हनुमान तथा अगद का जो प्रभावशाली चित्रण कवि ने किया है, वह उनकी महान सस्कृति का सूचक है। वानरो के सपत्ति-वैभव, वसनाभरण, शिक्षा-दीक्षा, धर्म-कर्म तथा सामाजिक और राजनीतिक सगठन के वर्णन से यही स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि रामायणकार ने राम के सहयोगियो को वस्तुत बदर नही माना है।

इस जाति के जिन नामो का उल्लेख रामायण में आया है, उनमें 'वानर' शब्द १,०८० बार प्रयुक्त हुआ है, और उसीके पर्याय-रूप मे 'वनगोचर', 'वनकोविद', 'वनचारी', 'वनौकस्' आदि शब्द आये है। इनसे यह स्पष्ट है कि 'वानर' शब्द बदर का सूचक न होकर वनवासी का द्योतक है। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करनी चाहिए—वनसि (अरण्ये) भव चरो वा इति वानर =वनौकस, आरण्यक.। वानरो के लिए 'हरि' शब्द ५४० बार आया है। इसे भी 'वनवासी' आदि समासों से स्पष्ट किया गया है। 'प्लवग' शब्द २४० बार प्रयुक्त हुआ है, और दौडने की क्षमता का व्यजक है। वानरो की कूदने-दौडने की प्रवृत्ति को सूचित करने के लिए प्लवग या प्लवगम शब्द का व्यवहार उपयुक्त भी है। हनुमान उस युग के एक अत्यंत शीघ्र-गामी दौडाक या धावक थे, इसीलिए उनकी सेवाओ की कई बार आवश्यकता पडी

थी। 'कपि' शब्द ४२० बार आया है, जो सामान्यत बदर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्योकि रामायण में वानरो को पूछयुक्त प्राणी बताया गया है, इसलिए वे कपयः थे। वानरो को मनुष्य मानने में सबसे बडी बाधा उनकी यही पूछ है। पर यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो यह पूछ हाथ-पैर के समान शरीर का अभिन्न अग न होकर वानरो की एक विशिष्ट जातीय निशानी थी, जो सभवत बाहर से लगाई जाती थी। तभी तो हनुमान की पूछ जलाये जाने पर भी उन्हे किसी प्रकार की शारीरिक पीडा का अनुभव नही हुआ। रावण ने पूछ को कपियो का सर्वाधिक प्रिय भूषण बताया था—कपीना किल लागूलमिष्टं भवति भूषणम् (५।३३।३)।[1]

वदर न होते हुए भी वानरो की आकृति, रूप-रग, मानसिक चेष्टाओ तथा शारीरिक हरकतो में बदरो के-से लक्षण अवश्य मौजूद थे। चपल, निरकुश और रूखा स्वभाव, रोएदार, विकृत आकृति, कूदने-फादने की प्रवृत्ति, विलास-प्रियता, यौन-सबधो में अनियमितता, जगलो और पहाडो में निवास, पेडो, चट्टानो, नखों और दातो का शस्त्र-रूप में व्यवहार, और किलकारिया मारने में रुचि—इन विशेषताओवाली विचित्र जाति को देखकर आर्यों ने उसे बदरो के समान ही समझ लिया होगा, और जब कभी वह इन वानरी प्रवृत्तियो को प्रकट करती, तब आर्य उसे कपि या शाखामृग-जैसे नामो से सबोधित करते। राक्षस लोग वानरो को कपि या वानर अहकारवश या उनके प्रति तुच्छता की भावना के कारण कहते थे, वैसे

---

१ पूछ का वर्णन विशेष कर हनुमान और उनके लका-दहन के सिलसिले में ही अधिक हुआ है। वाली, सुग्रीव, अगद तथा वानर-स्त्रियो में पूंछ होने का विशेष प्रमाण नहीं मिलता। अन्वेषको ने इतिहास में पूंछ लगाने-वाले व्यक्तियो या जातियों का अस्तित्व ढूढ निकाला है। बंगाल के कवि मातृगुप्त हनुमान के अवतार माने जाते थे और वह एक पूछ लगाते थे (दिनेशचंद्र सेन—'बगाली रामायण', पृ० ५२)। भारत के एक राज-परिवार में राज्याभिषेक के समय पूछ धारण करने का रिवाज प्रचलित था (वही)। श्री विनायक दामोदर सावरकर ने अपने अडमान-कारावास के सस्मरणो में लिखा है कि इस द्वीप में पूछ लगानेवाली एक आदिवासी जाति रहती है (महाराष्ट्रीय-कृत 'रामायण-समालोचना')। विजगापत्तन के शवरों में पूंछ आभूषण के रूप में पहनी जाती है (जी० रामदास)।

ही जैसे रूसी लोग किसी समय जापानियो को 'पीला बदर' (यलो मकी) कहकर उनका उपहास किया करते थे।[१]

अब यह प्राय. स्वीकार कर लिया गया है कि प्राचीन भारत में पशुओ के नाम से अभिहित कई जातिया निवास करती थी, जैसे नाग (साप), ऋक्ष (भालू) और वानर (बदर)। कालातर मे लोक-मानस ने उन्हे आकृति और स्वभाव में उन-उन पशुओ का ही प्रतिरूप मान लिया, जिनका नाम वे धारण करती थी, या जिनके साथ उनका कुछ-कुछ रूप-साम्य था, अथवा जिनकी वे देवता-रूप मे पूजा करती थी, अथवा जिनको उन्होने अपना जातीय चिह्न मान लिया था।[२]

श्री मन्मथनाथ राय[३] ने वानरो को भारत के मूल निवासी व्रात्य माना है, जो बाद में आर्यों के आने पर दक्षिणी पठार के उपजाऊ भू-भागो मे जाकर बस गए। राम के सपर्क में आने से पहले ही वे आर्यो के प्रभाव-क्षेत्र में आ चुके थे। श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री[४] ने वानरो को एक आर्य-जाति माना है, जो दक्षिण भारत में बस जाने के कारण उत्तर भारतवासी अपने मूल बधुओ से दूर पड़ गई। बाद मे आर्य-सस्कृति से प्रभावित होने पर वह प्रगति करने लगी।

गोरेशियो, ह्वीलर आदि अन्य विद्वान वानरो को दक्षिण भारत की पहाडियो में निवास करनेवाली अनार्य-जाति मानते है। वे मूलत वनचर लोग थे, पर, जैसा कि उनकी शिक्षा-दीक्षा एव धार्मिक कृत्यो से प्रकट है, वे अन्य जातियो की अपेक्षा अधिक सरलता और शीघ्रता से आर्य-सस्कृति में दीक्षित हो गए। सभवत राजा दड की दक्षिण-विजय के बाद यह आदिवासी जाति विजयी जाति के प्रत्यक्ष प्रभाव में आई और इसने अपने को भानेवाले आर्य रीति-रिवाजो और मान्यताओ को ग्रहण कर लिया। वानरो का राज्य कई छोटे-छोटे गावो और नगरो से मिलकर बना था। उनके कुछ कबीले देश के सुदूर भागो में भी रहते थे। वानर-राज्य से लगी हुई मधु-वन नामक उनकी एक विहार-भूमि थी। वानरो की शासन-व्यवस्था राजा, परिषद, सेना, मत्री आदि की सहायता से चलती थी। राज्याधिकार परपरागत था।

---

१. चि० वि० वैद्य—'दी रिडिल आफ दि रामायण', पृ० ९६
२. वही।
३. 'सरस्वती भवन स्टडीज', भाग ५, पृ० ७३
४. 'इडियन कल्चर', भाग ५, पृ० १९५

सुग्रीव का राज्याभिषेक इस नियम का एक अपवाद था। वानर लोग काफी शिष्ट और सभ्य थे, यद्यपि सास्कृतिक दृष्टि से वे आर्यों और राक्षसो से पिछडे हुए थे। फिर भी उन्हें नील-जैसे स्थपति को जन्म देने का गौरव प्राप्त था, जो भारत और लका के मध्यवर्ती समुद्र पर सेतु बनाकर अपने अद्भुत वास्तुकला-कौशल का परिचय दे सकता था।

: ५ :

वर्ण

रामायण-युग में आर्यो का समाज निश्चित रूप मे जाति-पाति में विभक्त हो चुका था, किंतु यह विभाजन मूलत सुविधा के लिए किया गया एक प्रकार का श्रम-विभाजन था। बाद के युग की कट्टरता का इसमे समावेश नही हो पाया था और इसे मानव-प्रगति मे बाधक नही समझा जाता था। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा रामायण-काल की जाति-व्यवस्था अधिक कठोर थी। जहा ऋग्वेद के समय की जातिया वर्गों के रूप में अधिक रूढ थी—उनकी स्थिति बहुत-कुछ अनिश्चित और घुली-मिली थी—वहा रामायण-काल की जातियो के बीच एक सुनिश्चित पार्थक्य स्थापित हो चुका था और उनके कर्तव्यो एव अधिकारो का बटवारा भी हो गया था।

वाल्मीकि ने चारो वर्णों (चातुर्वर्ण्य) का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] महाराज दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में सहस्रो की सख्या मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आमत्रित किये गए थे।[2] अयोध्या नगरी के वर्णन में कहा गया है कि उसमे अपने-अपने कर्मों मे सलग्न ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बसते थे—**ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा** (२।१००।४१)। यज्ञ-समारोहो मे ब्राह्मणो, राजाओ (क्षत्रियो) तथा नागरिको (जो अधिकाश वैश्य होते थे) के लिए पृथक निवास-स्थान बने रहते थे (१।१३।१०-११)। वन जाते समय राम जब नाव मे गगा पार कर रहे थे, तब उन्होने ब्राह्मणो और क्षत्रियो के लिए विहित मत्रो का जप किया था—**ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः** (२।५२।७८)। सार्वजनिक उत्सवो में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के साथ तदनुरूप व्यवहार किया जाता था—**सर्वे वर्णा यथापूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः** (१।१३।१४)।

---

१. **चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन्**। ४।४।६

२. **निमन्त्रयस्व...ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्चैव सहस्रशः**। १।१३।२०

इन उदाहरणो से यह सिद्ध होता है कि विभिन्न जातियो के बीच स्पष्ट मर्यादाए तथा समान और गौरव की पृथक-पृथक धारणाए स्थापित हो गई थी।

जहा तक वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का प्रश्न है, रामायण में वैदिक 'पुरुष-सूक्त' द्वारा प्रतिपादित इस मत को स्वीकार किया गया है कि विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओ से क्षत्रिय, जाघो से वैश्य और पैरो से शूद्र उत्पन्न हुए।[1] इस वर्णन में रूपक-शैली मे श्रम-विभाजन की दृष्टि से समाज का चार भागो में बटवारा किया गया है। वाणी के स्थान मुख से प्रकट होनेवाले ब्राह्मण मनुष्य-जाति के शिक्षक-रूप माने गए। बल-वीर्य-सूचक भुजाओ से सबद्ध होने के कारण क्षत्रियो का कर्म शस्त्र-धारण करना और प्रजा की रक्षा करना बन गया। शरीर के अधो-भाग—जाघो—से निकलनेवाले वैश्यो का काम श्रमपूर्वक धन और अन्न का उत्पादन करके समाज का भरण-पोषण करना निर्धारित किया गया। इसी प्रकार पैरो से शूद्रो की उत्पत्ति बताकर उन्हे अन्य वर्णों का सेवक बनाया गया।

प्रथम तीन वर्ण 'द्विज' (दो बार जन्म लेनेवाले) कहलाते थे।[2] उपनयन-सस्कार उनके दूसरे जन्म का सूचक था। इसी सस्कार से उन्हे शूद्रो की अपेक्षा विशेष अधिकार प्राप्त होते थे। वेदो का अध्ययन, व्रत-नियमो का पालन, यज्ञो का अनुष्ठान तथा दान, ये ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो के अनिवार्य सामान्य कर्तव्य-कर्म थे। अयोध्या मे रहनेवाले चारो वर्ण 'ब्राह्मणो के अनुयायी, देवताओ और अतिथियो के पूजक, कृतज्ञ, उदार, शूर, पराक्रमी तथा धर्म और सत्य का पालन करनेवाले थे'।[3]

वर्ण-व्यवस्था के आरभ मे ही वेदो का पठन-पाठन (स्वाध्याय) और तपस्या ब्राह्मणो के मुख्य कर्म रहे है। वेदवेत्ता ब्राह्मणो (ब्राह्मणा वेदपारगा) का रामायण में स्थल-स्थल पर उल्लेख हुआ है। किंतु ब्राह्मणो के लिए शूद्र को वैदिक ज्ञान प्रदान करना निषिद्ध था। इसका सकेत लका में विलाप करती हुई सीता के इस कथन से मिलता है कि मै अनार्य रावण को अपना अनुराग वैसे ही अर्पित नही कर सकती,

---

१. मुखतो ब्राह्मणा जाता उरस क्षत्रियास्तथा। ऊरुभ्या जज्ञिरे वैश्या पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुति ॥ ३।१४।३०

२. द्वाभ्या जन्मसस्काराभ्यां जायते इति द्विज।

३. वर्णेष्वग्र्यचतुर्येषु देवतातिथिपूजका.। कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रम-संयुता.॥ १।६।१७

जैसे ब्राह्मण शूद्र को मत्र-ज्ञान नही दे सकता—

भावं न चास्याहमनुप्रदातु-
मलं द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय ।५।२८।५

अध्ययन-अध्यापन का कार्य ब्राह्मणो के लिए जीविका का पर्याप्त साधन नही रहा होगा, अत. उन्हे यज्ञो मे पौरोहित्य-कर्म करने का एक-मात्र अधिकार दे दिया गया। कुछ ब्राह्मण कौटुबिक पुरोहित बन गए और कुछ श्रौत एव स्मार्त कर्मों में ऋत्विज का काम करने लगे। बालकाड के आख्यान-भाग से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणो के लिए अपात्रो का पुरोहित बनना वर्जित एव अशोभनीय था। यह भी प्रतीत होता है कि ब्राह्मणो ने पौरोहित्य-विषयक अपने एकाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए अपना एक दृढ सगठन बना लिया था। यदि कोई विजातीय उनके इस अधिकार को हडपने की चेष्टा करता तो उसका प्रबल विरोध किया जाता था। उदाहरणार्थ, जब वसिष्ठ के पुत्रो ने राजा त्रिशकु के यज्ञ में पुरोहित बनना अस्वीकार कर दिया, तब त्रिशकु ने किसी और को अपना पुरोहित बनाने की इच्छा प्रकट की। इसे वसिष्ठ-पुत्रो ने अपने एकाधिकार पर प्रहार समझा और क्रुद्ध होकर राजा को चाडाल हो जाने का शाप दे दिया। जब विश्वामित्र ने (जो तब तक ब्राह्मणत्व नही पा सके थे) त्रिशकु का यज्ञ कराना स्वीकार कर लिया, तब देवताओ ने उस यज्ञ की बलि लेने से इन्कार कर दिया, क्योकि 'जिस यज्ञ मे याजक क्षत्रिय हो और यजमान चाडाल, उस यज्ञ की बलि हम कैसे ग्रहण कर सकते है ?'—

क्षत्रियो याजको यस्य चाण्डालस्य विशेषतः ।
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य विशेषतः ॥१।५९।१३-४

इसका अर्थ यह हुआ कि जिस यज्ञ का सचालन परपरागत ब्राह्मण-पुरोहित नही करते थे, वह यज्ञ समाज की दृष्टि मे अमान्य और बहिष्कार के योग्य हो जाता था।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्ग-द्वेषवाली यह स्थिति रामायण के आख्यानवाले स्थलो मे ही पाई जाती है। रामायण के मौलिक कथा-वर्णन में ऐसा वर्ग-विद्वेष नही देखने मे आता। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि यज्ञ-यागादिक कराने का कार्य एक विशिष्ट जाति का एकाधिकार बन चुका था।

कर्मकाड के अतिरिक्त कुछ ब्राह्मण राजा के राजनीतिक परामर्श-दाता का

भी काम करते थे। व्यवहार (कानून) की व्याख्या करने और उसे क्रियान्वित करने में वे राजा की सहायता करते थे। उन्हे राज्य-सभा में उपस्थित रहने का अधिकार प्राप्त था। वे राज-पुरोहित और मत्रि-पद के लिए उपयुक्त माने जाते थे। दशरथ की मत्रि-परिषद में वसिष्ठ और वामदेव ऋत्विज तथा अन्य ब्राह्मण कूटनीतिक परामर्शदाता थे।

अन्य वर्णों से दान या प्रतिग्रह लेने का अधिकार ब्राह्मणो को सौपकर समाज ने उनके लिए आजीविका का एक और द्वार खोल दिया। भूख से पीडित होने पर अथवा कुटुब का भरण-पोषण करने में असमर्थ होने पर ब्राह्मण राजा से सहायता की याचना कर सकता था, जैसाकि वहुत पुत्रोवाले निर्धन ब्राह्मण त्रिजट ने किया था। स्वाध्याय में निरतर सलग्न रहने के कारण यदि कोई ब्राह्मण जीविकोपार्जन से विमुख रहता तो उसे भी राजा से सहायता पाने का अधिकार था (२।३२)।

यज्ञो में दक्षिणा तथा उदार पुरुषो से दान आदि मिलने के अवसर अनिश्चित ही रहते थे और उन पर सर्वथा निर्भर रहना सभव नही था। साथ ही, सभी ब्राह्मणो के लिए वर्षों तक अध्ययन करके सागोपाग वेदवेत्ता बनना भी सुगम नही था। इसलिए कई ब्राह्मण परिस्थितिवश अध्यापन, पौरोहित्य और दक्षिणा के समत साधनो के अतिरिक्त आजीविका के अन्य मार्गों का भी आश्रय ले लेते थे। क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति स्वीकार करके जीवन-निर्वाह करना उनके लिए वर्जित या निंदित नही था। अयोध्या के आचार्य सुधन्वा अर्थशास्त्र-विशारद और युद्ध-विद्या में निपुण थे, जिनकी तुलना महाभारत के द्रोणाचार्य से सहज ही की जा सकती है। राम को धनुर्वेद की शिक्षा इन्ही सुधन्वा से मिली थी और वनवास में भी राम ने इनको श्रद्धा से स्मरण किया था।[1] इसी प्रकार परशुराम और अगस्त्य ने ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय की भाति शस्त्र-धारण किया था। त्रिजट ब्राह्मण वैश्यो की तरह हल और कुदाली चलाकर जीविकोपार्जन करता था।[2] उसका यह कार्य हीन दृष्टि से नही

---

१. इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्यशास्त्रविशारदम्। सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे॥ २।१००।१४

२. तत्रासीत् पिंगलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विज.। क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललागली॥ २।३२।३०

देखा जाता था, यद्यपि महाभारतकालीन समाज मे आकर ब्राह्मण का कृषि करना निंदित बन गया था।[1]

रामायणकालीन ब्राह्मणो को उनके कर्मानुसार निम्नलिखित पाच विभागो में बाटा जा सकता है—

१ नगरवासी ब्राह्मण, जो प्रतिदिन स्नान, सध्या, जप, होम, अतिथि-देव-पूजा और बलिवैश्वदेव करते तथा बडे सत्यवादी और सदाचारी थे। अयोध्या के वर्णन मे कहा गया है कि उसमे ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण बसते थे, जो 'वेदो और उनके छहो अगो मे पारगत थे, जो यज्ञ-यागादिक करते रहते थे, जो सद्गुणो से युक्त, सत्य-रत, महात्मा और सत थे, जो सहस्रो आशीर्वाद दिया करत थे तथा जो प्राचीन महर्षियो की प्रतिमूर्ति लगते थे।'[2]

२ वनवासी ब्राह्मण, जो वन मे रहकर तपस्या करते, फल-फूलो पर निर्वाह करते तथा प्रतिदिन श्राद्ध करते थे। अपने वनवास-काल में राम जिन ऋषियो के संपर्क मे आये थे, वे नदी-किनारे आश्रमो में रहनेवाले और 'वैखानस-मार्ग' का अनुसरण करनेवाले मुनिगण थे। सभव है, इस वर्ग मे ब्राह्मणेतर तपस्वी भी रहे हो।

३ बह्मवादी ब्राह्मण, जो वेदात का अध्ययन करते तथा अनासक्त रहकर साख्य और योग का चिंतन करते थे। राम को वन मे ऐसे ब्राह्मण तपस्वी मिले थे, जो ब्रह्म-तेज से युक्त तथा हठ योग की विभिन्न प्रक्रियाओ में दत्तचित्त थे—**सर्वे ब्राह्म्या श्रिया युक्ता दृढयोगसमाहिताः** (३।६।६)। दशरथ ने अपने अश्वमेध-यज्ञ मे ब्रह्मवादी और वेदवेत्ता ऋत्विजो को आमत्रित किया था।[3]

४. शस्त्रोपजीवी ब्राह्मण, जो क्षत्रियो की भाति शस्त्र-धारण और युद्ध करते थे।

५ श्रमजीवी ब्राह्मण, जो कृषि और गो-पालन द्वारा निर्वाह करते थे।

धर्मशास्त्रो की रचना के समय उपर्युक्त ब्राह्मण क्रमश देव-ब्राह्मण, मुनि-

---

१. देखिए महाभारत सभा-पर्व, १२।१९

२. तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां द्विजोत्तमैर्वेदषडंगपारगैः। सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभिर्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः॥ १।५।२३

३. ब्राह्मणान् वेदपारगान्। सुमन्त्रावाहय क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः॥ १।१२।४-५

ब्राह्मण, द्विज-ब्राह्मण, क्षात्र-ब्राह्मण और वैश्य-ब्राह्मण कहलाने लगे थे।[1] कहना न होगा कि जाति जन्म से ही थी, न कि कर्म से। क्षात्र या वैश्य-वृत्ति से रहनेवाले ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही कहलाते थे।

ब्राह्मणो का बडा आदर-समान किया जाता था और जो उन्हे कष्ट पहुचाता या उनकी सपत्ति छीनता, उसे कठोर दड दिया जाता था, चाहे वह राजकुमार ही क्यो न हो। ननिहाल से लौटने पर भरत कैकेयी से पूछ बैठे थे कि कही राम ने किसी ब्राह्मण का धन तो नही हर लिया था, जिसके कारण उन्हे वन में निर्वासित कर दिया गया हो—

कच्चिन्न ब्राह्मणधन हृतं रामेण कस्यचित्।
कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासित.॥२।७२।४४-५

दैनिक जीवन में ब्राह्मणो को प्राथमिकता दी जाती थी। राजकीय जुलूसो में उन्हें आगे रखा जाता था। लका-विजय से लौटने पर जिस जुलूस में राम नदिग्राम से अयोध्या गए, उसमें महात्मा वसिष्ठ और द्विज लोग आगे-आगे चल रहे थे।[2] ब्राह्मणो के प्रति प्रगाढ भक्ति प्रदर्शित करना तत्कालीन राजाओ का धर्म था। राम अपने युग की ब्राह्मण-सस्कृति के अनन्य रक्षक एव पोषक थे। जिन विशेषताओ के कारण उन्हे युवराज-पद के लिए उपयुक्त माना गया था, उनमें वयोवृद्ध विद्वान ब्राह्मणो के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति प्रमुख थी (**बहुश्रुतानां वृद्धाना ब्राह्मणानामुपासिता**, २।२।३३)। लका में सीता के समुख राम का परिचय देते हुए हनुमान ने उन्हे **ब्राह्मणानाम् उपासक**' बताया था (५।३५।१३)।

तत्कालीन राज्य-व्यवस्था में ब्राह्मण पुरोहित को ऊचा पद प्राप्त था। पौरोहित्य-पद परपरागत होता था। इक्ष्वाकु-वश के परपरागत पुरोहित वसिष्ठ-वशी ब्राह्मण थे। राजा दशरथ और राम दोनो के शासन-काल में वसिष्ठ मुख्य मत्री थे। राजकुल में पुरोहित समान और शिष्टाचार का विशेष पात्र (मानार्ह) होता था। 'उन अत्यधिक तेजस्वी, विद्वान और धर्म-रत ब्राह्मण वसिष्ठ का तुम

---

१ देखिए पाडुरग वामन काणे-कृत 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', जिल्द २, भाग १, पृ० १३०

२ द्विजा ..रामस्य पुरतो ययु.। ६।१२८।३८

प्रभूत समादर तो करते हो ?'[1] राम ने भरत से चित्रकूट पर यह प्रश्न पूछकर वसिष्ठ के प्रति अपनी आदर-भावना व्यक्त की थी। पुरोहित के आगमन पर राजा लोग सिहासन से उठकर उसका स्वागत करते थे; दशरथ की सभा में पुरोहित वसिष्ठ के आने पर समस्त सभासद उनके समान में उठकर खडे हो गए थे।[2]

राजकीय क्रिया-कलापो पर पुरोहित का बडा प्रभाव था। 'सभी इक्ष्वाकुओ के लिए पुरोहित ही अतिम शरण है और उस सत्यवादी की आज्ञा का उल्लघन करना सभव नही।'[3] राज्य-सभा में राजा के बाद पुरोहित का ही सर्वोच्च स्थान था। वह राजा का दाहिना हाथ, उनका सतत परामर्शदाता था। दशरथ अपने पुरोहित से परामर्श किये बिना कोई महत्वपूर्ण कार्य नही करते थे। उनके पुत्रेष्टि-यज्ञ का सचालन वसिष्ठ के हाथ में था। राम-सीता के विवाह के लिए दशरथ ने वसिष्ठ की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। विवाह-समारोह के भी वसिष्ठ ही सर्वे-सर्वा थे। राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक का सारा प्रबध वसिष्ठ के ही सुपुर्द किया हुआ था।

आपत्ति-काल मे पुरोहित के अधिकार और भी बढ जाते थे। राम के वन चले जाने पर जब राजा दशरथ का देहात हो गया और कोसल में कोई राजा नही रह गया, तब 'राजकर्तार' (सभा के वरिष्ठ सदस्यो) ने वसिष्ठ से ही पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा की थी, क्योकि वही राज-पुरोहित (धर्माध्यक्ष) और वास्तविक मुख्य मत्री थे।[4] इस नाते पुरोहित को अधिकार था कि वह राजा की अनुपस्थिति में सभा का विशेष अधिवेशन करे, उसमे अध्यक्ष का स्थान ग्रहण करे तथा दिवगत राजा के उत्तराधिकारी को आमत्रित कर उसे राजगद्दी सौप दे। वसिष्ठ ने 'राज-

---

१. स कश्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युति। इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते॥ २।१००।९

२. तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं महत्। २।५।२३; सभासदः... आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम्। २।५।२४

३. इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः। न चातिक्रमितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः॥ १।५८।३

४. एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन्। वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम्॥ २।६७।४

कर्तार' को आश्वस्त करके भरत को केकय देश से बुलवाने का तुरत प्रबध किया और उनके लौटने पर उनसे राज्य स्वीकार करने का आग्रह किया। जब भरत नही माने तब वसिष्ठ राम को लिवा लाने के लिए चित्रकूट गए, जहा उन्होने महत्व के विचार-विमर्श में प्रमुख भाग लिया।

महाभारत की अपेक्षा रामायण में ब्राह्मणो का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। ब्राह्मणो की अप्रसन्नता से सभी घबराते थे। दशरथ ने, अनिच्छा रहते हुए भी, विश्वामित्र से डरकर सुकुमार और अल्पवयस्क राम को उनके सुपुर्द कर दिया था। पचवटी में सीता द्विजवेशधारी रावण का स्वागत करने को विवश हो गई, क्योकि उन्हे भय था कि यदि मै इस ब्राह्मण अतिथि से नही बोलूगी तो यह मुझे शाप दे देगा।[1] सुमत्र ने कैकेयी को चेतावनी दी थी कि यदि तुम भरत को राज्य दिलाने का दुराग्रह करोगी तो कोई ब्राह्मण तुम्हारे राज्य में नही रहेगा।[2]

उत्तरकाड के समय मे ब्राह्मणो के प्रभाव में और वृद्धि हो गई। कानून में भी अब उनके प्रति पक्षपात बरता जाने लगा। निम्न वर्णो से उनके हितो की रक्षा के लिए विशेष विधि-विधान बनाये गए। ब्राह्मण की सपत्ति का हरण करनेवाला या मन से भी उसके अधिकारो को छीननेवाला घोर नरक का भागी माना जाने लगा, और जो व्यक्ति ब्राह्मण को कोई वस्तु दान में देकर उसे वापस ले लेता, उसका तो बधु-बाधवो-सहित सर्वनाश हो जाता था, दोषी ब्राह्मण को भी प्राणदड नही दिया जा सकता था।[3]

जान पडता है, उन दिनो ब्राह्मणो की सवारी के लिए विशेष प्रकार के रथ

---

१ ब्राह्मणश्चातिथिश्चैव अनुक्तो हि शपेत माम्। इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत्॥ ३।४७।२

२. न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमर्हति। तादृश त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि॥ २।३५।११

३ ब्राह्मणद्रव्यमादत्ते देवताना च राघव। सद्य. पतति घोरे वै नरके वीचि-सज्ञके। मनसापि हि देवस्व ब्रह्मस्वं च हरेत्तु य.। निरयान्निरय चैव पतत्येव नराधम॥ ७।५९ (२)। ४९-५१; ब्रह्मस्वं देवताद्रव्यं.. दत्तं हरति यो भूय इष्टं सह विनश्यति। ७।५९(२)।४८-९; अवध्यो ब्राह्मणो दण्डैरिति शास्त्रविदो विदु'। ७।५९ (२)।३४

होते थे, जिन्हे 'ब्राह्म रथ' कहते थे। राम को यौवराज्याभिषेक की दीक्षा देने के लिए महर्षि वसिष्ठ ब्राह्मणो के योग्य एक उत्तम रथ में बैठकर उनके महल तक गए थे—**ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय स द्विजोत्तमः** (२।५।४)। जब उनका रथ राम के प्रासाद के निकट पहुचा तब राम दूर से देखते ही पहचान गए कि मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ पधारे है। इससे ज्ञात होता है कि इन रथो में कुछ ऐसे बाहरी चिह्न होते होगे, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता था कि अमुक रथ किसी ब्राह्मण का है। यह अस्वाभाविक नही जान पडता कि ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा मे वृद्धि होने पर समाज उन्हे विशेष सुविधाए और अधिकार देने लगा हो।

ब्राह्मणो का व्यक्तित्व गौओ और राजाओ की तरह पवित्र माना जाता था।[1] उनकी सुरक्षा के लिए बडे-बडे युद्ध मोल लिये जाते थे। उत्तरकाड में ब्राह्मणो की वेदो के साथ एकरूपता बताई गई है (**वेदा ब्राह्मणरूपेण**, ७।१०९।८)। ब्रह्म-हत्या भयकर पापो के अतर्गत गिनी जाती थी, जिससे मुक्ति पाने के लिए अश्वमेध-यज्ञ करना आवश्यक था। परशुराम को ब्राह्मण जानकर ही राम ने उन पर अपना अमोघ बाण नही चलाया था।[2] जब दशरथ ने हाथी के धोखे में अधमुनि के पुत्र को मार डाला, तब उन्हे यह सोचकर मार्मिक वेदना हुई कि कही मैंने किसी ब्राह्मण कुमार को मारकर ब्रह्म-हत्या का पाप तो नही कर डाला।[3]

पाश्चात्य विद्वानो न रामायण की एक ब्राह्मण-प्रधान कृति के रूप में आलोचना की है, और इसमे कोई सदेह नही कि राम-राज्य के सामाजिक जीवन में ब्राह्मणो का बडा हाथ था। किंतु इसी कारण रामायणकालीन सस्कृति की श्रेष्ठता या विशेषता को कम कर देना उचित नही होगा। वस्तुत हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि ब्राह्मणो की इस असाधारण लोकप्रियता का, उनके लोकोत्तर प्रभाव का स्रोत क्या था। उनके प्रभाव का रहस्य कई बातो मे ढूढा जा सकता है,

---

१ देखिए ३।२४।२१; १।२६।५; ४।१७।३६; १।२५।१५

२. **ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे... तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥** १।७६।६

३. **ब्रह्महत्याकृत पापं हृदयादपनीयताम्। न द्विजातिरहं राजन् मा भूत्ते मनसि व्यथा॥** २।६३।५०

पर उनकी अध्ययन-अध्यापन की वृत्ति एव त्यागशीलता की भावना ही उनके सर्वातिशायी प्रभाव का सबसे बडा कारण थी। वे अपना प्रभाव पाशविक शक्ति अथवा छल-कपट के सहारे नही, वरन आदर्श चरित्र के वल पर बनाये रखते थे। वेदो का स्वाध्याय और धर्मपरायण आचरण उनके जीवन का मूल मत्र था, और सच पूछा जाय तो ब्राह्मण-सस्कृति एक अनुशासनपूर्ण सस्कृति थी। जिस ऊचे बौद्धिक और नैतिक स्तर से ब्राह्मण अपने प्रभाव का सचार करते थे और जो अधिकार अन्य वर्णो ने उन्हे स्वेच्छा से प्रदान किये थे, उन्हे पाने के लिए ब्राह्मणों को दरिद्रता और भिक्षाटन का व्रत अगीकार करना पडता था। सादा जीवन, उच्च विचार, सक्रिय अर्थोपार्जन से निवृत्ति तथा देश की सस्कृति का सरक्षण और प्रसार उनके जीवन के आदर्श थे। अयोध्या के ब्राह्मण पवित्र, स्वकर्म-निरत, जितेंद्रिय, दान और अध्ययन में सलग्न तथा प्रतिग्रह लेने में सचेष्ट रहते थे।[1] राजाओ से उनको जो दान या उपहार मिला करते थे, उनका उपयोग वे देश की सास्कृतिक निधि के सवर्धन मे किया करते थे। अपनी विद्वत्ता,[2] बौद्धिक प्रतिभा तथा कर्मकाड के ज्ञान के कारण वे शैक्षणिक क्षेत्र और धार्मिक क्रिया-कलापो में अनिवार्य बन गए थे। उनमें सगठन और व्यवस्था करने की योग्यता के साथ आज्ञा-पालन कराने का नैतिक वल भी था। उत्तरकाड में जो ब्राह्मण अपने असमय में मरे हुए पुत्र को लेकर राजा राम के समुख उपस्थित होता है और उन्हें ऐसी दुर्घटनाओ का मूल कारण दूर करने को विवश कर देता है, उसकी शक्ति का मूल स्रोत उसका चारित्रिक बल था—उसने कभी असत्य-भाषण नही किया था, न कोई हिंसा की थी और न किसी प्राणी के प्रति कोई पापाचरण किया था।[3] ब्राह्मणो को राजनीति का विलक्षण ज्ञान था, कूटनीति में वे पारगत थे, फिर भी स्वार्थ-सिद्धि से सर्वथा विमुख थे। इसीलिए वे राजाओ के विश्वासपात्र परामर्शदाता वनने में समर्थ हुए। क्योकि उन पर राष्ट्र की बौद्धिक और आध्यात्मिक सस्कृति को प्रसारित करने तथा उसकी

---

१. स्वकर्मनिरता नित्य ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः। दानाध्ययनशीलाश्च सयताश्च परिग्रहे॥ १।८।१३

२ नाविद्वान् ब्राह्मणः कश्चित्। १।१४।११; १।१४।२१ भी देखिए।

३ न स्मराम्यनृत ह्युक्तं न च हिंसां स्मराम्यहम्। सर्वेषा प्राणिनां पापं न स्मरामि कदाचन॥ ७।७३।७

श्रेष्ठता को अक्षुण्ण बनाये रखने का गुरुतर दायित्व था, अत क्या आश्चर्य यदि उन्हे सामाजिक जीवन में कुछ विशेष सुविधाए एव अधिकार दे दिये जाय और वे शेष वर्णो के आदर-सत्कार के पात्र बन जाय ?

जहा ब्राह्मणो का कार्य प्रजा के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान मे योग देना था, वहा क्षत्रियो का कर्तव्य देश को बाह्य और आतरिक सघर्षो से बचाना था। राम के अनुसार दान देना, यज्ञो मे दीक्षा ग्रहण करना और युद्ध मे देह का त्याग करना क्षत्रियो के कर्तव्य-कर्म है—**दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि** (२।४०।७)।

क्षत्रियो को विशेष रूप से ब्राह्मणो और गौओ की रक्षा करनी पडती थी; शरण में आये हुए किसी भी प्राणी को अभय-दान देना उनका धर्म था।[1] जैसे माता अपने गर्भ की रक्षा करती है, वैसे ही राजा को तपस्वियो की रक्षा करनी चाहिए।[2] राम ने कहा था कि क्षत्रिय लोग धनुष इसलिए धारण करते है कि पृथ्वी पर आर्त-शब्द (दुखी प्राणियो का हाहाकार) न हो—**क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त्तशब्दो भवेदिति** (३।१०।३)।

इन सेवाओ के बदले राजा को यह कानूनी अधिकार मिला हुआ था कि वह अपनी प्रजा की आय का छठा हिस्सा कर के रूप में ले। यह कर 'बलिषड्भाग' कहलाता था (२।७५।२५)। प्रजा-रक्षण मे तत्पर और धर्माचरण करनेवाले राजा को तपस्वियो द्वारा अर्जित पुण्य मे भी एक-चौथाई हिस्सा मिलता था।[3]

'दड' अर्थात न्याय का यथोचित विधान करना राजा का कर्तव्य था। दड का प्रयोग प्रजा की रक्षार्थ होना चाहिए, उसके उत्पीडन के लिए नही। अपराधी पर प्रयुक्त किया जानेवाला दड राजा को स्वर्ग का अधिकारी बना देता था।

राजा बनने का अधिकार एक-मात्र क्षत्रियो को प्राप्त था। किसी क्षत्रियेतर

---

१. तुलना कीजिए—**करिष्यामि न सन्देहस्ताटकावधमुत्तमम्। गोब्राह्मण-हितार्थाय देशस्य च हिताय च॥ १।२६।४-५; बद्धांजलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्। न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप॥ ६।१८।२७**

२. **रक्षणीयास्त्वया शश्वद् गर्भभूतास्तपोधनाः।** ३।१।२१

३. **यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः। तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षत.॥ ३।६।१४**

को शासन करने का अधिकार नही मिल सकता था। ब्राह्मणो ने शासन करने की अपनी अयोग्यता स्वीकार कर ली थी। जब दशरथ ने अपने अश्वमेध-यज्ञ में ब्राह्मणो को समस्त पृथ्वी दान मे दे दी, तब उन ब्राह्मणो ने कहा—"राजन, आप ही पृथ्वी का शासन करने के योग्य है। हमें भूमि लेकर क्या करना है! उसका पालन करने में हम असमर्थ है। हम लोग तो सदा स्वाध्याय में लगे रहते है। अतएव आप कृपया इस भूमि के बदले सुवर्ण, हीरे-मोती और गौओ का उपहार दीजिए, भूमि से हमें कोई प्रयोजन नही" (१।१४।४७-९)।

ब्राह्मण लोग वर्ण-व्यवस्था के शीर्ष-स्थान पर विराजमान थे और क्षत्रिय उनका अनुसरण करते थे—**क्षत्र ब्रह्ममुखं चासीत्** (१।६।१९)। ये दोनो उस युग के विशिष्ट वर्ण थे, सारे राजनीतिक और सामाजिक अधिकार इन्हीके हाथो केंद्रित थे। यदि ब्राह्मण प्राचीन आर्य-राष्ट्र के मस्तिष्क थे तो क्षत्रिय उसके बाहु थे। वसिष्ठ-जैसे ब्राह्मण जहा महान तत्ववेत्ता और विचारक थे, वहा राम-जैसे क्षत्रिय अप्रतिम शासक और योद्धा थे। नैतिक और राजनीतिक उत्कर्ष में उनकी मानो साझेदारी थी।

परशुराम और राम का सघर्ष ब्राह्मणो और क्षत्रियो के बीच कटुता का सूचक भले ही मान लिया जाय, अन्यथा इन दोनो जातियो के पारस्परिक सबध अधिकाशत: सौहार्दपूर्ण ही मिलते है। राजागण ब्राह्मणो की सद्भावना प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था—"क्या शास्त्रज्ञ ब्राह्मण अन्य नागरिको के साथ तुम्हारे कल्याण की कामना करते है? तुम उनका सत्कार तो करते हो? उन्हे नमस्कार करना भूलते तो नही?"[1] वन-प्रस्थान करने से पहले राम ने सीता से कहा था कि मेरी अनुपस्थिति में तुम ब्राह्मणो की पूजा करती रहना।[2] लका में अग्नि-परीक्षा से पहले सीता ने ब्राह्मणो को नमस्कार किया था।[3] ब्राह्मणो को प्रसन्न और अनुगृहीत करने के लिए क्षत्रिय किस सीमा तक

---

१ कच्चित्ते ब्राह्मण शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविद'। आशसते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह॥ २।१००।६४, कच्चित् . ब्राह्मणाश्च नमस्यसि। २।१००।६१

२. पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृता.। २।२४।२९

३. प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली। बद्धाजलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपत॥ ६।११६।२४

जाने को तैयार थे, इसके ज्वलत उदाहरण महाराज अलर्क है, जिन्होने एक ब्राह्मण की याचना पर अपनी आखे निकालकर उसे दे दी थी।[1] राजा विश्वामित्र ने वसिष्ठ की गौ छीनने की जो चेष्टा की थी, उससे जान पडता है कि कुछ क्षत्रिय राजा अत्याचारी होते थे और तपस्वी ब्राह्मणो का कुछ भी समान नही करते थे। किंतु विश्वामित्र का क्षत्रियोचित शौर्य वसिष्ठ को आतकित करने में असफल रहा और अंत मे उन्हे यह स्वीकार करने को बाध्य होना पडा कि क्षत्रिय का पाशविक बल ब्राह्मण के आध्यात्मिक तेज के सामने तुच्छ है—**धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्** (१।५६।२३)। इसके विपरीत त्रिशकु के आख्यान से ज्ञात होता है कि विरोधी ऋत्विजो के हाथो क्षत्रिय कैसे कठपुतली बन जाते थे।

यदि ब्राह्मण रामायणकालीन समाज के मस्तिष्क थे और क्षत्रिय उसकी भुजाएं तो वैश्य लोग वर्णाश्रम-व्यवस्था को आर्थिक सबल प्रदान करते थे। उनका मुख्य कार्य अर्थोपार्जन करना था। व्यापार, कृषि और गो-पालन उनके मुख्य धंधे थे। वे ही करो का भार वहन करते थे। द्विज होने के नाते वैश्यो के धार्मिक सस्कार और कृत्य ब्राह्मणो और क्षत्रियो के ही समान होते थे। उन्हे यज्ञो मे उपस्थित होने और वेद-पाठ करने का अधिकार था। वैश्य-ऋषि अधमुनि ने दशरथ के हाथों मारे गए अपने पुत्र के लिए विलाप करते हुए कहा था कि अब ब्राह्म वेला मे मुझे कौन वेदो या अन्य शास्त्रो का मधुर घोष सुनाया करेगा।[2] क्षत्रियो की भाति वैश्य भी पुरोहित बनने के अधिकार से वचित थे।

ब्राह्मणो और क्षत्रियो की अपेक्षा वैश्यो का सख्या-बल अधिक था। वैश्यो की बस्तिया अन्य वर्णों की बस्तियो से अलग बनी रहती थी। अयोध्या तथा अन्य नगरो में व्यापारियो की सुव्यवस्थित दूकानें बनी हुई थी (**सुविभक्तान्तरापणाम्**, १।५।१०)। अपनी सख्या और अपने धन के कारण वैश्य अयोध्या के सबसे प्रभावशाली नागरिक थे। स्वायत्त-सस्थाओ तथा राज्य-सभा के कार्य-कलाप में उन्हें बडा महत्व प्राप्त था। वैश्य जाति अपने-अपने धंधो के अनुसार गणो और नैगमो-जैसे सगठनो में विभाजित थी।

---

१. **तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे। याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ॥ २।१४।५**

२. **कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयंगमम्। अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद्विशेषतः॥ २।६४।३२**

वर्ण-व्यवस्था मे शूद्रो को सबसे निम्न स्थान प्राप्त था। उनका कार्य तीनो वर्णों की सेवा करना था। वे प्राय घरेलू नौकरी और दास-वृत्ति किया करते थे। शूद्रो का यज्ञो में उपस्थित होना वर्जित नही था। दशरथ के अश्वमेध में हजारो शूद्रों को आमत्रित किया गया था। पर अन्य वर्णों के कुछ अधिकारो से शूद्र वचित रखे जाते थे। उन्हें वेदो के अध्ययन का अधिकार नही था। ब्राह्मण किसी द्विजेतर को वैदिक ज्ञान नही प्रदान कर सकता था। यज्ञ करने का भी शूद्र को अधिकार नही था।

उत्तरकाड में जहा शूद्रो को तपस्या करने का अधिकार नही दिया गया है, वहा मौलिक काडो में शूद्र निर्विघ्न तपस्या करते है, यही नही, उनकी तपस्या समान और वरदान के योग्य समझी जाती है। शवरी उस शबर-जाति की स्त्री थी, जो आर्यो की वर्ण-व्यवस्था के भी अंतर्गत नही थी। फिर भी राम ने उसके आश्रम पर जाकर उसके प्रति बडी कृपा दिखलाई। उन्होने उसे 'तपोधना' कहकर सबोधित किया और उससे पूछा—**कच्चित्ते वर्धते तप** —"तुम्हारे तप में अभिवृद्धि तो हो रही है?" वाल्मीकि ने उसे तापसी, श्रमणी और सिद्धा कहा है। आत्म-समाधि द्वारा उसने महर्षियो के पुण्यवान लोको को प्राप्त किया (३।७४)। इसी प्रकार अयोध्याकाड में अघमुनि और उनकी पत्नी, जो क्रमश वैश्य और शूद्र थे, तपस्वी कहे गए है और मरने के बाद स्वर्ग के अधिकारी माने गए है। किंतु उत्तरकाड के सकुचित जातीय वातावरण में शूद्र के लिए तपस्या करना वर्जित बन गया। सशरीर स्वर्ग-प्राप्ति के लिए तपस्या करनेवाले शूद्र-मुनि शबूक को राम ने वध के योग्य समझा (७।७६।१-४)। इससे यह स्पष्ट है कि शूद्रो की सामाजिक स्थिति उत्तरोत्तर बुरी होती गई।

मौलिक रामायण में अस्पृश्यो या चाडालो का कोई उल्लेख नही मिलता। केवल बालकाड की अवातर कथाओं तथा उत्तरकाड में यत्र-तत्र चाडालो का वर्णन आया है। इन स्थलो से पता चलता है कि चाडाल समाज की सर्वाधिक उपेक्षित और हीन जाति गिने जाते थे (**योनीनाम् अधमा वयम्**)। वे नीले रग के वस्त्र पहनते, उनका शरीर काला और रूखा तथा उनके केश छोटे होते थे। वे लोहे के गहनो से अलकृत रहते तथा उनका शरीर चिता-भस्म से धूसर रहा करता था। सभवत ये लोग नगर से बाहर श्मशान की सन्निधि में रहा करते थे (१।५८।१०-११)।

चाडालो की ही श्रेणी में मुष्टिक लोग आते थे, जो श्वान-मास-भक्षी, शव के वस्त्रो का उपयोग करनेवाले, भयंकर-दर्शन, विकृत आकृतिवाले तथा दुराचारी होते थे (१।५९।१९-२०)।

अस्पृश्यो को नागरिकता के सामान्य अधिकारो से वचित रखा जाता था। वे मंदिरो, राजप्रासादो, ब्राह्मणो के घरो तथा पूजा-स्थानो में प्रवेश नही कर सकते थे, किंतु राजा की विशेष आज्ञा पाकर वे सभा या ससद में प्रवेश कर सकते थे (७।५९, प्रक्षिप्त सर्ग १)।

त्रिशकु के आख्यान (१।५८) से ज्ञात होता है कि मनुष्य जन्मना चाडाल नही होता था, प्रत्युत वर्णाश्रम-व्यवस्था से च्युत होने पर ही चाडाल बन जाया करता था। दूसरे शब्दो मे, घोर पाप करने पर मनुष्य अस्पृश्य और चाडाल बना दिया जाता था। उदाहरणार्थ, जब राजा त्रिशकु ने यह इच्छा प्रकट की कि मैं वसिष्ठ-पुत्रो के अतिरिक्त किसी अन्य पुरोहित से अपना यज्ञ सपादित करा लूगा, तब वसिष्ठ-पुत्रो ने इस अपमान से क्रुद्ध होकर राजा को चाडाल हो जाने का शाप दे दिया। राजा के सामाजिक स्तर मे यह परिवर्तन देखकर उसके मत्री और नागरिक उसे छोडकर दूर भाग गए। इस आख्यान से यह ज्ञात होता है कि चाडालत्व किसी व्यक्ति का जन्म-जात चिह्न नही था, वह तो बाह्य कार्य-कारणो पर निर्भर एक दड-विधान था, जो अधर्माचरण के फलस्वरूप किसी व्यक्ति-विशेष पर लागू किया जाता था। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि चाडाल अस्पृश्य माना जाता था और उसके स्पर्श से उच्च जाति के लोग दूर रहते थे।

त्रिशकु के उदाहरण से यह प्रकट है कि किसी उच्च वर्ण के व्यक्ति का जाति-च्युत हो जाना सभव था। इस प्रसग में यह प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या निम्न वर्ण का कोई व्यक्ति ऊंचे वर्ण का सदस्य बन सकता था। ऐसा होना सर्वथा असभव नही था, इसका एक सुप्रसिद्ध उदाहरण राजा विश्वामित्र का है, जिन्होने क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। उनकी यह जाति-परिवर्तन की कथा बडी रोचक और शिक्षाप्रद है।

विश्वामित्र की यह महत्वाकाक्षा थी कि उन्हे महर्षि वसिष्ठ का समकक्ष माना जाय, जो भारतीय परपरानुसार सनातन ब्राह्मणत्व के आदर्श थे। जान पडता है, भारतीय इतिहास और परंपरा मे एक से अधिक विश्वामित्र रहे होगें। यदि इन सभी विश्वामित्रो के जीवन को एक सूत्र मे पिरोया जाय तो उसमें से एक धीमे विकास-

वाद की कथा उद्‌घाटित होगी, जिसमें एक क्षत्रिय क्रमश प्रगति करते हुए अपनी मूल स्थिति से ऊपर उठकर ब्रह्मर्षि-पद को प्राप्त हो गया। ऋग्वेद में विश्वामित्र अनार्य और मिश्र जातियो के दस राजाओ के पुरोहित हैं, जबकि उनके विरोधी वसिष्ठ राजा सुदास के नेतृत्व में सगठित तृत्सुओ की विशुद्ध आर्य-जाति के पुरोहित हैं। दोनो पक्षो के युद्ध में विश्वामित्र और उनके दलवाले परास्त हो जाते हैं और वसिष्ठ अपने प्रतिद्वद्वी पर विजयी होते हैं। दोनो के बीच यह सघर्ष बाद के युगों में भी जारी रहता है। रामायण के युग में वसिष्ठ और विश्वामित्र इच्छित वस्तु प्रदान करनेवाली शबला नाम की गौ को लेकर झगड पडते हैं। उस गौ को पाने में असफल होकर विश्वामित्र में प्रतिस्पर्धा की भावना जाग उठती है और वह आत्मसयम, कष्ट-सहन और त्याग के लिए कटिबद्ध होते हैं। वह निर्जन वन में जाकर कठोर तपस्या करते हैं, किंतु उनकी आध्यात्मिक प्रगति में अनेक बाधाए उपस्थित होती हैं, जिनकी कसौटी पर उनकी आत्मा की परीक्षा होती है। ये बाधाए त्रिशकु, शुन शेप, मेनका और रभा के रूप में आती हैं। विश्वामित्र अधिकाधिक कठोर तपस्या में प्रवृत्त होते हैं और अततोगत्वा अपनी प्रगति में बाधक काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि बधनो से मुक्त हो जाते हैं। शनै -शनै वह महाराज-पद से ऊपर उठकर पहले राजर्षि, फिर महर्षि और अत में ब्रह्मर्षि-पद को प्राप्त कर लेते हैं। जब तक वसिष्ठ ने उनको अपना समकक्ष नही मान लिया, तब तक विश्वामित्र को सतोष नही हुआ। विश्वामित्र एक ऐसे साधक के अनुपम उदाहरण हैं, जिसने प्रत्येक प्रकार के स्वाभाविक प्रलोभन के होते हुए भी निजी अभ्यास, अध्यवसाय और तपोबल के सहारे उच्चतम स्थिति प्राप्त की।

विश्वामित्र के आख्यान से यह प्रमाणित होता है कि उनके-जैसे आत्मबल-सपन्न व्यक्ति के लिए भी क्षत्रिय-पद से उठकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करना कितना कठिन था। उनकी इस आत्मोन्नति का एक मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। ब्राह्मण-वर्ण, जो सत्वगुण-प्रधान है, रजोगुण-प्रधान क्षत्रिय-वर्ण का विरोधी है। विश्वामित्र को अपना काम-क्रोधमय राजसी स्वभाव सात्विक वृत्ति में बदलने के लिए कठोर मानसिक अनुशासन का दीर्घ काल तक अभ्यास करना पडा था। जब उनका हृदय काम और क्रोध के प्रभाव से बिलकुल मुक्त हो गया, तभी उस युग के सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वसिष्ठ ने उनको ब्रह्मर्षि के नाम से सबोधित किया। इससे यह सिद्ध होता है कि जाति-परिवर्तन असभव न होते हुए भी एक अपवाद था, नियम नही, आत्मानुशासन और

आत्मशुद्धि के दीर्घ एव कठोर प्रयोगो के बाद ही किसी क्षत्रिय के लिए ब्राह्मणत्व पाना शक्य था।

किंतु उत्तरकाड के परिवर्तित वातावरण मे जातीय कठोरता बढ गई। तब जाति या जातीय कर्म का परिवर्तन सोचा भी नही जा सकता था। अच्छे राजाओ से यह अपेक्षा की जाने लगी कि वे उच्च वर्णों के अधिकारो को निम्न वर्णों द्वारा आक्रात होने से बचायें। मौलिक रामायण में भी विभिन्न वर्णों के कर्तव्य-कर्मों का इतना विभाजन हो चुका था कि एक जाति के व्यक्ति का दूसरी जाति के क्षेत्र में कार्य करना असगत माना जाने लगा था। राज-काज करने में ब्राह्मणो की अयोग्यता और पौरोहित्य करने मे क्षत्रियो की अनुपयुक्तता इसीलिए स्वीकृत हो चुकी थी। विभिन्न जातियो के सबध इसलिए सद्भावनापूर्ण थे कि लोग अपने-अपने कर्मों से सतुष्ट थे—**स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टा. स्वैरेव कर्मभिः** (६।१२८।१०३)। अयोध्या के वर्णन में कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मणो को अपना नेता मानते, वैश्य क्षत्रियो की आज्ञा पालन करते, और शूद्र अपने कर्तव्य का आचरण करते हुए तीनो वर्णों की सेवा मे सलग्न रहते थे।[1] एक सुखी चातुर्वर्ण्य समाज की स्थापना तत्कालीन राजाओ का लक्ष्य था। चारो वर्णो के हित के लिए ही विश्वामित्र ने राम को ताटका का वध करने का आदेश दिया था।[2]

प्राचीन भारत की वर्ण-व्यवस्था को इस प्रकार राजकीय स्वीकृति प्राप्त थी, अत· उसका पालन करना लोगो के लिए अनिवार्य था। लक्ष्मण ने सुग्रीव के संमुख अपने पिता का परिचय देते हुए कहा था कि वह चारो वर्णों का धर्मपूर्वक और निष्पक्षता से पालन करते थे।[3] राम चारों वर्णो के आबालवृद्धो के प्रति दया-

---

१. क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीत् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः। शूद्राः स्वकर्मनिरता-स्त्रीन्वर्णानुपचारिणः॥ १।६।१९; ६।१२८।१०३ भी देखिए।

२. न हि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम। चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना॥ १।२५।१७

३. राजा दशरथो नाम द्युतिमान् धर्मवत्सलः। चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन्॥ न द्वेष्टा विद्यते तस्य स तु द्वेष्टि न कंचन। स तु सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः॥ ४।४।६-७

भाव रखते थे और इसलिए ये सभी उनके वशवर्ती थे।[१] हनुमान के अनुसार राम लोक में प्रचलित चातुर्वर्ण्य के रक्षक थे, सामाजिक मर्यादाओ का पालन करने और करानेवाले थे।[२] उनके आदर्श ने प्रजा मे कर्तव्य-परायणता का भाव सचारित किया था, जिसके परिणामस्वरूप देश में सुख-सतोष व्याप्त था और प्रतियोगिता-जन्य ईर्ष्या-द्वेष का अभाव था—

सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम् ॥६।१२८।१००

---

१. सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम्। चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रता ॥ २।१७।१६

२. रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता। मर्यादाना च लोकस्य कर्ता कारयिता च स. ॥५।३५।११

: ६ :

आश्रम

प्राचीन आर्य-ऋषियो के अनुसार मानव-जीवन अनवरत आत्म-शिक्षण एव आत्म-अनुशासन का समय था। इस शिक्षण-काल को उन्होने आश्रमो के नाम से कई भागो में बाट दिया था। इन्ही पर मनुष्य के सासारिक जीवन का ढाचा अवस्थित रहता था।

प्राचीन ग्रथो से कुछ विद्वानो ने ऐसे उद्धरण खोज निकालने की चेष्टा की है, जिनसे आश्रमो की सख्या मूलत तीन सिद्ध होती है,[1] किंतु रामायण के समय में आश्रमो की सख्या निश्चित रूप से चार बन चुकी थी (२।१००।६२), यथा (१) विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, (२) विवाहितो के लिए गृहस्थाश्रम, (३) अर्थोपार्जन से विरत वनवासी तपस्वी के लिए वानप्रस्थाश्रम और (४) ससार-त्यागी वैरागी के लिए सन्यासाश्रम।

प्रत्येक द्विज से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन को इस आश्रम-व्यवस्था के अनुसार सचालित करे। प्रत्येक आश्रम जीवन का एक विभाग माना गया था, जिसमें एक निर्धारित समय तक व्यक्ति अपने को प्रशिक्षित करता और आगामी आश्रम के लिए तैयार करता था। रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि आश्रम-व्यवस्था का अनुसरण प्राय उपर्युक्त क्रम से ही किया जाता था और उसका अतिक्रमण लोक-निंदित था। राम के वनवास की आलोचना करते हुए भरत ने कहा था कि उनकी-सी आयु और पद के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम त्याग कर वानप्रस्थ-जीवन स्वीकार करना असामयिक और अनुपयुक्त है।[2]

---

१. देखिए पी० एम० मोदी—'डेवलपमेंट आफ दि सिस्टम आफ आश्रमाज' (सप्तम ओरिएंटल कान्फरेंस का विवरण, १९३३)

२. चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्। आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि॥ २।१०६।२२

उपनयन-सस्कार के बाद ब्रह्मचर्याश्रम आरभ होता था । इसमें विद्यार्थी ब्रह्मचारी रहकर कठोर एव अनुशासनमय जीवन व्यतीत करता था। गुरु की सेवा और शास्त्रो का अध्ययन उसके दो प्रमुख कर्तव्य थे । अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि ऋषि-मुनियो के आश्रमो में असख्य विद्यार्थी आकर अपने कुलपति की अधीनता में शिष्य-वृत्ति से रहते थे । शिक्षा-क्रम की समाप्ति पर छात्र का समावर्तन-सस्कार होता था, जो इस आश्रम की समाप्ति का सूचक था, और तब वह 'स्नातक' कहलाता था। रामायण में तीन प्रकार के स्नातको का उल्लेख है—'विद्या-स्नातक' (२।८२।११), 'व्रत-स्नातक' (५।२१।१७) और 'विद्या-व्रत-स्नातक' (२।१।२०)। विद्या-स्नातक उसे कहते थे, जो अपना अध्ययन-क्रम समाप्त कर चुका है, पर ब्रह्मचारी के लिए नियत व्रत-नियमादि जिसके पूरे नही हुए हैं । व्रत-स्नातक वह था, जिसने व्रतो का पालन कर लिया है, पर जिसका अध्ययन समाप्त नही हुआ है । जिसके व्रत-नियमादि और अध्ययन दोनो सपूर्ण हो चुके है, वह विद्या-व्रत-स्नातक कहलाता था । राम और रावण दोनो इस अतिम श्रेणी के स्नातक थे (२।१।२०, ६।९२।६०) ।

ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर युवक स्नातक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था । इस आश्रम में पितृ-ऋण, देव-ऋण और मनुष्य-ऋण को चुकाने के लिए गृहस्थ को श्राद्ध, यज्ञ और अतिथि-सत्कार करने पडते थे ।[1] साथ-ही-साथ उसे अपने वयोवृद्ध गुरुजनो, पुत्र-कलत्र तथा परिवार के अन्य सदस्यो का भरण-पोषण करना पडता था । सभी धार्मिक क्रिया-कलाप और यज्ञ-यागादिक उसे अपनी पत्नी के साथ सपन्न करने पडते थे, जो इसीलिए 'धर्मपत्नी' अथवा 'सहधर्मचारिणी' कहलाती थी ।

चारो आश्रमो में गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ था—**चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्य श्रेष्ठमुत्तमम्** (२।१०६।२२), और स्वय रामायण गृहस्थाश्रम का ही आदि-महाकाव्य है । उपनिषदो और आरण्यको में यदि वानप्रस्थाश्रम का गौरव-गान है, तो रामायण गृहस्थाश्रम की महाप्रशस्ति है और इसीको आध्यात्मिक कल्याण का मुख्य साधन बताती है। समस्त हिंदू-धर्मशास्त्रो ने भी गृहस्थाश्रम का जो गुण-गान किया है, उसका कारण यह है कि गृहस्थ ही अन्य आश्रमो की आधार-शिला

---

१ ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन् । २।१०६:२८, टीका देखिए।

है और वही समाज के कल्याण में प्रत्यक्ष योग देता है। वैयक्तिक और सामाजिक सभी प्रकार के उत्तरदायित्वो का निर्वाह करने मे गृहस्थाश्रम ही सबसे अधिक सहायक है। कहते है, उपनिषदो और आरण्यको ने लोक में जो वैराग्य की भावना प्रसारित की थी, उसीकी प्रतिक्रिया के रूप मे वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर गृहस्थ-धर्म को गौरवान्वित किया। 'आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी आदि जितने आदर्शो को इस अनुपम महाकाव्य में आदि-कवि की शब्द-तूलिका ने खीचा है, वे सब गृह-धर्म के पट पर ही चित्रित किये गए है। इतना ही क्यो, राम-रावण का भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नही है, वह तो राम-जानकी—पति-पत्नी—की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है।'[१]

गृहस्थी की गाडी ढोते-ढोते एक समय ऐसा आता है, जब उम्र की धूप में गृहस्थ वृद्ध हो जाता है—उसके बाल श्वेत हो जाते है, चेहरे पर झुर्रिया पड जाती है और सासारिक कामो मे निरतर लगे रहने से उसका शरीर कृश और निर्बल हो जाता है। यही वह समय है, जब गृहस्थ को अर्थ और काम के सक्रिय उपार्जन से विरत हो जाना चाहिए तथा अपने पुत्र या उत्तराधिकारी को सारे अधिकार सौंपकर एकात मे शातिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। तत्कालीन राजाओ मे यह प्रथा थी कि राज्य को अपने वयस्क पुत्रो के सुपुर्द कर वे वन मे तपस्वी जीवन बिताने लगते थे। महाराज दशरथ ने अपनी राज्य-सभा को सबोधित करते हुए कहा था कि मै बूढा और अशक्त तथा राज्य के भारी जुए को समानपूर्वक वहन करने मे असमर्थ हो गया हू, इसलिए राम को राज्यासीन कर विश्राम करना चाहता हू (२।२।९-१०)। दशरथ यह स्पष्ट नही कहते कि राम को युवराज बनाकर मै वानप्रस्थी बन जाऊगा। किंतु वृत्र और अशुमान-जैसे अनेक राजाओ के आख्यानो से पता चलता है कि वे अपने पुत्रो को राज्य सौंपकर वन चले गए थे। पुत्रो को राज-पाट सौंपकर वनवासी बन जाने की प्रथा की ओर लक्ष्मण ने भी सकेत किया था।[२]

---

१. बलदेव उपाध्याय—'आदिकवि वाल्मीकि', 'कल्याण—संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणांक', पृ० १४

२ पूर्वं राजर्षिवृत्त्या हि वनवासोऽभिधीयते। प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परिपालने॥ २।२३।२६

वानप्रस्थाश्रम में पत्नी या तो पुत्रो के सरक्षण में घर पर रहती अथवा पति के साथ वन-गमन करती थी। रामायण में उल्लिखित अधिकाश तपस्विगण अपनी पत्नियो के साहचर्य में वैखानस-मार्ग का पालन करते थे।

वानप्रस्थी गृहस्थ वन में सयम और त्याग का जीवन व्यतीत करता, सब प्राणियो के हित में रत रहता, भिक्षाटन और यज्ञो का अनुष्ठान करता तथा वेदो के स्वाध्याय में सलग्न रहता था। किसी वृक्ष के नीचे उसका आवास होता, इद्रियो पर वह सयम रखता और अनायास प्राप्त होनेवाले फल-फूलो से अपना निर्वाह करता था।[1] बुद्धि पर अज्ञान का पर्दा डालनेवाले शस्त्रो से उसे कोई प्रयोजन न रहता।[2] उसके लिए 'देश-धर्म' का—तपोवन के अनुरूप कर्तव्यो का—पालन ही वाछनीय था—**देशधर्मस्तु पूज्यताम्** (३।९।२७)।

अतिम आश्रम 'सन्यास' पर रामायण में विशेष प्रकाश नही डाला गया है। उसमें 'सन्यासी' शब्द का प्रयोग न होकर 'भिक्षु' और 'परिव्राजक' नाम आये है। रामायणकालीन परिव्राजक या सन्यासी का परिचय पाने के लिए हमें रावण का उस समय का वर्णन देखना चाहिए, जब वह इस रूप में सीता के समुख उपस्थित हुआ था—

श्लक्ष्णकाषायसंवीत शिखी छत्री उपानही।
वामे चासेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू॥ ३।४६।३

अर्थात वह शरीर पर साफ-सुथरा गेरुए रग का वस्त्र लपेटे हुए था, उसके मस्तक पर शिखा, हाथ में छाता और पैरो में जूते थे, तथा उसने बायें कधे पर डडा रखकर उसमें कमडलु लटका रखा था।

आर्य-ऋषियो द्वारा आयोजित यह आश्रम-व्यवस्था उनकी वर्ण-व्यवस्था की ही पूरक है। दोनो व्यवस्थाए व्यक्ति और समाज के जीवन और उसके सगठन से सबधित है, अतर केवल दृष्टिकोण अथवा आग्रह का है। वर्ण-व्यवस्था मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में देखती है, उसके कर्तव्यो और अधिकारो की—उसके स्वभाव, उसकी प्रवृत्तियो और उसके मानसिक झुकाव के अनुसार—परि-

---

१. हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिक'। वानप्रस्थो भविष्यामि.. ॥५।१३।३८
२. अग्निसगोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते। ३।९।२३

भाषा और व्याख्या करती है। ऐसा करते समय यह व्यवस्थाउस समाज को भी दृष्टि में रखती है, जिसका वह एक सदस्य है। अन्य शब्दो में, वर्ण-व्यवस्था समाज में रहनेवाले मनुष्य से सबद्ध है। दूसरी ओर, आश्रम-व्यवस्था मनुष्य को एक इकाई के रूप में देखती है और बताती है कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, वह अपने जीवन को किस प्रकार अनुशासित, सुव्यवस्थित एव धर्मानुकूल बनाये तथा इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए क्या साधन अपेक्षित है।[1]

इसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार पर रामायणकालीन आर्य व्यक्ति और समाज की विरोधी मागो में सघर्ष के स्थान पर सुदर समन्वय स्थापित करने में समर्थ हुए थे। वाल्मीकि ने सर्वत्र व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व प्रदान किया है, साथ ही वह, समाज-व्यवस्था को हानि पहुंचाये बिना, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए सभी सुविधाए देने को तैयार थे। राम का समग्र जीवन इस सिद्धात से अनुप्राणित था कि जहा व्यापक या सामूहिक हितो की रक्षा का प्रश्न खडा हो, वहा सकुचित या निजी हितो की बलि दे देना श्रेयस्कर है। अपने परिवार मे व्यक्तिगत स्वार्थों का संघर्ष उठने पर उन्होने, कैकेयी को संतुष्ट करने के लिए, अपने राज्याधिकार को तिलाजलि दे दी, जिससे कौटुबिक कलह के परिणामस्वरूप देश में अराजकता न फैल जाय। अपने जीवन में उन्हे जिन अनेकानेक जटिल परिस्थितियो का सामना करना पडा, उनको उन्होने या तो पूरी तरह हल कर लिया या कम-से-कम अत्यधिक सरल तो अवश्य बना दिया—और इसका श्रेय है उनकी सत्यवादिता को, उनकी न्यायपरायणता को और दूसरो के हित-साधन के लिए उनके स्वार्थ-त्याग को।

रामायण में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है, जिनमे दूसरो के उचित अधिकारो का संमान करना सामाजिक दृष्टि से नितात आवश्यक माना गया है और इस नियम का उल्लघन करनेवाला दड का पात्र बना है। वाल्मीकि के सर्वप्रथम श्लोक[2] से यह शिक्षा मिलती है कि प्रकृति के छोटे-से-छोटे प्राणी को भी अपने ढग

---

१. देखिए पां० वा० काणे—'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', जिल्द २, भाग १, पृ० ४२३ और पी० एच० बालावलकर—'हिंदू सोशल इंस्टीटचूशन्स', पृ० २८

२. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ १।२।१५

से हर्ष मनाने का अधिकार प्राप्त है और उसमें हस्तक्षेप करनेवाले हम कोई नही होते। अधमुनि के पुत्र की हत्या करने से दशरथ को पुत्र-शोक का भागी बनने का शाप मिला, क्योकि राजा ने अधमुनि को उनके सुखपूर्वक रहने के अधिकार से वचित किया था। राम को अपनी ओर आकर्षित करने की धृष्टता कर शूर्पणखा ने सीता के वैवाहिक अधिकार को चुनौती दी और वाली ने सुग्रीव की पत्नी का उपभोग कर उनके स्वत्व को छीना। इन दोनो को उचित दड देना शासक का कर्तव्य था। अत में रावण ने दडकारण्य में राम-सीता के सुखपूर्वक रहने के अधिकार को छीनकर अपने ही सर्वनाश को न्योता दिया। व्यक्तिगत अधिकारो की सुरक्षा समाज-हित की दृष्टि से अनुपेक्षणीय है, इसका वाल्मीकि ने सर्वत्र उद्घोष किया है।

: ७ :

परिवार

कुटुव अथवा परिवार समस्त मानवीय सगठनो की मूल इकाई है और सामाजिक विकास की पहली सीढी। आज के विश्रृखलता के युग में भी परिवार का काफी महत्व है, भले ही वह पहले की भाति सामाजिक ढाचे का इतना अनिवार्य अग अव न माना जाता हो। सामाजिक कर्तव्यो का पालन कराने के लिए परिवार मानवीय व्यक्तित्व के विकास मे कितना योग देता है, इसका ज्वलंत उदाहरण दशरथ के पारिवारिक जीवन मे उपलब्ध होता है। वास्तव में रामायण एक कौटुविक महाकाव्य है—राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ममता-मोह, लोभ-त्याग आदि की सामान्य कौटुविक घटनाओ का चित्रण उसे सर्वसामान्य के लिए एक हृदयग्राही रचना वना देता है। वाल्मीकि ने पारिवारिक जीवन के प्राचीन आदर्शो को भावी पीढियो के लिए अपनी रामायण मे सुरक्षित कर दिया है।

परिवार का रूप निस्सदेह पैतृक था। उसमे पिता कुटुव का मुखिया था, जिसका आदेश सर्वोपरि होता था। पत्नी गृहस्वामिनी थी, किंतु गृहस्वामी पर आश्रित और उसकी आज्ञाकारिणी। पुत्र और पुत्रियो पर पिता का पूर्ण नियंत्रण था। पिता की अनुमति के विना वे अपना जीवन-साथी नही चुन सकते थे। उदाहरणार्थ, धनुर्भग करके सीता को पाने के अधिकारी होने पर भी राम ने पिता की इच्छा जाने विना विवाह करने से इन्कार कर दिया—

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः॥ २।११८।५१

व्यावहारिक मामलो में पिता की आज्ञा कानून के तुल्य होती थी। अपनी सपत्ति का वह स्वेच्छानुसार पुत्रो में विभाजन कर सकता था। दशरथ ने कैकेयी के पिता को अपने वल-वूते पर यह वचन दे दिया था कि इसीका पुत्र कोसल-राज्य का उत्तराधिकारी वनेगा।[1] जव भरत ने चित्रकूट पर राम से कोसल का राज्य स्वीकार

---

१. पुरा भ्रातः पिता न. स मातरं ते समुद्वहन्। मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्क-

करने की प्रार्थना की, तब राम ने कहा कि मुझे मृगछाला और चीर-वल्कल पहनाकर जगल में भेजने या राजगद्दी पर बैठाने दोनो में मेरे पिता सर्वथा समर्थ है ।[1]

कुटुब का ढाचा इस अर्थ में सयुक्त था कि सारे सदस्य एक ही मुखिया की आज्ञा शिरोधार्य करते थे । राज-परिवारो में राजा की विभिन्न पत्निया और पुत्र अपने पृथक महलो में रहते थे, उनके अपने सेवक और अनुचर होते थे, पर सभी महत्वपूर्ण कामो में वे गृहस्वामी (पिता या बडे भाई) के आदेशो का पालन करते थे । विवाह के बाद राम अपने पृथक प्रासाद में रहने लगे थे (२।१६), फिर भी उन्होने पिता के आदेशानुसार वन जाने में कोई हिचकिचाहट नही दिखाई । राज्य की बागडोर सम्हालने पर राम की अपने भाइयो और उनके पुत्र-कलत्र से भरे सयुक्त परिवार पर शासन करने की बारी आई ।

समाज की एक इकाई के रूप में परिवार उसकी परपराओ, भावनाओ एव आचार-विचारो को वर्षो से आत्मसात करता आता है । इस नाते वह अपने सदस्यो में उनका सचार करने का एक अच्छा माध्यम सिद्ध होता है । वाल्मीकि ने बारबार यह शिक्षा दी है कि मनुष्य को उन सब सस्कारो और रूढियो का मनोयोगपूर्वक सरक्षण और पालन करना चाहिए, जो परिवार में अतीत काल से प्रतिष्ठित हो गई है, तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को कुटुब के सामूहिक हितो के समक्ष गौण रखना चाहिए । रामायण में ऐसे अभिजात पुरुषो के अनेक दृष्टात आये है, जिन्होने परिवार की सास्कृतिक थाती का निष्ठापूर्वक पालन करने का सदैव आग्रह रखा । महाराज दशरथ ने अपनी राज्य-सभा के समक्ष गर्वपूर्वक यह घोषणा की थी कि प्रजा की रक्षा मे जागरूक रहकर मैंने अपने पूर्वजो के मार्ग का ही अनुसरण किया है ।[2]

मनुत्तमम् ॥२।१०७।३, इसी प्रकार विश्वामित्र ने अपने अनाज्ञाकारी पुत्रो को उत्तराधिकार से वचित कर एक अपरिचित कुमार, शुनःशेप, को दत्तक ले लिया था (१।६२) । ययाति ने अपने बडे पुत्रों की उपेक्षा कर सबसे छोटे पुरु को राजगद्दी सौंपी थी (७।५९) ।

१ वने वा चीरवसन सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् । राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥२।१०१।२०

२ मयाप्याचरितं पूर्वै पन्थानमनुगच्छता । प्रजा नित्यमनिद्रेण ययाशक्त्य-भिरक्षिताः ॥२।२।६

माता कौसल्या से वन जाने की अनुमति मागते हुए राम ने यही तर्क दिया था कि पिता की आज्ञा मानकर मैं पूर्वकाल के धर्मात्मा पुरुषो द्वारा सेवित मार्ग पर ही चल रहा हू—**पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते** (२।२१।३६)। जब कैकेयी ने यशस्वी इक्ष्वाकु-कुल के कल्याण की अवहेलना कर अपने और अपने पुत्र के स्वार्थों को प्रधानता दी, तब दशरथ अपने महान वश पर आनेवाली घोर विपत्ति से आशकित हो उठे थे।[1] राम के वनवास और भरत के राज्याभिषेक का दुराग्रह करके कैकेयी ने परिवार की प्रतिष्ठित परपराओ को तोडने की चेष्टा की, जिससे सभी विचारशील लोगो के चित्त सशकित हो गए। सुमत्र ने कैकेयी की भर्त्सना करते हुए कहा—"इस कुल में यही रीति रही है कि राजा के देहात के बाद उसके पुत्र आयु के अनुसार राज्य के अधिकारी बने। इस सनातन प्रथा को तुम महाराज के जीते-जी तोड देना चाहती हो ?"[2] ऐसा कोई भी कृत्य, जो 'अमर्याद' अर्थात् पारिवारिक परपराओ के प्रतिकूल होता, हेय और लोक-निंदित था। उज्ज्वल इक्ष्वाकु-परिवार पर अपयश का टीका लगानेवाली कैकेयी को 'स्वकुलोपघातिनी', 'कुलघ्नी' और 'कुलपासनी'-जैसे विशेषणो से सबोधित किया गया है। इसके विपरीत कैकेयी-पुत्र भरत प्रभूत प्रशसा के पात्र इसलिए बने कि पारिवारिक प्रथाओं का उल्लघन करने का जो प्रयत्न उनकी माता ने किया, उसे उन्होने निर्मूल कर दिया। जब मत्रियो तथा राज्य-सभा के प्रमुख सभासदो ने उनसे राजगद्दी पर बैठने को कहा, तब भरत ने यही उत्तर दिया कि हमारे वश मे ज्येष्ठ पुत्र ही शासन करने का उचित अधिकारी होता है—**ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः** (२।७९।७)।

इस प्रकार के पारिवारिक सगठन में पुत्र का महत्वपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक था, क्योकि वह **वशकरः**, वश को चलानेवाला था। धार्मिक दृष्टि से भी पुत्र की आवश्यकता अनुभव की जाती थी। 'पुत्' नामक नरक से बेटा पिता की रक्षा करता है, इसलिए वह 'पुत्र'—पितरो की सब प्रकार से रक्षा करनेवाला—कहलाता

---

१ **इक्ष्वाकूणां कुले देवि सप्राप्तः सुमहानयम्। अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥२।१२।१९**

२. **ययावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये। इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तं लोपयितुमिच्छसि ॥२।३५।९**

है।[1] पारलौकिक कल्याण के लिए पुत्र-प्राप्ति नितात आवश्यक थी, पितृ-ऋण से मुक्त होने का वह साधन थी। भरत-जैसे धर्मात्मा पुत्र को पाकर महाराज दशरथ निस्सदेह ऋण-मुक्त हो गए थे।[2]

अतएव पुत्र के अभाव में माता-पिता का उद्विग्न रहना स्वाभाविक ही था (विनात्मजेनात्मवता कुतो रति., २।१२।१११)। पुत्र-प्राप्ति के लिए वडे उद्योग किये जाते, तपस्या की जाती, यज्ञो का सपादन किया जाता। लोगो की इस बात में वडी श्रद्धा थी कि दीर्घ तपस्या, सदाचारी जीवन तथा धार्मिक अनुष्ठानो के परिणामस्वरूप ही सुयोग्य पुत्र की उपलब्धि हो सकती है। महाराज दशरथ को कठोर तपस्या, असाधारण परिश्रम तथा विभिन्न प्रकार के पराक्रमो और मत्र-तत्रो के प्रयोग से राम-सदृश शुभ लक्षण-सपन्न पुत्र की प्राप्ति हुई थी।[3] राम-जैसा पुत्र पाकर उनका जीवन धन्य और कृतकृत्य था।[4] स्त्रिया भी सतान-प्राप्ति के लिए तपस्या का आश्रय लेती थी। पुत्रो की कल्याण-कामना से माता-पिता मागलिक कृत्यो का अनुष्ठान करते थे। राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के दिन जब दशरथ ने उन्हें कैकेयी के प्रासाद में बुला भेजा, तब राम ने सोचा कि जान पडता है, माता कैकेयी और पिताजी दोनो मिलकर मेरे अभिषेक के सबध में कोई औपचारिक कृत्य करने का विचार कर रहे है (२।१६।१५)।

परिवार में पुत्र स्नेह का केंद्र-बिंदु था। 'दर्पण में पडनेवाले प्रतिबिंब-सदृश' (आदर्शतलसस्थितम्) पुत्र से बढकर और क्या प्रिय हो सकता है—नास्ति पुत्रसम प्रिय। कवि ने दशरथ और अधमुनि के पुत्र-स्नेह का मार्मिक चित्रण कर पुत्र के प्रति मानव की शाश्वत ममता को साकार कर दिया है।

पुत्रो में भी ज्येष्ठ पुत्र का अधिकारपूर्ण स्थान था। वशगत और भावनात्मक

---

१ पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितर त्रायते सुत.। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन्य पाति सर्वत ॥२।१०७।१२

२ अनृण स महाबाहु पिता दशरथस्तव। यस्य त्वमीदृशो पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सल ॥२।११३।१७

३ महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमै। एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षण ॥२।८६।१२, २।५१।११ भी देखिए।

४ जातमिष्टमपत्य मे त्वमद्यानुपम भुवि।२।४।१३

दोनो कारणो से वह पिता का अधिक प्रीति-पात्र था।[1] दशरथ के चारो पुत्रो में से ज्येष्ठ राम ही उनकी आखो के तारे थे (**तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः**, १।१८।२४)। गुणवती पटरानी कौसल्या के गुणवान पुत्र होने के नाते राम के प्रति दशरथ का आकर्षण और भी बढा हुआ था।[2] विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के लिए राम को दशरथ इसीलिए नही भेजना चाहते थे कि वह उनके जेठे बेटे थे।[3] कैकेयी निस्सदेह दशरथ की प्राणप्रिय भार्या थी, पर राम उससे भी अधिक उन्हें प्यारे थे।[4] कैकेयी की मागें पूरी करने का वचन देते हुए उन्होने राम की शपथ खाई थी—**तेन रामेण कैकेयी शपे ते वचनक्रियाम्** (२।११।७)।

उत्तराधिकार का कानून ज्येष्ठ पुत्र को विशेषाधिकार प्रदान करता था। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, उसे अपने छोटे भाइयो से पहले राजगद्दी पर बैठने का अधिकार था।[5] पिता की अत्येष्टि तथा पितरो के श्राद्ध में पिंड-दान करने का पहला अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त था। ऐसी मान्यता थी कि पिता के प्रिय पुत्र द्वारा प्रदत्त पिंड आदि पितृलोक मे अक्षय हो जाते है।[6]

बडे भाई के विवाह को प्राथमिकता दी जाती थी। उससे पहले विवाह कर लेनेवाला छोटा भाई 'परिवेत्ता' कहलाता था और नरक का भागी बनता था।[7] छोटे भाई बडे भाई को पितृतुल्य मानते और उसके आदेशो का तन-मन से पालन करते थे। जब कुभकर्ण ने लका की राज्य-सभा में रावण को राजधर्म पर उपदेश दे डाला, तब रावण ने उत्तेजित होकर उसे फटकारा कि मै तुम्हारा बडा भाई और

---

१ प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः।१।६१।१९

२. ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः। उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः॥२।३।३९-४०

३ ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि।१।२०।१२

४. अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम। मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते॥२।११।५

५ सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते।२।७३।१२

६. प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव। अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः॥२।१०२।८

७. नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयगामिनः।४।१७।३६

पुत्रो का धरती खोदकर मृत्यु का ग्रास वनना, ये पूर्वकालीन उदाहरण राम के सामने मौजूद थे। इन लोगो ने तथा अन्य कितने ही देवतुल्य पुरुषो ने आख मीचकर पिता का वचन माना था। पिता की आज्ञा का उल्लघन करना राम की शक्ति के वाहर की वात थी (२।२१।३०-४)।

एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि माता की आज्ञा और पिता के आदेश में परस्पर विरोध होने पर किसका वचन पुत्र के लिए अधिक आदरणीय होना चाहिए। यो तो 'धर्मात्माओ की पिता में जितनी गौरव-बुद्धि होती है, उतनी ही माता में भी',[1] तथापि रामायण में ऐसी विषम स्थिति में पिता की आज्ञा को ही अधिक ऊचा पद दिया गया है। कौसल्या और राम के सवाद से यह प्रकट है। जव राम ने पिता की आज्ञानुसार वन जाने की अनुमति माता से मागी, तव कौसल्या ने उनसे कहा—"हे धर्मज्ञ, यदि तुम धर्म का आचरण करना चाहते हो तो यही रहकर मेरी सेवा करो। देखो, कश्पय ऋषि अपने घर में ही नियमपूर्वक माता की सेवा में लगे रहे और अत में स्वर्ग गए। जिस प्रकार गुरु-भाव से राजा तुम्हारे पूज्य हैं, वैसी मै भी हू। मै तुम्हें वन जाने की आज्ञा नही देती, इसलिए न जाओ" (२।२१।२४-५)। इसके उत्तर में राम ने परशुराम का उदाहरण दिया, जिन्होने पिता की आज्ञा का आख मूदकर पालन करके अपनी माता रेणुका का सिर फरसे से काट डाला था (२।२१।३३)। माता के प्रति अतिशय स्नेहमय होने पर भी राम पिता के वचन अधिक माननीय समझते थे, क्योकि 'पिता की आज्ञा पालन करने से कोई भी धर्म से भ्रष्ट नही होता'।[2] शुक्रनीति (२।७८-९) के अनुसार पिता के पुण्य के प्रभाव से परशुराम को अपनी माता पुन मिल गई और राम को अपना राज्य पुन प्राप्त हो गया, जबकि पिता की आज्ञा की अवहेलना करके ययाति और विश्वामित्र के पुत्र निम्नतम स्थिति को प्राप्त हो गए। सामान्यत माता-पिता दोनो के ही वचन पुत्र के लिए वरेण्य थे, किंतु पितृ-प्रधान परिवार में पिता को स्वभावत कुछ प्रमुखता मिल जाती थी।

राजकीय परिवारो मे ज्येष्ठ पुत्र अपने विवाह के बाद दैनिक कार्य-कलाप

---

१ यावत्पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते। तावद्धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥२।१०१।२१

२. पितुर्हि वचनं कुर्वन्न कश्चिन्नाम हीयते।२।२१।३७

में पिता को भरसक सहयोग देता था। सीता से विवाह हो जाने के बाद राम अपने पिता की सेवा-शुश्रूषा का विशेष ध्यान रखते थे, उनकी आज्ञा के अनुसार वह राज-काज देखने तथा प्रजाजनो के प्रिय और हित में निरत रहने लगे। समय-समय पर वह अपनी माताओ तथा अन्य गुरुजनो की सेवा करने का भी ध्यान रखते थे। उनके इस बर्ताव से राजा दशरथ, पुरवासी, वेदवेत्ता ब्राह्मण तथा वैश्य महाजन सतुष्ट और प्रसन्न थे (१।७७।२०-४)।

मानव-सभ्यता के अरुणोदय से ही परिवार को स्थायित्व प्रदान करने में पैतक स्नेह और यौन इच्छा का प्रमुख योग रहता आया है। समाज का यह कर्तव्य है कि वह इन दोनो भावनाओ का इस प्रकार सचालन करे कि वे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बन जाय। पैतृक स्नेह ही पिता को सतति के लिए त्याग और श्रम करने को कटिबद्ध रखता है। वृद्धावस्था में पुत्र को सब-कुछ सौप उपराम-वृत्ति ग्रहण करने की आज्ञा देकर हमारे शास्त्रकारो ने पिता के सपत्ति-प्रेम या स्वार्थ-भाव को परिवार की भावी सुख-शाति और सुचारु व्यवस्था के निमित्त नियत्रित रखने की चेष्टा की। इसी प्रकार यौन भावना पर व्यवहार (कानून), नैतिक और धार्मिक नियमो तथा परपराओ और सस्कारो का बधन लगाकर उसे मर्यादित रखा गया, जिससे वह कामोपभोग की उद्दाम वासना के बजाय वश चलाने की हार्दिक अभिलाषा का रूप ले सके।

परिवार के सदस्यो का सौहार्दमय पारस्परिक सबध ही आर्य-सस्कृति का प्रधान सबल, उसकी उत्कृष्टता का प्रमुख रहस्य रहा है। रामायणकार ने पाठक के सामने सयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यो के बीच स्नेह और सद्भावनापूर्ण सबधो का एक उत्कृष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। दशरथ के पारिवारिक जीवन का चित्रण कर वाल्मीकि ने पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, देवर-भौजाई, सास-पुतोहू आदि के स्नेहसिक्त एव अनुकरणीय सबधो के समुज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किये हैं। यह सत्य है कि कैकेयी की ईर्ष्या-भावना इस सुखी परिवार पर काली छाया की तरह आ पडी है, पर उसकी स्वार्थपरायणता और अमर्यादित आचरण के कारण ही तो अन्य सदस्यो की उदात्त वृत्तिया और नि स्वार्थ व्यवहार प्रकाश मे आ सके। दशरथ में यदि आदर्श पिता और राम में आदर्श पुत्र मूर्तिमान हो उठे है तो लक्ष्मण और भरत में आदर्श भाई तथा कौसल्या और सीता में आदर्श पत्नी का रूप निखरा है। रामायणकालीन समाज का कोई भी अध्ययन, इन विशिष्ट चरित्रो

के पारिवारिक आचरण का समुचित मूल्याकन किए बिना, पूर्ण नही हो सकता।

राम और उनके तीनो भाइयो के बीच निश्छल और प्रगाढ भ्रातृ-प्रेम था। जैसे गाय के खुर अथवा प्रोष्ठपद नाम के तारे दो-दो के जोडे में परस्पर अनुरक्त रहते हैं, वैसे ही वे चारो भाई राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न के दो-दो के जोडे में परस्पर अनुरक्त थे (प्रोष्ठपदोपमा.)। उनमें कोई स्पर्धा, कोई प्रतियोगिता या कलह नही था। राम को अपने भाई प्राणो से भी प्यारे थे। वन-प्रस्थान के समय उन्होने सीता को घर पर रहने के लिए समझाते हुए कहा था कि प्राणप्रिय भरत और शत्रुघ्न का तुम अपने भाई और पुत्र के समान विशेष ध्यान रखना।[1] भाइयो के प्रति उनका प्रेम चित्रकूट पर भी उस समय उज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है, जब उनसे अयोध्या लौट चलने की अनुनय-विनय की गई थी। लक्ष्मण ने राम के लिए नि-स्वार्थ आत्मोत्सर्ग कर रखा था और राम के भी वह मानो वाह्य प्राण ही थे (बहिः प्राण इवापर, १।१८।३०)। राम और भरत का प्रेम भी अद्वितीय और देवोपम था। राम का भरत के राज्याभिषेक के प्रस्ताव से आनदित होकर अपना अधिकार छोड देना तथा भरत का उसे स्वीकार न करना और तपस्वी रूप में जीवन-यापन करना, एक-दूसरे से बढकर आदर्श उपस्थित करते है।

राम के यौवराज्याभिषेक पर कैकेयी के आक्रोश की घटना को एक अपवाद मान लिया जाय तो हम देखेंगे कि दशरथ की रानियो का पारस्परिक व्यवहार नितात सौहार्दपूर्ण था। कौसल्या का कैकेयी के प्रति भगिनीवत व्यवहार था।[2] सुमित्रा ने अपनी स्थिति सर्वथा गौण बना रखी थी—उसने कौसल्या के हितो में ही अपने हितो को एकाकार कर दिया था और अपने पुत्र को जेठे भाई के प्रति पूर्ण-तया अनुरक्त बनने देने में ही गौरव का बोध किया था। मथरा द्वारा बहकाये जाने से पहले कैकेयी राम को अपना बडा पुत्र मानती थी, उसके स्नेह के वह और भरत समान रूप से पात्र थे।[3] राम का भी अपनी विमाता के प्रति मातृ-तुल्य व्यवहार

१. भातृपुत्रसमौ चापि दृष्टव्यौ च विशेषतः। त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥२।२६।३३

२. तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी। त्वयि...भगिन्यामिव वर्तते॥ २।७३।१०

३. स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे। तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥२।१२।१७, ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना। २।१२।२१

था। उन्हें अपने प्रति कैकेयी की सद्भावना में कोई सदेह नही था। उसके षड्यत्र के प्रकट होने पर भी राम के व्यवहार में कोई अतर नही आया। सच तो यह था कि दशरथ के विशाल अत पुर में, जहा असख्य नर-नारी रहते थे, राम से कोई अप्रसन्न नही था—

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम्।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते॥ २।१२।२७

इस प्रकार हम देखते है कि माता और पिता की भक्ति, सतति का प्रेम, पति-पत्नी की अनुरक्ति, अतीत की परपराओ में आस्था तथा पूर्वजो का श्रद्धामय स्मरण—ये ही वे सुकुमार ततु थे, जो परिवार के सदस्यो को परस्पर बाधे रखते थे। एक सस्कारी हिंदू गृहस्थ का घर, गृह-देवता अग्नि के सरक्षण में, परिवार के जीवित सदस्यो का ही नही, अपितु दिवगत पितरो का भी आवास है। अग्नि की साक्षी में पच-महायज्ञो का अनुष्ठान किया जाता है तथा पितृ-यज्ञ के समय पूर्वजो का प्रतिदिन स्मरण। ऐसे पवित्र वातावरण में प्राचीन आर्यों का परिवार—मातृ-स्नेह, पैतृक सरक्षण, दापत्य प्रणय और सतानोत्पत्ति की हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियो के आधार पर—समाज-हित में योग-दान करता था।

परिवार का नष्ट-भ्रष्ट, तितर-बितर या विशृंखलित हो जाना एक महान विपत्ति था। अराजकता के दोषो का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते है कि राजा-रहित प्रदेश में पारिवारिक जीवन और नैतिक जीवन का चरम पतन हो जाता है—तब पिता और पुत्र में सघर्ष होने लगता है और स्त्रिया हाथ से बाहर निकल जाती है—**नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे** (२।६७।१०)।

मनुष्य के चरित्र-निर्माण में कुटुब के महान योग को रामायण ने स्वीकार किया है। कुल या परिवार ही एक ऐसा शिक्षणालय है, जिसमे व्यक्ति स्नेह और सौहार्द का, गुरुजनो के प्रति आदर और भक्ति-भाव का तथा सामूहिक कल्याण के लिए वैयक्तिक प्रवृत्तियो और महत्वाकांक्षाओ को दबाने का पाठ सीखता है। अपने जीवन में राम ने जिन अलौकिक गुणो का परिचय दिया, उनकी जडें उनके अपने पारिवारिक जीवन में जमी थी। वही उन्होने सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरु-सेवा-जैसे सद्गुणो को विकसित किया,[1]

१. **सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्। विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे॥२।१२।३०**

वही उन्होने 'प्रजाजनो को सत्य से, दीनो को दान से, गुरुजनो को सेवा से और शत्रुओ को धनुष से जीतना' सीखा।[1] शत्रु और मित्र के प्रति सरल, शिष्ट और स्पष्ट व्यवहार, जीवन के विपम क्षणो में उच्च नैतिकता का आग्रह, विचारो की दृढता, असत्य और ईर्ष्या-द्वेष से सर्वथा मुक्ति, दानशीलता और उदाराशयता, समस्त मानवो के प्रति सेवा-भाव, प्राणि-मात्र के प्रति प्रेम और भ्रातृत्व आदि गुण, जो उनके उथल-पुथल-भरे जीवन में पद-पद पर प्रकट हुए है, अपने उद्भव और विकास के लिए पारिवारिक सहयोग, पारिवारिक अनुशासन एव पारिवारिक वातावरण के ही ऋणी थे। वस्तुत राम का समग्र जीवन परिवार के मनोवैज्ञानिक एव सामाजिक सत्प्रभाव का उज्ज्वल दृष्टात है।

---

१. सत्त्वेन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः। गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥२।१२।२९

: ८ :

विवाह

विवाह व्यक्ति के जीवन का एक महत्वपूर्ण अध्याय है, गृहस्थाश्रम की भित्ति और पारिवारिक ढाचे की आधार-शिला। मनु ने उसे स्त्री-पुरुषो के सबधो को मर्यादा में रखनेवाली कल्याणकारी लौकिक प्रथा माना है—**एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा।**[1] रामायण-काल में वह पारपरिक एव शास्त्रीय आधारो पर पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी। सामान्यत प्रत्येक प्राणी के लिए विवाह—पारिवारिक स्थिरता, सासारिक सुख और पारलौकिक कल्याण की दृष्टि से—आवश्यक और वाछनीय माना जा चुका था। विशेष कर स्त्रियो के लिए तो विवाह एक प्रकार से उनका नूतन जन्म-सस्कार था, जिस प्रकार उच्च वर्ण का व्यक्ति उपनयन-संस्कार द्वारा द्विजत्व प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्त्री पाणिग्रहण द्वारा अपने व्यक्तित्व का उत्कर्ष करती है।[2]

उन दिनो विवाह से पूर्व वर-वधू मे कोई परिचय या सपर्क नही होता था। उच्च कुल की कन्याए प्राय. एकात मे रहती थी और उन्हे प्रेमी जनो से मिलने के कम ही अवसर मिला करते थे। सीता, मंदोदरी, कुशनाभ-कन्याए, ऋष्यश्रृग की पत्नी शाता, इनमें से किसीने विवाह से पहले पति के दर्शन नही किये थे। रामायण में जहा कही अविवाहित कन्याओ के प्रति प्रणय-प्रस्ताव किये गए है, वहा वे या तो असफल सिद्ध हुए है अथवा स्वयं कन्याओ द्वारा तिरस्कृत कर दिये गए है। शिष्ट वर्गो में विवाह से पहले प्रेम-सभाषण हेय दृष्टि से देखा जाता था, जैसाकि अरजा, वेदवती और कुशनाभ-कन्याओ के आख्यानो से विदित होता है।

वर्ण-व्यवस्था में ज्यो-ज्यों रूढिबद्धता और जटिलता आती गई, त्यो-त्यो विवाह-सबधो का क्षेत्र भी सकुचित होता गया। पर रामायण के युग तक ऐसी स्थिति

---

१. मनुस्मृति ९।२५

२. **वृत्तशीले कुले जातामाचारवति धार्मिके। पुनः संस्कारमापन्ना जातामिव च दुष्कृते॥** ५।१९।१०, टीका देखिए।

उत्पन्न नही हुई थी। समान शील और कुल के आग्रह के सिवा विवाह-सबधो पर कोई निर्धारित प्रतिबध नही थे। गोत्र, प्रवर, सपिंड सबधो के वर्जन आदि का ध्यान रखा जाता था या नही, उल्लेख के अभाव में कहना कठिन है। जन्म-पत्रिका आदि मिलाने का रिवाज भी परवर्ती काल का ही लक्षण जान पडता है।

अतरजातीय विवाहो का प्रचलन था। क्षत्रिय राजकुमारी शाता और ब्राह्मण ऋषिकुमार ऋष्यशृग का विवाह अनुलोम-विवाह का उदाहरण है, जिसमें उच्च वर्ण का पुरुष निम्न जाति की स्त्री से विवाह करता है। जिस मुनिकुमार को दशरथ ने भ्रमवश मार डाला था, उसके पिता वैश्य और माता शूद्रा थी।[1] उत्तरकाड के युग में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो की सख्या और बढ गई। क्षत्रिय ययाति और ब्राह्मण देवयानी का संबध प्रतिलोम-विवाह का उदाहरण है, जिसमें निम्न जाति का व्यक्ति उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह करता है।

पुत्र-पुत्रियो के विवाह प्राय माता-पिता ही रचा करते थे। वर-वधू की स्वतत्र इच्छाए कोई महत्व नही रखती थी। पति-वरण के प्रश्न में कन्या को पितृवशा, पिता के सर्वथा अधीन बताया गया है। पिता की समति के बिना उसका स्वेच्छा से पति चुन लेना या किसी प्रेमी के विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना अनुचित एव अशोभनीय माना जाता था। जब वायु ने कुशनाभ-कन्याओ से अपनी भार्या बन जाने के लिए कहा, तब उन्होने दृढतापूर्वक उत्तर दिया—"हे मूर्ख, ऐसा समय कभी न आये, जब हम अपने सत्यवादी पिता की उपेक्षा कर स्वेच्छापूर्वक स्वयवर कर लें। पिता ही हमारे प्रभु और परम देवता है। वह जिसको हमें सौंप देंगे, वही हमारा पति होगा—**यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति** (१।३२।२१-२)। ऐसी दशा में शिष्ट आर्य-परिवारो में प्रणय या गाधर्व-विवाहो के लिए अनुकूल वातावरण नही था।

कन्या की याचना उसके पिता से ही करनी पडती थी। सीता से विवाह के इच्छुक राजागण महाराज जनक के समक्ष अपना प्रस्ताव रखते थे।[2] जब कामोन्मत्त राजा दड ने शुक्र ऋषि की पुत्री अरजा से समागम की इच्छा व्यक्त की, तब उस मुनि-कन्या ने असहमति प्रकट करते हुए कहा—"मैं कुमारिका हू और अपने पिता

---

१. **शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप।** २।६३।५०

२ **वर्धमाना ममात्मजाम्। वरयामासुरागत्य राजान· ..॥** १।६६।१५-६

के सर्वथा वश में हूं। आप मेरा बलपूर्वक स्पर्श न करे। नरश्रेष्ठ, मेरे तेजस्वी पिता से आप मेरी याचना कर ले।"—

मा मां स्पृश बलाद्राजन् कन्या पितृवशा ह्यहम्।
वरयस्व नरश्रेष्ठ पितरं मे महाद्युतिम् ॥७।८०।९-११

इस स्थल पर विवाह की उस स्वयवर-प्रथा की चर्चा कर देना अप्रासगिक न होगा, जिसमे वधू स्वेच्छा से वर का चुनाव करती है। कुछ लोगो की धारणा है कि सीता का विवाह स्वयवर-प्रणाली के अनुसार स्वेच्छा-संमत ढग से हुआ था। यद्यपि स्वय सीता ने अनसूया के समक्ष अपने विवाह को स्वयवर बताया था (२।११८।३८), तथापि इस स्वयवर को रूढ अर्थ मे 'स्वतत्र रूप से पति-वरण' समझना गलत है। प्राचीन भारत मे स्वयवर की दो प्रणालिया प्रचलित थी—एक तो वह, जिसमे वधू एक नियत स्थान पर इकट्ठे हुए वरो में से अपनी रुचि के पति को चुन लेती है, दूसरी वह, जिसमे पूर्व-निर्धारित शर्तो को पूरा करनेवाला ही कन्या के पाणिग्रहण का अधिकारी होता है। पहली प्रथा रामायण के समय मे प्रचलित नही थी, दूसरी अवश्य प्रचलित थी, किंतु इसमें भी वधू की स्वतत्र राय को कोई महत्व प्राप्त नही था। जो कोई भी वीर नियत शर्तों का भली भाति पालन कर लेता, वधू उसको वर-माला पहनाने को बाध्य थी। सीता के कथित स्वयवर में भी यही हुआ, पति का चुनाव उनकी स्वतत्र इच्छा पर निर्भर नही था। स्वयवर का सारा महोत्सव उनके पिता राजा जनक ने आयोजित किया था, जिसमें उन्होने घोषणा कर दी थी कि जो व्यक्ति शिव-धनुष को उठाकर तान लेगा, निस्सदेह मेरी कन्या उसकी पत्नी बनेगी।[1] इस प्रकार रामायणकालीन स्वयवर-प्रथा मे भी कन्या की अपेक्षा पिता का ही प्रभाव अधिक था, वही 'धनुर्विद्या मे कुशलता'-जैसे मापदडो के आधार पर पुत्री के लिए वर का चुनाव करता था। यह निर्वाचन भी आमत्रित व्यक्तियो तक सीमित रहता था। जब कुशनाभ-कन्याओ ने वायु से कहा कि हम पिता की उपेक्षा करके स्वयवर नही करना चाहती,[2] तब 'स्वयवर' से उनका अभिप्राय 'स्वयग्रहण' (स्वेच्छापूर्वक

---

१. इदं च धनुरुद्यम्य सज्ज यः कुरुते नरः। तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशय.॥ २।११८।४२

२. मा भूत्स कालो दुर्मेधः पितर सत्यवादिनम्। अवमन्य स्वधर्मेण स्वयंवरमुपास्महे॥ १।३२।२१

पति चुन लेना) था। इस दूसरे प्रकार के स्वयवर को उस युग की सभ्रात कन्याए अनादर की दृष्टि से देखती थी। इसके अतिरिक्त उन दिनो के स्वयवर विशाल, वैभव-पूर्ण राजकीय महोत्सव हुआ करते थे, जिनका प्रचार क्षत्रिय राजाओ-महाराजाओ के वर्गो में सीमित था। ब्राह्मणो तथा अन्य वर्णों की कन्याओ के विवाह में स्वयवर का रिवाज नही था।

पुत्रो के विवाह में भी पिता की अनुमति आवश्यक थी। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की शिक्षा की समाप्ति के बाद महाराज दशरथ ने ही उनका विवाह कर देने का निश्चय किया था (१।१८।३६-८)। जनक ने राम-सीता के विवाह में दशरथ की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए अपने दूतो को अयोध्या भेजा था (१।६८।२७)।

सतान के विवाह में पैतृक सत्ता का इतना अधिकार होते हुए भी केवल इस कारण विवाहो के दु खमय होने के उदाहरण नही मिलते। सीता और मदोदरी के पतियो का चुनाव उनके पिताओ ने किया था, फिर भी उन्हे पति-प्रेम पर्याप्त मात्रा में मिला और वे भी अनुरागिणी पत्निया निकली। सीता राम की प्रियतमा इसलिए थी कि वह उन्हे पिता दशरथ की अनुमति से प्राप्त हुई थी—**प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति** (१।७७।२६)।

कभी-कभी पिता के अतिरिक्त अन्य लोग भी वैवाहिक सबध स्थापित कराने में सहायक होते थे। उदाहरणार्थ, अयोध्या और मिथिला के राज्य-परिवारो में विवाह-सबध रचाने में विश्वामित्र ने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। उन्ही के सुझाव पर जनक की दोनो भतीजियो का विवाह भरत और शत्रुघ्न से हुआ था।

कन्याए वयस्क होने पर ही ब्याही जाती थी। सीता और उनकी बहनें विवाह के बाद अपने-अपने पतियो के साथ एकात में रमण करने लगी थी—**रेमिरे मुदिता. सर्वे भर्तृभिर्मुदिता रहः** (१।७७।१३)। इससे उनकी युवावस्था प्रमाणित होती है।

अरण्यकाड में एक स्थल ऐसा है, जिससे सीता का विवाह बाल्यावस्था में हुआ जान पडता है। पचवटी में रावण को अपना परिचय देते हुए उन्होने कहा था कि विवाह के बाद मैं बारह वर्ष ससुराल में रही और वन जाते समय मेरी आयु

अठारह वर्ष की थी,[1] दूसरे शब्दो में, सीता का विवाह छ वर्ष की आयु में हो चुका था। किंतु यह प्रमाण अन्य कई प्रसगो से अविश्वसनीय सिद्ध होता है। छ वर्ष की बालिका में विवाह का उपर्युक्त प्रकार से फलीभूत होना कल्पित नही किया जा सकता। अनसूया के समक्ष सीता ने कहा था कि जब मेरी अवस्था विवाह-योग्य (**पति-संयोग-सुलभम्**) हुई, तब मेरे पिता जनक मेरे विवाह के विषय में बहुत चिंतित हुए।[2] छ वर्ष की आयु को इस श्रेणी मे कदापि नही रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि सीता के विवाह-योग्य बनने और राम के साथ उनका विवाह हो जाने—इन दोनो के बीच काफी समय बीता था। इस अरसे में अनेक राजा सीता को पाने की इच्छा से आये, पर पर्वताकार धनुष को देख अपना-सा मुह लेकर लौट गए (२।११८।४३-४)। फिर उन सबने मिलकर मिथिला को घेर लिया, और एक वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर यह घेरा उठ पाया (१।६०।२१-२)। इस प्रकार जब जनक ने सीता-स्वयवर के 'पण' (शर्त) की घोषणा की, तब से सीता अपना विवाह हो जाने तक आयु में और बडी हो चुकी थी। विवाह-सस्कार के समय उनकी माता ने अग्नि के समक्ष जो उपदेश दिया था, उसकी विस्मृति सीता को नही हुई थी।[3] अतएव निश्चय ही सीता की आयु इस प्रकार का उपदेश ग्रहण करने योग्य हो गई थी। स्वय जनक ने विश्वामित्र से कहा था कि मेरी 'वर्धमाना' (प्राप्तयौवना) पुत्री को पाने की इच्छा से बीसियो राजा आये, पर शारीरिक परीक्षा मे खरा न उतरने के कारण निराश हो चले गए (१।६६।१५-६)। इन प्रमाणो से यह सिद्ध है कि विवाह के समय सीता एक पूर्ण वयस्क, पति-सयोग के अनुकूल एव बुद्धिमती कुमारिका थी, जिन्हे माता-पिता से पत्नी के कर्तव्यो की समुचित शिक्षा भी मिल चुकी थी। स्पष्टत अरण्यकाड का उपर्युक्त स्थल प्रक्षिप्त प्रतीत होता है।[4]

१. उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने। अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते॥ ३।४७।४, ११, टीका देखिए।

२. पतिसंयोगसुलभ वयो दृष्ट्वा तु मे पिता। चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः॥ २।११८।३४

३. पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ। अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम्॥ २।११८।८

४. अनत सदाशिव अलतेकर—'पोजीशन आफ वीमेन इन हिंदू सिविलिजेशन', पृ० ६३

विवाह के समय कन्याओ के वयस्क होने की पुष्टि बालकाड और उत्तरकाड के आख्यानो से भी होती है। कुशनाभ-कन्याए, जो उद्धत वायु के विवाह-प्रस्ताव को अनादरपूर्वक ठुकरा सकती थी और जिन्हे अपने कुल की मान-मर्यादा का पूरा ध्यान था, राजा ब्रह्मदत्त से अपने विवाह के समय अवश्य ही बाल-वधुए नही रही होगी। तृणबिंदु की कन्या पुलस्त्य से विवाह के समय गर्भ धारण करने योग्य अवस्था को प्राप्त कर चुकी थी।

जब कन्याओ का विवाह उनके युवती होने पर किया जाता था, तब पुत्रो का विवाह उनके पूर्ण युवक होने पर किया जाय, यह स्वत सिद्ध है। अधमुनि के पुत्र की हत्या करते समय दशरथ युवराज थे और उनका तब तक विवाह नही हुआ था।[1] राम-लक्ष्मण विवाह के समय 'समुपस्थितयौवन' थे—उनका व्यक्तित्व ऐसा सुगठित और कातिमान था कि दर्शक निर्निमेष देखते ही रह जाते थे (१।४८।२-६)।

पति और पत्नी की आयु में कभी-कभी काफी अतर होता था। वृद्धो से युवतियो का विवाह अनहोनी घटना नही था। दशरथ ने वृद्धावस्था मे केकयराज की युवती कन्या का पाणिग्रहण किया था। तरुणी कैकेयी वृद्ध दशरथ को प्राणो से भी प्यारी थी—**स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्** (२।१०।२३)। इसी प्रकार वृद्ध ब्राह्मण त्रिजट की भार्या तरुणी थी।

विवाह का प्रमुख उद्देश्य श्रेष्ठ सतति को जन्म देकर वश-वृद्धि में योग देना था। इसलिए माता-पिता इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके पुत्र-पुत्रियो को श्रेष्ठ जीवन-साथी मिले। वर-वधू का 'सदृश' होना आवश्यक था। सीता-राम और उर्मिला-लक्ष्मण का विवाह सब प्रकार से अनुरूप था, क्या धर्म की दृष्टि से और क्या रूप-मौधुरी की।[2] रावण की अशोकवाटिका में सीता को देखकर हनुमान कह उठे थे कि 'स्वभाव, अवस्था, चरित्र, कुल तथा शुभ लक्षणो की समानता के कारण यह काली आखोवाली सीता राम के योग्य है और वह वैदेही के'—

तुल्यशीलवयोवृत्ता तुल्याभिजनलक्षणाम्।
रामोऽर्हति वैदेहीं त चेयमसितेक्षणा ॥५।१६।५

---

१. देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम्। २।६३।१४

२. सदृशो धर्मसम्बन्ध सदृशो रूपसम्पदा। रामलक्ष्मणयो राजन्सीता चोर्मिलया सह ॥१।७२।३

श्रेष्ठ वधू वह है जो 'अनुरूपा' पत्नी बन सके। मन और शरीर से पति से सयुक्त हो सके, ऐसी उसकी युवावस्था होनी चाहिए। 'शुभाचारा', सती और अनूढा वधू ही पति की प्रियतमा बन सकती है। उसके अखड कौमार्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उसका उच्च कुलोत्पन्न, रूप और यौवन से युक्त, अगाग मे मनोहर और गुणावली से विभूपित होना इष्ट था। रावण की स्त्रियो मे से कोई भी ऐसी नही थी, जो अकुलीन, कुरूप, गुणहीन, आभूषणो से रहित या पति को अप्रिय हो—

न चाकुलीना न च हीनरूपा
नादक्षिणा नानुपचारयुक्ता।
भार्याभवत्तस्य न हीनसत्त्वा
न चापि कान्तस्य न कामनीया ॥५।९।७१

आदर्श वधू मे सौभाग्य और मगल के सूचक कतिपय सुलक्षणो की भी आशा की जाती थी। इन लक्षणो का ब्योरा लका की रण-भूमि मे राम की कथित मृत्यु पर सीता के विलाप-वर्णन से प्राप्त होता है। उन्होने कहा—"सामुद्रिक-शास्त्र जाननेवालो ने मुझे सधवा और पुत्रवती बताया था। जिनके कारण कुल-कामिनियां अपने राजा-पतियो के साथ राज-पद पर अभिषिक्त होती है, मेरे चरणो मे वे कमल-रेखाए भी है। इसके विपरीत, जिन कुलक्षणो के कारण हतभागिनी स्त्रियो को वैधव्य प्राप्त होता है, उनमें से मुझे अपने मे कोई भी नही दिखाई देता। मेरे बाल बारीक, समान और काले है, भौंहे जुडी हुई नही है, जाघे गोल-गोल और रोम-हीन है, तथा दात सटे हुए है। आखो के प्रात-भाग, नेत्र, हाथ, पैर, टखने और जाघे, ये सब समान और उभरे हुए है। नख उतार-चढाववाले और चिकने है, तथा उगलिया भी समान है। मेरे उरोज मोटे और सटे है—उनके चूचक घसे हुए है। मेरी नाभि गहरी है तथा पार्श्वभाग और छाती उभरी हुई है। मेरी अग-काति खरादी हुई मणि के समान उज्ज्वल है और शरीर के रोए कोमल है तथा पैरो की दसो उंगलिया और तलवे पृथ्वी से अच्छी तरह सट जाते है। इनके कारण भी लक्षणज्ञो ने मुझे शुभ-लक्षणा बताया था। मेरे हाथ-पैर लाल है, उनके पोरो मे यव (जौ) की समूची रेखाएं है। कन्या के लक्षणो का ज्ञान रखनेवालो ने मुझे मद मुसकान करनेवाली बताया था" (६।४८।७-१४)।

वर को भी पूर्ण युवा, शुभाचारी और ऊर्ध्वरेता होना चाहिए। वर-वधू के 'सदृशत्व' का आग्रह यह सूचित करता है कि वधू की तरह वर का कौमार्य भी

अखडित होना चाहिए। उसका अध्ययन-क्रम सपूर्ण हो जाना चाहिए। तपस्या, वल, पराक्रम, धन, तेज, यश आदि वर के अन्य अपेक्षित गुण थे। सीता के अनुराग का हावेदार वनने के लिए रावण ने अपने को इन गुणो में राम की अपेक्षा वढा-चढा वताया था।[1]

माता-पिता अपनी पुत्री के लिए 'अभिरूप' (सुदर) पति की कामना करते थे। पुरुषो में सौदर्य और सौभाग्य के सूचक लक्षणो का उल्लेख हनुमान ने सीता के समक्ष राम का वर्णन करते हुए इस प्रकार किया था—"उनके कधे मोटे, भुजाए वडी-वडी, गला शख के समान और मुख सुदर है। गले की हँसली मास से ढकी हुई है तथा नेत्रो में कुछ-कुछ लालिमा है। उनका स्वर दुदुभि के समान गभीर तथा शरीर का रग सुदर और चिकना है। वह श्याम-वर्ण है। उनके सभी अग सुडौल और वरावर है। उनके तीन अग (जाघ, कलाई और मुट्ठी) मजवूत है, तीन (भौंहे, दोनो भुजाए और अडकोश) लबे है, तीन (वालो के अग्रभाग, अडकोश और घुटने) वरावर है, तीन (वक्ष स्थल, नाभि के किनारे का भाग और पेट) ऊचे है, तीन (नेत्रो के कोने, नख और हाथ-पैरो के तलवे) लाल है, तीन (दोनो पैरो की रेखाए, सिर के वाल और लिंग) चिकने है, तथा तीन (स्वर, चाल और नाभि) गभीर है। उदर और कठ पर त्रिवली का चिह्न है। (तलवो के मध्यभाग, पैर की रेखाए और स्तनों के अग्रभाग, ये तीन) धसे हुए है। चार अग (गला, लिंग, पीठ और फल्लिया) छोटे हैं। मस्तक में तीन भवर है। (अगूठे में चारो वेदो मे प्रवीणता की सूचक और ललाट में दीर्घायु की सूचक) चार-चार रेखाए है। वह चार हाथ ऊचे है। उनके

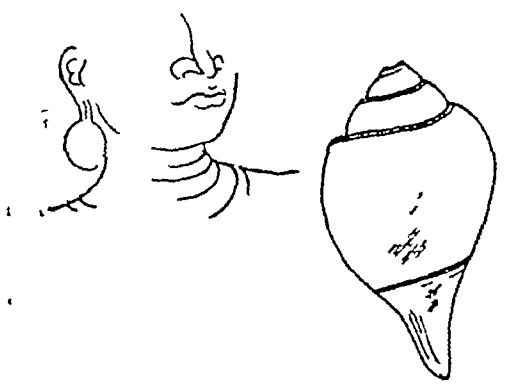

चित्र ४—कबुग्रीव

१. न रामस्तपसा देवि न वलेन च विक्रमै. । न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसाऽपि वा ॥५।२०।३४

(कपोल, भुजा, जाघ और घुटने, ये) चार अंग बराबर है। शरीर में दो-दो की सख्या में जो चौदह अग होते है (भौह, नथुने, नेत्र, कान, ओठ, स्तनाग्र, कोहनी, कलाई, घुटने, अडकोश, कमर, हाथ-पैर, कधे और स्फिच अर्थात कटि के पीछे का वह भाग जिसमें चलने से गड्ढे पड जाते है), वे भी उनके परस्पर सम है। उनकी (चारो कोनो की) चारो दाढें (ऊपर और नीचे की पक्ति के बगलवाले चार-चार दात) शास्त्रीय लक्षणो से युक्त है। वह (सिह, बाघ, हाथी और साड के समान) चार प्रकार की चाल चलते है। उनके ओठ, ठोडी और नासिका प्रशस्त है। उनकी नाक लबी है। (वाणी, मुख, नख, लोम और त्वचा, इन) पाचो मे स्निग्धता भरी है। (दोनो भुजाए, दोनो जाघे, दोनो फिल्लिया और दोनो कनिष्ठिकाए, ये) आठ दीर्घ है। उनके (चेहरा, नेत्र, मुह, जीभ, ओठ, तालु, स्तन, नख और हाथ-पैर, ये) दस अग कमल-तुल्य है। (छाती, मस्तक, ललाट, गला, भुजाए, कधे, नाभि, चरण, पीठ और कान, ये) दस अग चौडे है। वह श्री, यश और प्रताप से व्याप्त है। उनके मातृ-कुल और पितृ-कुल अत्यत शुद्ध है। (पार्श्वभाग, उदर, वक्ष स्थल, नासिका, कधे और ललाट, ये) छ अग ऊचे है। उगलिया, केश, रोम, नख, त्वचा, दाढी, मूछ के बाल, दृष्टि और बुद्धि सूक्ष्म है" (५।३५।१५-२०)।

चित्र ५—उन्नत नासिका

ये परिभाषाए भारतीय सौदर्य-शास्त्र के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इसी प्रकार बालकाड के प्रथम सर्ग मे राम के क्षत्रिय-स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनके कधे चौडे और उठे हुए, भुजाए लबी, ग्रीवा शख की तरह और ठोडी दोहरी थी। छाती चौडी, लबा धनुष सम्हालनेवाले घुटनो तक लबे हाथ, गले की हड्डी मास से दबी हुई, उत्तम सिर, सुदर ललाट, बडी-बडी आखें, चमकीला रग, सब अंग बराबर बटे हुए तथा शुभ लक्षणो से युक्त देह थी। (१।१।९-११)।

रामायण में छ प्रकार के विवाहो का वर्णन आया है। प्रथम प्रकार का उदाहरण कुशनाभ-कन्याओ और कापिल्या के राजा ब्रह्मदत्त का विवाह है। इस विवाह में वर से कुछ भी द्रव्य नही लिया गया—उसे राजा कुशनाभ ने आदरपूर्वक आमत्रित

कर वैदिक विधि से अपनी कन्याए उससे ब्याह दी (१।३३)। रोमपाद की पुत्री शाता तथा उत्तरकाड में वर्णित राजा तृणबिंदु और ऋषि भरद्वाज की कन्याओ के विवाह भी इसी विधि से सपन्न हुए। विवाह का यह प्रकार स्मृतियो के ब्राह्म-विवाह का पूर्व-रूप है।

दूसरे प्रकार का विवाह राम और सीता के परिणय मे देखा जा सकता है। जनक ने सीता को सब प्रकार के आभूषणो से भूषित कर, राम की एक 'सहधर्मचरी' के रूप में अर्पित कर दिया (१।७३।२५-६)। यह विधि स्मृतिकारो में प्राजापत्य-विवाह के नाम से रूढ हुई। इसमें कन्या का पिता वर का समुचित सत्कार कर दोनो को धर्माचरण में सहयोगी बनने को प्रवृत्त करता है।

वर से शुल्क या धन लेकर कन्या ब्याहने का रिवाज सभवत उत्तर-पश्चिमी सीमात के आर्यों में प्रचलित था। यह हम देख ही चुके है कि केकय देश के राजा ने दशरथ से अपनी कन्या इस शर्त पर व्याही थी कि वह उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनायगे। यह विवाह बाद में आसुर-विवाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पारस्परिक प्रेम से उद्भूत होनेवाला गाधर्व विवाह आर्येतर जातियो में अधिक पाया जाता था। कई कामासक्त रमणिया स्वेच्छा से आकर रावण की पत्निया बन गई थी।[1] राम के प्रबल आकर्षण ने शूर्पणखा को कामातुर बना दिया था और वह उन्हे अपना पति बना लेने को व्याकुल हो गई थी—**चिराय भव मे भर्ता** (३।१७।२५)। कुशनाभ-कन्याओ के प्रति वायु का विवाह-प्रस्ताव एकपक्षीय प्रणय का परिणाम था। उत्तरकाड में बुध और इला दोनो परस्पर अनुरक्त होकर प्रणय-सूत्र में आबद्ध हुए थे।

कन्या का अपहरण करके उससे विवाह कर लेने की प्रथा दुश्चरित्र और क्रूर-कर्मा राक्षसो में बहुत प्रचलित थी। रावण ने सीता का अपहरण करके उनसे अपनी भार्या बन जाने का अनुरोध किया था—**सीते मम भार्या भव प्रिये** (३।५५।१७)। जब सीता ने यह आपत्ति की कि मै राम की विवाहिता पत्नी हू, अत तुम्हारे अयोग्य हू, तब रावण ने उनसे कहा कि मुझे वरण करने में तुम्हे धर्म-लोप की आशका नही करनी चाहिए, क्योकि राक्षसो में यह आर्ष-प्रथा है—**आर्षोऽयं देवि**

---

१ **राजर्षिविप्रदैत्याना गन्धर्वाणा च योषित. । रक्षसा चाभवन् कन्यास्तस्य कामवशगताः। समदा मदनेनैव मोहिता काश्चिदागताः ॥ ५।९।६८-९**

निष्पेन्द (३।५५।५५)। टीकाकारो ने 'आर्ष' का अर्थ 'जिसे ऋषिगण राक्षस-विवाह कहते हैं' किया है। किंतु इस प्रकार की व्याख्या का कोई समीचीन कारण नही। यहा 'आर्ष' शब्द से अभिप्राय उस विवाह-विधि से है, जो अर्ध-सभ्य जातियो में प्राचीन काल से प्रचलित थी।

कामाध राक्षस लोग अनुत्सुक रमणियो का बलात्कार से उपभोग करने के अभ्यस्त थे। इस प्रकार के अनाचारपूर्ण कृत्य को स्मृतिकारो ने पैशाच-विवाह की संज्ञा दी है। इसमे पुरुष किसी युवती को पाशविक बल से वश मे करके अपनी वासना परितृप्त करता है। पुजिकस्थला, रंभा आदि अप्सराओ का रावण द्वारा उपभोग इस प्रकार के बलात काम-सबध का उदाहरण है।

उपर्युक्त वैवाहिक सबधो का कन्या की स्थिति पर क्या प्रभाव पडता था, यह भी एक विचारणीय विषय है। ब्राह्म और प्राजापत्य-विवाहो मे पिता या अभिभावक वर को कन्या का दान करता था, अर्थात ये विवाह होते ही कन्या पर सारा नियत्रण पिता से पति को स्थानातरित हो जाता था। इन दोनो विवाहो में वधू दान की वस्तु-मात्र होती थी, उसका अपना कोई सक्रिय योग नही होता था। किंतु प्राजापत्य-विवाह की एक शर्त कन्या के लिए हितकर होती थी। इस प्रणाली मे पिता अपनी पुत्री को वर की 'सहधर्मचरी' के रूप में अर्पित करता था, अर्थात वह वर के साथ यह शर्तनामा करता था कि वर अपनी वधू को यज्ञ, दान आदि में अपनी सहयोगिनी बनायगा और किसी दूसरी स्त्री से विवाह नही करेगा। आसुर-विवाह में पति को वधू-प्राप्ति के लिए कुछ कीमत चुकानी पडती थी। यह भले ही वर के लिए समान की बात न मानी जाय, पर इससे यह ध्वनि निकलती है कि समाज यह मानता है कि स्त्री का भी कुछ मूल्य है और उसे पाने के लिए यह मूल्य चुकाना जरूरी है। यह मूल्य धन या सपत्ति के रूप मे न हो कर वधू के लिए लाभदायक अन्य बातो का रूप भी ग्रहण कर सकता था। स्वयवर-विवाह मे विवाहेच्छुक राजाओ को कोई निर्धारित वीरोचित प्रदर्शन करना पडता था। इस 'वीर्य-शुल्क' अर्थात बहादुरी की कीमत से वधू को काफी सामाजिक महत्व मिल जाता था। गाधर्व या प्रणय-विवाह में वधू की इच्छा सर्वोपरि रहती थी, उसमें पिता द्वारा कन्या-दान का कोई प्रश्न नही था। इसके विपरीत, पिता या अभिभावक के शासन की कन्या तत्क्षण उपेक्षा कर देती है। राक्षस और पैशाच-विवाह कन्या के लिए अभिशाप-तुल्य थे, क्योकि इन दोनो में कन्या का अपहरण करके बलात विवाह किया जाता है।

आधुनिक अर्थ में दहेज-प्रथा का रामायण-काल में प्रचलन नही था। विवाह के

समय वर को उपहार अवश्य दिये जाते थे, पर वे सर्वथा स्वेच्छाजन्य थे—विवाह से पहले उनकी कोई मात्रा तय नही होती थी, जैसाकि बाद में चलकर हो गया।

विवाह में कन्या का दान करते समय उसे 'कन्या-धन' के नाम से उपहार दिये जाते थे। राजा जनक ने सीता के विवाहोत्सव पर प्रभूत कन्या-धन दिया था—गौए, अच्छे कबल, रेशमी और सूती वस्त्र, अलकृत हाथी, घोडे, रथ, पैदल सिपाही, सखी-रूप सौ कन्याए, अनेक दास-दासिया तथा बहुत-से मोती, मूगे और सुवर्ण (१।७४।३-६)। यह कन्या-धन वधू के वैवाहिक जीवन में स्त्री-धन का रूप ले लेता था। ये सब उपहार जनक ने स्वेच्छा और प्रसन्नतापूर्वक दिये थे—उनके विषय में वर-पक्ष से पहले कोई सौदा नही हुआ था।

दूसरी ओर कन्या के अत्यधिक गुणवती या रूपवती होने या वर के बडी आयु का होने पर कन्या या कन्या-पिता को कुछ शुल्क या धन देने के उदाहरण मिलते है। अनिद्य सुदरी सीता को पाने के लिए राम को धनुर्भग करके 'वीर्य-शुल्क' (पराक्रम का मूल्य) चुकाना पडा था, और तरुणी कैकेयी को पाने के लिए वृद्ध दशरथ को 'राज्य-शुल्क' (उसके पुत्र को राजा बनाने का वचन) देना पडा था।

रामायणकालीन विवाह-सस्कार विस्तृत शास्त्रीय विधि से किया जाता था। विवाह की रीति-रस्म, जो 'वैवाहिकी' या 'वैवाह्य' कहलाती थी, मगल घडी में सपन्न होती थी—उनमें शुभ नक्षत्र और मुहूर्त का विशेष ध्यान रखा जाता था। वाल्मीकि ने उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र को, जिसके अधिपति भग देवता है, विवाह के लिए उपयुक्त समय बताया है।[1]

तत्कालीन विवाह-प्रणाली का पूर्ण परिचय राम-सीता के विवाह-वर्णन से मिलता है (१।६९-७३), जिसमें कुल मिलाकर पाच दिन लगे थे। इस समारोह के तीन मुख्य भाग स्पष्ट पहचाने जा सकते है—(१) प्रारभिक औपचारिक कृत्य, (२) मूल सस्कार अथवा विवाह तथा (३) समुद्वाह अर्थात पति-गृह जाने पर किये जानेवाले मागलिक कार्य।

वर-प्रेषण (विवाह-सबध के लिए वर के पिता के पास दूत भेजना, जिसे आजकल 'लगुन भेजना' कहते है)—धनुप-भग होने के बाद महाराज जनक ने सर्वप्रथम

---

१. उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्या मनीषिण. । वैवाहिक प्रशसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः ॥ १।७२।१३

अपने दूत अयोध्या भेजकर महाराज दशरथ से राम-सीता के विवाह के लिए अनुमति मागी और उन्हे विवाह सपन्न कराने के लिए पुरोहित-सहित मिथिला पधारने का निमत्रण दिया। इस प्रकार विवाह का प्रस्ताव वधू का पिता वर के पिता से करता था। वर के पिता ने अपने पुरोहित और सबधियो से परामर्श कर जनक का निमत्रण स्वीकार कर लिया और वह दल-बल-सहित वधू-नगरी को चल पडे।

सीमंत-पूजन (बरात का स्वागत)—मिथिला पहुचने पर दशरथ का जनक ने अपूर्व स्वागत-सत्कार किया और उनके सुखपूर्वक ठहरने का प्रबध कराया। जनक ने इस बात पर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की कि अयोध्या और मिथिला के राजवशो में विवाह-सबध स्थापित हो रहा है, और फिर दशरथ से प्रार्थना की कि वरिष्ठ ऋषि-मुनियो के कर-कमलो से आप कल अपने पुत्रो का विवाह मेरी कन्याओ से सपन्न कराय। दशरथ ने यह प्रस्ताव मुक्त हृदय से स्वीकार कर लिया।

अंकुरारोपण या अंकुरार्पण क्रिया—तत्पश्चात जनक ने अपना यज्ञ समाप्त किया और अपनी दोनो कन्याओ के विवाह से सबधित प्रारभिक क्रियाए पूरी की। इन क्रियाओ की रूपरेखा रामायण में उपलब्ध नही होती।

यह विवाह-समारोह का प्रथम दिन था।

वशावली-कथन (दोनो पक्षो की वशावलियो का पाठ)—दूसरे दिन जनक ने दशरथ को पुत्रो और मत्रियो-सहित अपने निवास-स्थान पर पधारने का न्योता दिया। वर-पक्ष के आने पर राम और सीता के महान पूर्वजो की वशावलियो का पाठ किया जाने लगा। महाराज दशरथ के प्रस्ताव पर पुरोहित वसिष्ठ ने इक्ष्वाकु-वश की वशावली पर प्रवचन किया और अत में राम और लक्ष्मण की ओर से क्रमश सीता और ऊर्मिला की माग की। विदेह-वशावली का पाठ स्वय जनक ने किया, क्योकि उनका यह अभिमत था कि कन्या के विवाह के समय उसीके परिवारवाले को वशावली का पाठ करना चाहिए।[1]

वर-वधू-गुण-परीक्षा—वशावली-कथन की समाप्ति पर विश्वामित्र ने इक्ष्वाकु और विदेह राजवशो के बीच इस वैवाहिक सबध की श्रेष्ठता तथा वर-वधू की अनुरूपता पर हर्ष प्रकट किया।

---

१. प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः। वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामते॥ १।७१।२

वाग्दान—तत्पश्चात महाराज जनक ने दोनों पक्षों के पुरोहितों और सबधियों की उपस्थिति में अपना यह सकल्प घोषित किया कि मैं राम के लिए सीता और लक्ष्मण के लिए ऊर्मिला प्रदान करता हू—

सीता रामाय भद्र ते ऊर्मिला लक्ष्मणाय वै ।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुगव ॥१।७१।२१-२

तदनतर जनक ने दशरथ से निवेदन किया कि राम और लक्ष्मण के कल्याणार्थ आप गो-दान तथा अन्य मागलिक कार्य सपन्न करें।

वाग्दान के बाद वर-पक्ष के लोग वधू के पिता को धन्यवाद देकर अपने आवास पर लौट आये।

नादी-श्राद्ध—महाराज दशरथ ने लौटकर अपने निवास-स्थान पर यथाविधि श्राद्ध-कर्म किया।

इस प्रकार विवाह-कार्य का दूसरा दिन समाप्त हुआ।

गो-दान—तीसरे दिन प्रात काल दशरथ ने एक वृहद गो-दान-समारोह किया और अपने पुत्रों के हितार्थ ब्राह्मणों को हजारों गौओं का दान किया। इन गौओ के सीग सोने से मढे हुए थे तथा उनके साथ उनके बछडे और कासे के दुहने के पात्र भी थे। इनके अतिरिक्त, राजा ने ब्राह्मणों को कई मूल्यवान उपहार भी दिये।

विवाह का मूलभूत सस्कार चौथे दिन सपन्न हुआ, जिसके अतर्गत निम्न-लिखित कृत्य समाविष्ट थे—

वधू-निष्क्रमण (अपने निवास-स्थान से निकलकर वधू का मडप में आगमन)—जनक की पुत्रियों ने सारे मागलिक कार्य पूर्ण करके मडप में प्रवेश किया।

वधू-गृह-आगमन (वर का वधू के घर आगमन)—उधर प्रारभिक औप-चारिक कृत्यों के बाद जब विजय नामक शुभ घडी आई, तब राम और उनके भाई भी सुदर वस्त्राभूषण धारण कर वधू के निवास पर आये और जनक द्वारा स्वागत किये जाने पर यज्ञ-मडप में प्रविष्ट हुए।

वेदी-करण (यज्ञ-मडप में वेदी का निर्माण)—महाराज जनक ने वर-पक्ष के पुरोहित मुनिवर वसिष्ठ से विवाह-सस्कार कराने की प्रार्थना की। वसिष्ठ ने कन्या-पक्ष के पुरोहित शतानद की सहायता से मडप के बीच विधिपूर्वक वेदी बनाई और

उसे गंध-पुष्पो, अंकुरो से युक्त घडो, अक्षतो, दर्भों, होम करने के सुवर्ण-पात्रो आदि से सजाया।

अग्नि-स्थापन और होम—वेदी-अलकरण के बाद वसिष्ठ ने मत्रोच्चारण के साथ उस पर समान आकार के दर्भो का आस्तरण बिछाया, यथाविधि अग्नि की प्रतिष्ठा की और आहुतिया डालनी आरम्भ की।

वध्वागमन (वेदी के निकट वधू का आगमन)—महाराज जनक ने 'सर्वाभरणभूषिता' सीता को लाकर अग्नि के पास राम के समुख बैठा दिया।

कन्या-दान—अग्नि की साक्षिता में जनक ने राम को सबोधित करते हुए कहा—

इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव।
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥१।७३।२६-७

"यह मेरी पुत्री सीता है। धर्म-पालन में यह तुम्हारी सहचरी बनेगी। इसे स्वीकार करो। तुम्हारा कल्याण हो। स्वीकृति के रूप में इसका हाथ अपने हाथ में लो। यह पतिव्रता, शुद्ध आचरणवाली और छाया की भाति तुम्हारा अनुगमन करनेवाली होगी।" यह कहकर जनक ने मत्रपूत जल राम के हाथ पर छिडक दिया। इसी प्रकार जनक ने राम के तीनो भाइयो को सबोधित किया, और उन्हे क्रमश ऊर्मिला, माडवी और श्रुतकीर्ति के हाथ सौपे।

पाणिग्रहण (वर द्वारा वधू का हाथ पकडना)—जनक के कन्या-दान के पश्चात चारो वरो ने अपनी-अपनी वधुओ के हाथ स्वीकृति-रूप पकड लिये।

अग्नि-परिणयन (वर-वधू द्वारा अग्नि की परिक्रमा)—चारो इक्ष्वाकु-राजकुमारो ने चारो वधुओ का हाथ पकडकर यज्ञाग्नि, वेदी, जनक तथा ऋषियो की प्रदक्षिणा की और इस प्रकार वे अपनी-अपनी पत्नियो के साथ विवाह-सूत्र मे आबद्ध हुए। फिर सभी वरो ने वधुओ के साथ अग्नि में हवन किया। इस अवसर पर महती पुष्प-वृष्टि की गई, अप्सराओ ने दिव्य दुदुभि से ताल मिलाते हुए नृत्य किया और गधर्वों ने सुमधुर गान। इसी घडी में तुरही के घोष के साथ रघु-कुमारो ने वधुओ के साथ अग्नि की तीन बार परिक्रमा करके विवाह-सस्कार की इतिश्री की। फिर विवाहित युगल जुलूस बनाकर जनवासे में गए और उनके पीछे महाराज दशरथ, ऋषि-मुनि तथा सबधी चले।

यह विवाह-समारोह का चौथा दिन था।

पाचवें दिन नववधुओ ने पति-गृह को प्रयाण किया। महाराज जनक ने अपनी पुत्रियो को प्रचुर उपहार देकर विदा किया और कुछ दूर तक जाकर उन्हे पहुचाया। नवविवाहित दपतियो के स्वागतार्थ अयोध्या नगरी सुरुचिपूर्वक सजाई गई थी।

अयोध्या में निम्नलिखित मागलिक कार्य सपन्न किये गए—

गृह-प्रवेश (पति के गृह में प्रवेश) और **वधू-प्रतिग्रह** (वधू का स्वागत)—अयोध्या के राजप्रासाद में राजमाताओ ने अपनी पुत्रवधुओ का मगल-गीतो और अन्य आवश्यक उपचारो से सत्कार किया।

गृहप्रवेशनीय होम (पति-गृह-प्रवेश के अनतर किया जानेवाला होम)—नववधुओ के आगमन के उपलक्ष्य में अग्नि में आहुतिया डाली गई और आशीर्वाद की याचना की गई।

देवकोत्थापन (उन देवताओ का विसर्जन, जिनका आह्वान विवाह से पूर्व किया गया था)—देवालयो में प्रणाम तथा अभिवादन-योग्य वृद्धजनो को नमस्कार करने के बाद नवविवाहित वधुए अपने-अपने पतियो के साथ एकात में विहार करने लगी।

उपर्युक्त विवाह-प्रणाली[1] का अध्ययन करने से, विशेष कर पाणिग्रहण और अग्नि-परिणयन सस्कारो के अवलोकन से, पति-पत्नी के पारस्परिक सबधो के आदर्श पर यथेष्ट प्रकाश पडता है। क्योकि पति-पत्नी वैदिक विधि से अग्नि को साक्षी बनाकर परस्पर सयुक्त होते है, अत उनका विवाह कोई समझौता न होकर एक धर्म-बधन है, जो सभी परिस्थितियो में अटूट और अकाट्य है। रथ और उसके पहिये, वीणा और उसके तारो के समान अन्योन्याश्रित उनका सबध है। एक बार पति-पत्नी बन जाने पर सदा-सर्वदा पति-पत्नी बने रहेंगे, यही विवाह का प्राचीन

---

१ यही विवाह-पद्धति न्यूनाधिक रूप में आज भी प्रचलित है, यद्यपि इस व्यस्त युग में कुछ रीतिया या तो लुप्त हो गई हैं या सक्षिप्त कर दी गई है। रामायण-काल में अग्नि की तीन बार परिक्रमा विवाह को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त मानी जाती थी। बाद में स्मृतिकारो ने त्रिपदी के स्थान पर सप्तपदी (सात भावरो) का विधान कर दिया और आज प्राचीन रीत्यनुसार किये जानेवाले हिंदू विवाहो में प्रायः सप्तपदी को ही मान्यता दी जाती है।

आर्य-आदर्श है, जिसमें तलाक या पुनर्विवाह की गुजाइश नही। कन्या-दान के अवसर पर वधू का पिता जहा एक ओर वर को यह आश्वासन देता था कि वधू तुम्हारे प्रति सभी परिस्थितियो में अनुरक्त रहेगी, वहा दूसरी ओर वर से यह वचन भी ले लेता था कि सभी सासारिक कार्यों के निर्वाह में वह वधू को अपनी सहधर्मिणी बनायगा। यह वैवाहिक बधन की अविच्छिन्नता का सूचक था। लका-विजय के बाद जब राम ने तथाकथित दूषित सीता को ग्रहण करने से इन्कार कर दिया, तब सीता ने उन पर वैवाहिक प्रतिज्ञा को तोडने का आरोप लगाया था—**न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये मम निपीडितः** (६।११६।१६)। मनु की तरह वाल्मीकि भी पति-पत्नी के सबध को मृत्यु के बाद परलोक में भी अक्षुण्ण मानते थे—

इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल।
अद्भिर्ददत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥२।२९।१८

अर्थात इस लोक मे पिता आदि के द्वारा जो स्त्री जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से सकल्प करके दी जाती है, वह मरने के बाद परलोक में भी उसीकी पत्नी होती है। सीता की यह प्रबल श्रद्धा थी कि मरने के बाद भी मेरा आर्यपुत्र राम से ही शुभ सगम होगा—**प्रेत्यभावेऽपि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया** (२।२९।१७)।

इस लोकोत्तर आदर्श के विपरीत, वास्तविक जीवन मे वैवाहिक सबधो की अस्थिरता, कटुता और विच्छिन्नता के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। पति द्वारा त्यागी गई स्त्री को वाल्मीकि ने एक स्थल पर उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है (**स्त्रीव भर्तुर्विवर्जिता**, २।६६।४४)। कौसल्या ने ऐसी पत्नियो का उल्लेख किया है, जो पति पर विपत्ति आ पडने पर उसे छोड देती है।[1] एक ऐसे राज्य में, जहा कोई शासक नही और जहा अराजकता फैली हुई हो, स्त्रियो को वश मे रखना कठिन हो जाता है और वे पति की आज्ञा का तिरस्कार कर देती है।[2] राम के प्रति अयोध्यावासियो का अपार स्नेह दिखलाने के लिए दशरथ ने कैकेयी से कहा था कि

---

१. **एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम्। अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहन्त्यपि॥** २।३९।२१

२. **नाराजके . . . भार्या वा वर्तते वशे। . . . नास्ति भार्याऽप्यराजके॥** २।६७।१०-११

राम को विपत्ति में पडा देख अनुरागिणी स्त्रिया भी, उनका अनुसरण करने के लिए, अपने पतियो को छोड देंगी।[1] व्यभिचार के कारण अहल्या, निपट स्वार्थ-परायणता के कारण कैकेयी, पति के भी जीवन को तुच्छ मानने के कारण कैकेयी की माता तथा उत्तरकाड में लोकापवाद के कारण सीता के परित्याग-जैसी घटनाए भी कवि ने अकित की है।

रामायण के युग में वहुपत्नी-प्रथा का वोलवाला था। सभी राजागण, चाहे वे आर्य हो, चाहे वानर या राक्षस, अनेक स्त्रियोवाले विशाल अत पुरो के स्वामी होते थे। दशरथ की चार रानियो के अतिरिक्त उनकी साढे तीन सौ स्त्रिया और भी थी (२।३४।१०-१४, ३९।३६)। रावण की भी अनेकानेक पत्निया थी—राजाओ, देवो और राक्षसो की कन्याओ से समृद्ध उसके अत पुर को वाल्मीकि ने स्त्रीवनम् की सज्ञा दे डाली है। सुग्रीव और वाली के भी भरे-पूरे अत पुर थे। मिथिलाधिपति जनक के भी सभवत एक से अधिक रानिया थी, वालिका सीता को लालन-पालन के लिए उन्होने अपनी वडी रानी को सौपा था।[2]

क्षत्रियो के अतिरिक्त ब्राह्मणो में भी कही-कही अनेक स्त्रियो से विवाह करने का रिवाज दृष्टिगोचर होता है। कश्यप ऋषि के आठ स्त्रिया थी (३।१४।११)। उत्तरकाड मे ब्राह्मण मुनि विश्रवा ने पहले भरद्वाज की कन्या देववर्णिनी से और फिर सुमाली की पुत्री कैकसी से विवाह किया था।[3] यह वहुपत्नी-प्रथा समाज के वैभव-शाली वर्गो में ही प्रचलित थी—मध्यम और दरिद्र वर्ग उससे अछूते थे। दरिद्र ब्राह्मण त्रिजट के एक ही पत्नी थी।

तत्कालीन आर्य-राजाओ के चार मुख्य रानिया हुआ करती थी, जो महिषी, परिवृत्ति, वावाता और पालाकली कहलाती थी (१।१४।३५)। इनमें से महिषी पटरानी-पद पर अभिषिक्त थी, परिवृत्ति राजा की उपेक्षित भार्या थी, और वावाता उसकी विशेष प्रीति-पात्र थी। कुछ टीकाकारो ने महिषी को क्षत्रिया, परिवृत्ति को वैश्या और वावाता को शूद्रा रानी माना है। डा०एस०सी० सरकार के अनुसार, पाला-

---

१ परित्यजेयु . भार्या पतींश्चापि कृतानुरागा। दृष्ट्वैव राम व्यसने निमग्नम् ...॥ २।१२।१०२

२ दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणे। २।११८।३३

३ ७।३।३; ७।९।१२

कली कोई निम्नवर्ण की रानी होती थी और इससे यह सकेत मिलता है कि उच्च राजकीय कर्मचारी अपनी लडकियो का, किसी राजनीतिक लाभ की दृष्टि से, राजा से विवाह कर देते थे।[1] इस वर्गीकरण को यदि दशरथ के अंत पुर पर लागू करे, तो कौसल्या को महिषी, सुमित्रा को परिवृत्ति और कैकेयी को वावाता रानी मानना पडेगा। रामायण में दशरथ की पालाकली रानी का नामोल्लेख नही हुआ है और उसे मात्र 'अपरा' कहा गया है। ये सब नाम और पद अन्योन्याश्रित है और एक ऐसी सुनियोजित अंत पुर-व्यवस्था के सूचक है, जिसके सदस्यो के प्रभाव में निरंतर वृद्धि या ह्रास होता रहता था।

अनेक पत्नियोवाले पति के लिए यह स्वाभाविक था कि वह किसी एक पत्नी के विशिष्ट गुण अथवा सौंदर्य के कारण उसकी ओर अधिक आकृष्ट हो। दशरथ की रानियो में से एक, कैकेयी, उनके मन में बस गई थी और महाराज अपना अधिकाश समय उसी के प्रासाद में बिताया करते थे (२।७२।१२)। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रदेश से आनेवाली इस छोटी रानी में बडी रानियो की अपेक्षा कही अधिक लावण्य और आकर्षण था। साथ ही, वह महाराज को उनके बुढापे में प्राप्त हुई थी। अत. अपने रूप और तारुण्य के वल पर उसने शीघ्र ही राजा को अपनी मुट्ठी में कर लिया। "इसमें तनिक भी सदेह नही", मंथरा ने कैकेयी को उकसाते हुए कहा था, "कि तुम महाराज को बडी प्यारी हो। तुम्हारे लिए वह आग मे भी कूद सकते है। तुम्हे क्रुद्ध करने की उनमें सामर्थ्य नही। तुम्हारी रोष-भरी दृष्टि से वह अपनी दृष्टि मिला नही सकते। तुम्हारी प्रसन्नता के लिए वह प्राण भी छोड सकते है, पर तुम्हारी बात को नही टालेंगे" (२।९।२४-६)। ऐसी स्थिति में राजा की यह प्रिय रानी, अपन सौभाग्य-मद से मोहित हो, अन्य रानियो को कष्ट पहुचाने में कुछ कसर नही रखती थी।

कैकेयी के प्रति राजा के पक्षपात क कारण उनकी उपेक्षित रानियो की स्थिति दयनीय हो जाती थी। कौसल्या के साथ भी ऐसा ही हुआ। दशरथ की रानियो में आयु और पद की दृष्टि से प्रमुख होने पर भी वह कैकेयी की तुलना में दीन-हीन बन गई थी। सामान्यत राजा की उपेक्षित पत्नी अपने कष्ट के दिनो को सहिष्णुता से झेलती थी, और उसमें प्रतिहिंसा की भावना शायद ही कभी उठती हो।

१. एस० सी० सरकार—'सम एस्पेक्ट्स आफ दि अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इंडिया', पृ० ८७

सपत्नियो में भी भरपूर पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष रहता था। एक-दूसर की सतति इस कटुता का मुख्य स्रोत होती थी। राम के यौवराज्याभिषेक के प्रश्न को लेकर कौसल्या और कैकेयी के वीच ईर्ष्याग्नि भभक उठी थी। कैकेयी को वहकाते समय मथरा ने कहा था कि सौत का वेटा शत्रु के समान होता है और उसकी समृद्धि साक्षात मृत्यु के समान—अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् (२।८।४)।

पति के लिए अपनी सभी पत्नियो को खुश रखना टेढी खीर थी। किसी एक पत्नी का रूठ जाना और फिर राजा का उसे मनाना, अत पुरो की एक सामान्य घटना थी। अशोकवाटिका को एक अत पुर की उपमा देते हुए कवि ने कही पति की गोद छोडकर जमीन पर लोट जानेवाली प्रियतमा का, कही सखियो द्वारा मनाई जानेवाली कुपित स्त्री का, और कही मान छोडकर पति के अनुकूल वन जानेवाली मानिनी भार्या का रमणीय शब्द-चित्र उपस्थित किया है।[1] राजप्रासादो में एक अलग 'क्रोधागार' या कोप-भवन वना रहता था, जहा कोई रूठी रानी गहने फेंककर मैले वस्त्र में दरवाजे के सामने जमीन पर लेट जाती। जव राजा उसे मनाने के लिए आता, तव वह न उसकी ओर देखती, न वात करती, केवल शोकमग्न हो धरती पर लोट-लोटकर रोती रहती। राजा के उसकी मागें पूरी करने की शपथ खाने पर ही वह जवान खोलती थी (२।९।२२-८)।

अन्य दृष्टियो से अत पुर का वातावरण अत्यत सुख-सुविधा-सपन्न तथा वैभव और विलासिता से परिपूर्ण रहता था। विभिन्न रानिया पृथक प्रासादो में, अपनी दास-दासियो और पृथक स्त्री-धन के साथ, अमीरी जीवन विताया करती थी। विविध पक्षियो के कलरव तथा मधुर सगीत से निनादित, कोमल शय्याओ और वहुमूल्य आसनो से सज्जित, रमणीय उद्यानो से सुशोभित, विविध अन्न, पान और भक्ष्य पदार्थो से युक्त, दास-दासियो एव चाटुकारो से भरपूर तथा याचको एव भोजनार्थियो से सेवित ये अत पुर अपने युग के समस्त ठाठ-वाट के केंद्र होते थे। रावण के अत-पुर का विशद चित्रण कर वाल्मीकि ने वहा के वैषयिक जीवन का एक नग्न दृश्य उपस्थित कर दिया है।

यह वहुपत्नी-प्रथा आर्य-सस्कृति का एक दुर्वल अग थी, और आये दिन राज-

---

१. अकादिव समुत्पत्य प्रियस्य पतिता प्रियाम्। वार्यमाणामिव क्रुद्धा प्रमदां प्रियवन्धुभिः॥ प्रसन्नामिव कान्तस्य कान्तां पुनरुपस्थिताम्। ५।१४।२९-३१

परिवार में कलह का कारण बनती थी। राष्ट्र के जीवन पर उसकी विषैली प्रतिक्रिया होती थी। स्वस्थ राजनीतिक वातावरण के लिए वह अहितकर थी। अनेक पत्नियों की उपस्थिति से व्यक्तिगत स्वार्थों में घात-प्रतिघात होता रहता था, जिसकी स्वाभाविक परिणति गृह-युद्ध, उत्तराधिकार-विषयक विवाद और सघर्ष, दरबारी षड्यत्र तथा हत्या के प्रयत्नो मे जाकर होती थी।[1]

दशरथ के परिवार में उनके उत्तराधिकारी के प्रश्न पर जो विवाद खडा हुआ था, उसके मूल में उनके कुल की पुरानी चली आई बहुपत्नी-प्रथा थी। इक्ष्वाकु-राजा विभिन्न परपराओवाले राज्यो की राजकुमारियो से विवाह करके अपने अत पुर में विरोधी तत्वो को एकत्र कर लेते थे, जिनके स्वार्थों और उद्देश्यो में सघर्ष होता रहता था। केकय देश के राजा एकपत्नी-व्रती थे, अत ऐसे परिवार की राजकुमारी कैकेयी ने बहुपत्नियोवाले इक्ष्वाकु-कुल में पहुचकर राजा को एक-मात्र अपना बनाकर रखने की चेष्टा की, तथा अन्य रानियो और उनकी सतान की उससे उपेक्षा करवाई। एक और बात यह थी कि विभिन्न रानियो ने अपने-अपने समर्थकों, सबधियो और अनुचरो के गुट बना रखे थे, जो अपनी-अपनी सरक्षिका के हितो की रक्षा में तत्पर रहते थे। अयोध्या मे दशरथ,[2] कौसल्या और सुमित्रा,[3] तथा कैकेयी[4] के समर्थको के अपने अलग-अलग दल थे, जो अपनी स्वामिनी के स्वार्थों का सतत ध्यान रखते थे। इस प्रकार अत पुर की कुटिल चालो का दुष्प्रभाव राष्ट्र के राजनीतिक जीवन पर भी पडता था। इसी ईर्ष्यालु, वैयक्तिक कूटनीति से समूचे कोसल प्रदेश में राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक सकट ही नही उत्पन्न हो गया, अपितु स्वय राजा का अतकाल भी सन्निकट आ गया।

---

१. राम को यह आशंका थी कि कहीं कैकेयी द्वेषवश मेरी माता को जहर न दे दे—'क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत्। परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम्॥' २।५३।१८

२. पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान् ममाहितानां च भवाभिभाषिणी।२।१२।१०६

३. वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः। जातीन्मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय॥ २।४।३९

४. एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति। यदि चेद् भरतो धर्मात् पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति॥ २।८।३४

ऐसे बहुपत्नी-प्रधान युग में भी एकपत्नी-व्रत का महान आदर्श मनीषियो की दृष्टि से ओझल नही हुआ और कवि ने उस पर पर्याप्त प्रशसा की वृष्टि की है। अध-मुनि ने दशरथ के हाथो असमय मारे गए अपने पुत्र की पितृ-सेवा का पुरस्कार इस आशीर्वाद से दिया कि तुम उन दिव्य लोको को प्राप्त करो, जहा एकपत्नी-व्रत का आचरण करनेवाले प्रयाण करते है।[1]

एकपत्नी-व्रत का युग-युग से प्रख्यात ज्वलत आदर्श राम का वैवाहिक जीवन है, पर ऐसे भी शकालु व्यक्ति है, जो रामायण के दो-एक स्थलो से राम की अनेक पत्निया होने का अनुमान लगा लेते है। कैकेयी के कान भरते समय मथरा ने राम की उन **परमा स्त्रिय** (श्रेष्ठ स्त्रियो) का उल्लेख किया था, जो उनके यौवराज्याभिषेक से हर्ष-विभोर हो उठेंगी।[2] किंतु राम के प्रस्तावित अभिषेक तक कवि ने उनके सीता के अतिरिक्त और किसी स्त्री से विवाह करने का कोई सकेत नही दिया है। राम के वन-गमन के समय सीता अपने को **कौमारी** अर्थात ऐसे पुरुष की पत्नी बताती है, जिसने दूसरी स्त्री से विवाह नही किया है (२।३०।८)। इसलिए मथरा का कथन सर्वथा अपुष्ट है। उसने सभवत यह अपेक्षा की होगी कि अभिषेक होने पर राम युग-धर्मानुसार, अपने पिता की ही तरह, अनेक स्त्रियो से विवाह कर लेंगे। पर राम 'न च कालवशानुग', अपने समय के दास नही थे (२।१।३१)। अथवा **परमाः स्त्रिय** का अर्थ, टीकाकारो के अनुसार, कौसल्या और सुमित्रा की तरह वे महिलाए है, जो राम के लिए वदनीय थी। **परमा. स्त्रिय** से अभिप्राय सीता की दासियो या सखियो से भी हो सकता है (और जनक ने सीता के साथ कई सहचरी कन्याए भेजी थी)।

लका में प्राणात करते समय सीता ने सोचा था कि मेरे मर जाने पर राम अपना व्रत समाप्त करके (अयोध्या लौटकर) विशाल-नेत्रा स्त्रियो के साथ रमण किया करेंगे।[3] पर यहा 'रमण' का अर्थ दापत्य प्रणय ही आवश्यक नही है, उसका तात्पर्य स्त्रियो के नृत्य-गान से मनोरजन करना भी हो सकता है, जो उस समय सामा-

---

१. या गति. एकपत्नीव्रतस्य च। तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ २।६४।४३-४

२ हृष्टा खलु भविष्यन्ति रामस्य परमा. स्त्रियः। २।८।१२

३ पितुर्निदेशं नियमेन कृत्वा वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च। स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभि संरस्यसे वीतभयः कृतार्थः॥ ५।२८।१४

न्यत प्रचलित था। वास्तव में सीता का प्राणात हुआ भी नही और अयोध्या लौटने पर राम ने अपना दापत्य जीवन उन्हीके साथ बिताया।

उत्तरकाड के अनुसार सीता के अदृश्य होने पर भी राम ने दूसरा विवाह नही किया, यद्यपि राज-प्रथा उनके पक्ष में थी। अश्वमेध-जैसे यज्ञो मे पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य होने के कारण राम, सीता के स्थान पर, उनकी एक सुवर्ण-प्रतिमा रख लिया करते थे, पर उन्होने दूसरी पत्नी कभी अगीकार नही की।[1] इस प्रकार उन्होने सपन्न वर्गों के वैवाहिक जीवन में एक सुसस्कृत, क्रातिकारी एव अनुकरणीय आदर्श की प्रतिष्ठा की।

दक्षिण भारत की अनार्य-जातियो में बहुपति-प्रथा (**बहूनाम् एकपतित्वता**) के भी सकेत मिलते है। किष्किधा मे तारा और रुमा ने सुग्रीव और वाली दोनो से पति का सबध रखा था। राम ने वाली को रुमा से अनुचित सबध रखने के कारण दड का पात्र समझा, इससे यह सिद्ध है कि आर्यो में बहुपति-प्रथा निंदित थी। इस प्रथा का आभास पृथ्वी-पार्वती-प्रसग से भी मिलता है, जिसमे पार्वती ने पृथ्वी को अनेको की पत्नी (**बहुभार्या**) बनने का शाप दिया था (१।३६।२३)।

कुछ विद्वानो ने रामायण से ऐसे प्रमाण ढूढ निकालने की चेष्टा की है, जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि सीता, मूल परपरानुसार, राम और लक्ष्मण की सयुक्त पत्नी थी। इसकी पुष्टि, उनके अनुसार, इन तीन घटनाओ से होती है—(१) वन में मारीच-वध मे सलग्न राम की कथित आर्त वाणी को सुनकर भी जब लक्ष्मण उनकी सहायतार्थ नही गए, तब सीता ने लक्ष्मण पर यह लाछन लगाया कि तुम्हारी नीयत राम को अपनी राह से हटाकर मुझे पा लेने की दीखती है।[2] (२) लका-विजय के बाद राम ने यह सुझाव दिया था कि सीता चाहे तो लक्ष्मण अथवा भरत आदि के साथ रह ले।[3] (३) वन में राम-लक्ष्मण के साथ सीता को देखकर विराध राक्षस ने यह अनुमान लगाया था कि ये दोनो एक ही स्त्री के साथ (सह) वास करनेवाले

---

१. न सीतायाः परा भार्या ववे स रघुनन्दनः। यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काचनी भवत्॥ ७।९९।७

२. सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छति। मम हेतोः प्रतिच्छन्नः...॥ ३।४५।२४

३. लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धि यथासुखम्। ६।११५।२२

पापी हैं।[१] किंतु ये तीनो तथ्य परिस्थिति-विशेष से सबधित होने के कारण सामान्य वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन नही कराते—सीता के बहुपतित्व को सिद्ध करने के लिए ये नितात अस्पष्ट, आनुमानिक और अपर्याप्त हैं। एक आदर्श नारी के रूप में सीता की जो शाश्वत प्रतिष्ठा है, वह रामायण में चित्रित उनके पातिव्रत्य पर ही आधारित है। सीता का वन में लक्ष्मण को लाछित करना, उनके स्त्री-स्वभाव-मात्र का सूचक है, जैसाकि बाद में स्वय लक्ष्मण ने कहा था—पति के प्रति आतुरता ने उनका विवेक हर लिया था।[२] यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उक्त आरोप लगाने के तुरत बाद ही सीता ने दृढता से कहा था कि कमलनयन राम की भार्या होकर मैं दूसरे किसी को अपना पति बनाने की इच्छा कैसे कर सकती हू।[३] लका-विजय के बाद राम ने सीता को लक्ष्मण आदि के साथ रहने का सुझाव ऐसे समय में दिया था, जब उन्हे सीता के चरित्र पर घोर सदेह था। इसलिए उनका सुझाव, जैसाकि टीकाकारो ने बताया है, इस सामाजिक प्रथा के अनुसार था कि परित्यक्ता स्त्री को पति के मित्रो या सबधियो की ही शरण लेनी चाहिए। विराध का अनुमान तो सर्वथा निराधार था—उसने एक प्रकार से बहुपति-प्रथा के प्रति अपना तीव्र रोष ही प्रकट किया। सपूर्ण रामायण में लक्ष्मण का सीता के प्रति जो अतिशय आदरपूर्ण व्यवहार दृष्टि-गोचर होता है, वह उन्हे सीता का भक्त देवर सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। लका में सीता अपने एकपत्नी-व्रत की शपथ खाकर हनुमान की पूछ की आग से शीतल होने को कहती है,[४] और एक दूसरे स्थल पर, शत्रु-गृह मे अपनी कैद पर विलाप करते समय, अपने 'पतिव्रतात्व' की निष्फलता का रोना रोती है।[५] सच तो यह है कि समग्र रामायण सीता की एक-मात्र राम के प्रति अनन्य अनुरक्ति के अनगिनत प्रमाणो से ओत-प्रोत है।

---

१. कथ तापसयोर्वा च वास. प्रमदया सह। अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ॥ ३।२।११-२

२. धिक्त्वामद्य विनश्यन्तीं यन्मामेवं विशंकसे। स्त्रीत्वाद्दुष्टस्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम्॥ ३।४५।३२-३

३. कथमिन्दीवरश्याम राम पद्मनिभेक्षणम्। उपसश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम्॥ ३।४५।२५-६

४. यदि वा त्वेकपत्नीत्व शीतो भव हनूमत'। ५।५३।२६

५. पतिव्रतात्व विफल ममेदम्। ५।२८।१२

एक और भी विचित्र बात कुछ शोधकर्ताओ ने सुझाई है, वह यह कि दशरथ-कौसल्या का विवाह भाई-बहन का विवाह था। इसके पक्ष मे यह तर्क दिया जाता है कि 'कौसल्या' यह दशरथ की पटरानी का निजी नाम नही है, वशावलियों में इसका अर्थ कोसलराज की कन्या किया गया है, पत्नी नही, अत यदि दशरथ कोसल के राजकुमार थे तो कौसल्या कोसल की राजकुमारी एव दशरथ की सगी या चचेरी बहन थी।[1] किंतु इस निष्कर्ष का कोई ऐतिहासिक आधार नही है, यह तो आर्य-महापुरुषो को नीचा दिखाने का बौद्धो का एक कुशल प्रयत्न-भर है। वस्तु-स्थिति यह है कि रामायण-काल में दो कोसल-प्रदेश थे—एक उत्तर कोसल या अवध और दूसरा दक्षिण कोसल या आधुनिक छत्तीसगढ—और उन पर दो पृथक राजा शासन करते थे।[2] इक्ष्वाकु द्वारा प्रवर्तित सूर्यवश के राजा उत्तर कोसल पर राज्य करते थे और अयोध्या उनकी राजधानी थी। दशरथ-कृत अश्व-मेध-यज्ञ-समारोह मे किन्ही भानुमत नामक कोसलराज को आमत्रित किया गया था।[3] यह भानुमत सभवत दक्षिण कोसल अथवा महाकोसल के शासक और कौसल्या के पिता थे। इस प्रकार कौसल्या, कोसल-राजकुमारी होने पर भी, दशरथ की बहन नही थी और इन दोनो का विवाह सर्वथा वैध एव शास्त्र-संमत था।

ऐसी ही तिरस्कार-भावना से प्रेरित होकर बौद्धो ने राम को सीता का पति और भाई दोनो सिद्ध करने की चेष्टा की। किंतु यदि सीता राम की बहन होती तो उनका राम के साथ वन जाना किसी प्रकार आवश्यक या अपेक्षित नही था। साथ ही, यह भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि एक क्षत्रिय अपनी ऐसी बहन के साथ अविवाहित रूप मे चौदह वर्ष तक साथ रहा, जिसके साथ वह विवाह करने को स्वतंत्र था। कम-से-कम वाल्मीकि-रामायण में राम और सीता के भाई-बहन होने का कोई आभास नही मिलता।

---

१. एस० सी० सरकार—'सम एस्पेक्ट्स आफ दि अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इडिया', पृ० १४९

२. इमौ कुशीलवौ राजन्नभिषिच्य नराधिप। कोसलेषु कुशं वीरं उत्तरेषु तथा लवम्॥ ७।१०७।७

३. तथा कोसलराजानं भानुमन्तं सुसत्कृतम्। १।१३।२६

: ९ :

प्रेम

प्रमीजनो के आकर्षण एव अनुराग के अनेक मजुल चित्र रामायण में उपलब्ध है। सुदरियो के प्रति पुरुष की उद्दाम वासना और प्रणय क्रीडाओ में स्त्रियो की अपार रुचि—दोनों ही कवि-तूलिका का स्पर्श पाकर मुखरित हो उठे है। तारा के शब्दो में, 'काम का दुर्दमनीय प्रभाव किसे अभिभूत नही करता ! प्रिय का सान्निध्य समस्त सकोच और शिष्टाचार को दूर भगा देता है। कामासक्त मनुष्य को देश-काल और अर्थ-धर्म का ज्ञान नही रह जाता। काम के असह्य बल को रोकना या दबाना अत्यत कठिन है—उसे मिटा देना तो दूर रहा। धर्म और तपस्या में निरतर सलग्न रहनेवाले और माया-मोह से परे ऋषि-मुनि भी कभी-कभी विषयाभिलाषी हो जाते है, फिर सामान्य मनुष्य की तो वात ही क्या ?' (४।३३।५४-७)।

स्वय राम ने मानवो पर काम के प्रबल प्रभाव को स्वीकार किया है। अपने पिता दशरथ पर आई विपत्ति और उनके मति-भ्रम पर विचार करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि धर्म और अर्थ की अपेक्षा काम ही अधिक बलवान है—**काम एवार्थधर्माभ्या गरीयानिति मे मति** (२।५३।९)। स्वय अपने विषय में वह काम की वाम गति, कुटिल चाल से विस्मित थे—वह काम, जो उनकी कल्याणी पत्नी का स्मरण कराता रहता था, यद्यपि वह वहुत दूर जा चुकी थी और उसका पुन प्राप्त होना भी कठिन था—

अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम्।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥४।१।६८

कामासक्त होने पर मनुष्य क्रोध के पात्र को भी अपना प्रेमास्पद बना लेता है। रावण अपनी राक्षसी मनोवृत्ति के कारण शत्रु-पत्नी सीता की हत्या कर डालने के लिए वार-वार प्रेरित होता था, किंतु सीता के गुलावी और चिकने तलवो

और लाल-लाल नखोवाले सुडौल पैर उसके काम-भाव को जागृत कर देते थे,[1] और उसका रोष स्नेह एवं करुणा में परिणत हो जाता था।[2]

लका के भवनो में हनुमान का राक्षसी रमणियो की उत्तप्त प्रणय-भावना तथा काम-क्रीडा से रुचिर परिचय हुआ था। प्रियतम और मद्य-पान में उन कामोन्मत्त प्रमदाओ का विशेष अनुराग था। जैसे पक्षी और पक्षिणी परस्पर विहार करते है, वैसे ही वे स्त्रिया निशीथ-काल में अपने रमणो द्वारा आलिंगित किये जाने पर एक साथ लज्जा और हर्ष से विभोर हो रही थी। कोई स्त्री मदन-विद्ध हो कटाक्ष-पात कर रही थी, तो कोई प्रियतम के अक में सुखपूर्वक आसीन थी। वे सभी अपने पतियो की प्राणवल्लभा थी—अपने रमणीय सौंदर्य से उनका हृदय जीत चुकी थी और अब उनके सहवास में परम प्रीति का अनुभव कर रही थी (५।५)।

रावण के रनवास में उसकी रानियो के प्रसुप्त एव मद-विह्वल सौदर्य का अपूर्व दृश्य प्रस्तुत था। रंग-बिरगे वस्त्रो और पुष्पहारो से सज्जित अनेक सुदरिया सुरा-पान, काम-क्रीडा और नृत्यादि-जनित परिश्रम के कारण उस ढलती रात में नीद से अचेत हो रही थी। तारो से सुशोभित शरत्कालीन आकाश के समान प्रतीत होती थी रमणी-रत्नो से जगमगाती रावण की वह नारी-शाला। अस्तव्यस्तता ने उनकी चारुता को द्विगुणित कर दिया था। किसीके केश बिखर गए थे, किसीके फूलो के गजरे टेढे-मेढे हो गए थे, तो किसीके आभूषण छितरा गए थे। किसीका वस्त्र खिसक गया था तो किसीकी करधनी। किसीका चद्र-किरण के समान हार सिमटकर कुचो के बीच ऐसा पडा था मानो कोई हस सोया हो। कोई किसीकी जाघ पर, कोई किसीकी बाह पर, कोई किसीकी गोद में या कमर के सहारे तो कोई किसी की पीठ से लिपटी-लिपटाई, अग-स्पर्श से पुलकित-गात, मद्य और मदन के वश में पडी सो रही थी। भुजाओ-रूपी धागो से गुथी वह स्त्रियो की माला ऐसी सोह रही थी मानो वृक्षो की कुसुमित शाखाए वायु-वेग से लिपट गई हो। ऐसे रूप, ऐसे लावण्य को महल के स्वर्ण-दीप भी एकटक निहार रहे थे (५।९-१०)।

---

१ सुलोहिततलौ श्लक्ष्णौ चरणौ सुप्रतिष्ठितौ। दृष्ट्वा ताम्रनखं तस्या दीप्यते मे शरीरजः॥६।१२।१५

२ वामः कामो मनुष्याणां यस्मिन् किल निबध्यते। जन तस्मिंस्त्वनुक्रोशः स्नेहश्च किल जायते॥ ५।२२।४-६

यदि प्रणय-क्रीडाओ में स्त्रियो की ऐसी स्वस्थ और स्वाभाविक अभिरुचि थी तो पुरुषो का तो कहना ही क्या ! उस समृद्ध युग में नारी और नारी के प्रति प्रेम, ये पुरुष के जीवन के अगीभूत थे। युद्ध की तरह प्रेम भी रामायण के वीरो का उद्दाम व्यापार था, दोनो मे कूद पडने को वे तत्पर रहते थे। भरद्वाज-आश्रम में रक्तचदन से भूपित और सुदरी अप्सराओ से सयुक्त होकर भरत के सैनिको को अयोध्या लौटने की कोई चाह नही रह गई थी।[1] अनेक सुदर एव तरुण रमणियो के प्रणय का आस्वादन करना तत्कालीन योद्धाओ की दृष्टि में सुखी जीवन का एक मापदड था।[2] यह मान्यता प्रचलित थी कि युद्ध में वीर-गति पानेवाले सैनिको का स्वर्ग में अप्सराए प्रेमपूर्वक स्वागत करती है। मृत वाली को सबोधित करते हुए तारा ने कहा था कि अब तो आप रूप और यौवन से इठलाती एव काम-कला में प्रवीण अप्सराओ के चित्त को लुभाया करेगे——

रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद ।
नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥४।२०।१३

दापत्य प्रणय के नियमानुसार पुरुष ही पत्नी के प्रति अनुराग-सूचक सबोधनों और स्नेह-चेष्टाओ द्वारा प्रणय-प्रदर्शन मे अगवानी करता है। वयोवृद्ध महाराज दशरथ की अपनी छोटी रानी कैकेयी के प्रति प्रगाढ प्रीति का कवि ने मार्मिक चित्रण किया है। राम-यौवराज्याभिषेक के पहले दिन, राज्य-सभा को विसर्जित कर, जब महाराज दशरथ, काम-सतप्त और 'रत्यर्थी' होकर, स्वर्ग की शोभा मात करनेवाले कैकेयी के प्रासाद में प्रविष्ट हुए, तब अपनी प्रियतमा रानी को शय्या पर न पाकर उनका रोम-रोम व्याकुल हो उठा। राजा की इस आगमन-वेला को कैकेयी कभी टालती नही थी, राजा ने पहले कभी कैकेयी से रहित उस गृह में प्रवेश नही किया था। प्रतीहारी से यह सुनकर कि रानी अत्यत क्रोध में भरकर कोप-भवन की ओर दौडी गई है, उन्हें बडा विषाद हुआ। वहा जाने पर देखा कि वह प्राणाधिका तो 'कटी हुई लता, स्वर्ग से ढकेली हुई किन्नरी, देवलोक से च्युत अप्सरा

१, तर्पिता· सर्वकामैश्च रक्तचन्दनरूषिताः । अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाच-मुदीरयन् । नैवायोध्या गमिष्याम ...॥ २।९१।५८-९

२, तुलना कीजिए—स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभि. सरस्यसे वीतभय· कृतार्थः। ५।२८।१४

और फदे में फसी हरिणी की तरह' भूमि पर पडी थी। जैसे कोई महागज विषैले बाण से बिंधी अपनी प्यारी हथिनी को दुलारता है, वैसे ही कामी कोसल-नरेश त्रस्त होकर कमलपत्राक्षी कैकेयी का स्पर्श करते हुए प्रणय-सिक्त स्वर मे उससे बोले। उनके शब्द जहा पति के स्नेहातिशय्य के सूचक है, वहा नितात सुष्ठु सबोधनो से भी ओत-प्रोत है (२।१०।१८-४०)।

वाल्मीकि ने इस तथ्य को छिपाने की कोई चेष्टा नही की है कि पति और पत्नी के प्रेम मे शारीरिक आकर्षण और काम-चेतना का भी प्रमुख योग होता है। शरत्काल में जल के घट जाने पर धीरे-धीरे अपने रेतीले किनारे प्रकट करनेवाली नदी का वर्णन कर कवि उस नववधू का रमणीय चित्र अकित कर देता है, जो प्रिय-तम से प्रथम सगम के समय अपने जघनो को अनावृत करने मे सकोच करती है।[1] चद्रमा की चमचमाती किरणो के स्पर्श से हर्षवश तारो को प्रकाशित करनेवाली और रागवश अबर (आकाश) छोडनेवाली सध्यारानी उस प्रेम-लवलीना तरुणी का ही तो प्रतिरूप है, प्रिय के प्रथम स्पर्श से रोमाचित होकर जिसकी आखो की पुतलिया आनद के मारे चमक उठती है और जो अपना अबर (वस्त्र) अपने-आप खिसकने देती है।[2] मद गतिवाली नदी-वधुए कवि को उन कामिनियो की याद दिलाती है, जो अपने कात से उपभुक्त होकर प्रात काल अलसाई चाल से चलती है।[3] हनुमान द्वारा विध्वस्त किये जाने पर अशोकवाटिका का स्वरूप उस युवती के समान लगता था, काम-क्रीडा के कारण जिसके केश बिखर गए हो, तिलक पुछ गया हो तथा अधर में दतक्षत और अन्य अगो मे दताघात और नखा-घात लगे हो।[4]

---

१. दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः। नवसंगमव्रीडा च जघनानीव योषितः॥ ४।३०।५८

२. चंचच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका। अहो रागवती सन्ध्या जहातु स्वयमम्बरम्॥ ४।३०।४५

३. नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः। कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम्॥ ४।३०।५४

४. विधूतकेशी युवतिर्यथा मृदितवर्णिका। निपीतशुभदन्तोष्ठी नखैर्दन्तैश्च विक्षता॥ ५।१४।१८

राम के लिए भी सीता के शोभातिशायी अग-प्रत्यग का प्रवल आकर्षण था। लका पर आक्रमण करने की घडी में वह लक्ष्मण से कह उठते है—"वह समय कव आयगा, जव शत्रुओ को परास्त करके मै कमल-दल के समान विशाल नेत्रोवाली तथा सुदर नितवो से युक्त सुदरी सीता को समृद्ध राज्यलक्ष्मी के समान देख सकूगा ? जैसे रोगी रसायन पीता है, वैसे मै कव उनके सुदर दातो और ओठोवाले मुखकमल को कुछ ऊपर उठाकर पान करूगा ? उनके परस्पर सटे और ताल-फल के समान वडे स्तन-युगल कापते हुए कव मेरे शरीर का स्पर्श करेंगे ? देव-कन्या के समान साध्वी सीता उत्कठापूर्वक मेरे गले लगकर कव आनद के आसू वहायगी ?" (६।५।१३, १४, २०)। नारी के यौन आकर्षण का एक और उन्मुक्त वर्णन कवि ने उत्तरकाड में रभा के दर्शन से मोहित रावण के मुख से कराया है (७।२६।२१-४)।

प्रेम का आस्वादन, रति-सुख का उपभोग मनुष्य का मानो अपना अधिकार है। अनुत्सुक सीता को अनुकूल वनाने में विफल रावण को महापार्श्व ने यह राय दी कि महाराज, आप तो महावली है, क्यो नही मुर्गे की तरह वलपूर्वक उसे वार-वार आक्रात करके आप उसका उपभोग करते और उससे रमण करते ?[1] प्रिय की प्रीति प्राप्त करने में मनुष्य हर सभव उपाय का आश्रय क्यो न ले ? 'मृगो और सापो से भरे वन में प्रवेश करके जो मनुष्य मधु-पान नही करता, वह निरा मूर्ख है।'[2] दूसरे शब्दो में, दु खो और चिताओ से व्याप्त इस ससार में ऐहिक सुखो के चरमोत्कर्ष प्रेम से वचित रहना जीवन के विरल, सारभूत आनद को खो देना है।

पुरुष और स्त्री का पारस्परिक आकर्षण और यौन सवध एक सर्वथा स्वाभाविक एव अपेक्षित कृत्य है और उस पर किसी प्रकार की कृत्रिम रोक लगा देना या उसे अस्वाभाविक सयम में वाध देना अवाछनीय माना जाता था। ऋषि विभाडक ने अपने आश्रम में स्त्रियो का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध कर रखा था। उनका पुत्र ऋष्यशृग पिता की कठोर निगरानी में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने को वाध्य था। युवक होने तक उसे किसी स्त्री के दर्शन-स्पर्शन का लेश-मात्र भी भान नही था।

---

१. बलात्कुक्कुटवृत्तेन प्रवर्तस्व महावल। आक्रम्याक्रम सीता वै ता भुडक्ष्व च रमस्व च॥ ६।१३।४

२. य खल्वपि वन प्राप्य मृगव्यालनिषेवितम्। न पिबेन्मधु सम्प्राप्य स नरो बालिशो भवेत्॥ ६।१३।२

निकटवर्ती अग-राज्य के लोग इसे एक अप्राकृतिक कार्य मानते थे और यही, उनके अनुसार, अनावृष्टि और दुर्भिक्ष का कारण रहा होगा। इस स्थिति को दूर करने के लिए स्त्री-वर्जित विभाडक-आश्रम के कृत्रिम वातावरण में दरार डालने की योजना बनाई गई। यह कार्य अग-राज्य की वारागनाओ को सौपा गया। उनके हाव-भावो से ब्रह्मचारी ऋष्यश्रृग डिग गए और फिर उनका विवाह अग-देश की राजकुमारी शाता से कर दिया गया। इस प्रकार इस ऋषिकुमार के अतर्मन की अस्फुट यौन-भावना को, जिसे सयम और अनुशासन के कृत्रिम उपायो द्वारा अकुरित होने से रोका जा रहा था, विकसित और फलित होने का अवसर देकर अग-राज्य की भूमि भी उर्वरा बना दी गई (१।१०)।

तत्कालीन उद्यान और उपवन उन्मुक्त प्रणय की रगस्थलिया बने हुए थे (यद्यपि बाद की स्मृतियो के अनुसार उद्यानो मे काम-क्रीड़ा वर्जित है)। शीघ्रगामी रथो में सवार होकर प्रणयी युगल अरण्यो में विहार करने जाया करते थे।[1] वानर स्त्रिया, कामावेश में, वनो में क्रीडा करने को आतुर हो जाया करती थी।[2] चित्रकूट पर राम ने सीता का ध्यान कामियो की उन शय्याओ की ओर आकर्षित किया था, जिन पर नरम-नरम कुश-दल बिछे हुए थे—**कामिनां स्वास्तरान्पश्य कुशेशयदलायुतान्** (२।९४।२५)। अपने वनवास-काल मे राम और सीता ने, तन और मन को आह्लादित करनेवाले वातावरण में, पर्याप्त विहार किया था, सीता-हरण के बाद उसका स्मरण कर राम प्राय उत्तप्त हो जाते थे। प्रेम के अलौकिक आदर्श से अनुप्राणित होते हुए भी वे दोनो प्रेमी और प्रेमिका की नाईं परस्पर अनुरक्त थे—उनके जीवन में रसिकत्व या सहृदयत्व की कमी नही थी।

चित्र-विचित्र वेश-भूषा में सजी नारी काम का एक अव्यर्थ उद्दीपन थी। मदिरा का मद उसे और भी लुभावना बना देता था। मतवाली नारियो को आदि-काव्य में बारबार उपमान बनाया गया है (**लताः समनवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः** ४।१।६५)। सुरा और सुदरी का अन्योन्याश्रित सबध कई स्थलो पर दृष्टिगोचर होता है। शर्करासव की गध से मिली रावण की रानियो की सासें उसे

---

१. **वाहनैः शीघ्रवाहिभिः। नरा निर्यान्त्य रण्यानि नारीभिः सह कामिनः॥** २।६७।१९

२. **ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः।** ४।२५।१७

रस-विभोर कर रही थी।[1] प्रेमीगण अपनी प्रेमिकाओ को मद्य-पान के लिए प्रेरित करते थे, क्योकि इससे प्रेमिका की आखें विह्वल अतएव अधिक सुदर दिखाई देती थीं। कवि जहा कही नारी-सौंदर्य का वर्णन करता है, वहा 'मदविह्वलाक्षी', 'मदिरेक्षणा' और 'मदिरलोचना'-जैसे सबोधनो का प्रयोग करना नही भूलता। रावण ने भी सीता से मदिरा पीकर भोग-विलास में रत होने और विहार करने का प्रस्ताव किया था—**पिब विहर रमस्व भुङ्क्ष्व भोगान्** (५।२०।३५)। मद्य-पान से अस्तव्यस्त तारा का वर्णन कर वाल्मीकि ने मदमाती नारी का एक चित्र उपस्थित कर दिया है (४।३३।३८-४०)।

पत्नी के प्रति अतिशय प्रगाढ़ प्रणय-भावनाओ क अपूर्व चित्राकन पाठक के नेत्रो के समुख घूम जाते है। विरही राम के उन्मादपूर्ण विलाप-प्रलाप का चित्रण कर कवि ने मानव की अपनी प्रियतमा के प्रति शाश्वत प्रीति को शब्दो के रमणीय चौखटे में कस दिया है।

रामायण की अनेकानेक काव्य-कल्पनाए प्रणय-भावो से उद्भूत हुई है। वाल्मीकि की दृष्टि में हाथी-हथिनी का सपर्क स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का प्रतीक है। अशोकवाटिका में सीता के दर्शनार्थ आते समय रावण अपनी स्त्रियो के वीच उसी प्रकार शोभित हो रहा था, जिस प्रकार अरण्य में हथिनियो से घिरा हुआ कोई हाथी सुशोभित हो।[2] दशरथ की मृत्यु हो जाने पर उनकी रानिया वैसे ही विलाप करने लगी, जैसे किसी गजराज के वध पर उसकी वधुए क्रदन करती हैं।[3] राम से वियुक्त सीता अपने सहचर से विछुडी हथिनी की भाति थी।[4] रावण ने सीता की राक्षसी पहरेदारनियो को आज्ञा दी कि जिस प्रकार किसी जगली हथिनी को पालतू वनाया जाता है, उसी प्रकार तुम सब सीता को मेरे वश में ले

---

१ शर्करासवगन्ध. स प्रकृत्या सुरभि· सुखः। तासां वदनानि·श्वासः सिषेवे रावण तदा॥ ५।९।५६

२. स राक्षसेन्द्र· शुशुभे ताभि. परिवृतः स्वयम्। करेणुभिर्यथारण्ये परिकीर्णो यया द्विप· ॥ ५।११।१२

३ तत. प्रचुक्रुशुर्दीना सस्वरं ता वरांगनाः। करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपा.॥ २।६५।२०

४ यूथपेन विना कृता . गजराजवधूमिव। ५।२६।२१

आओ—**आनयध्व वशं सर्वाः वन्यां गजवधूमिव** (३।५६।३१) । कभी-कभी गौ और वृषभ का साहचर्य मानवो के यौन आकर्षण का सूचक माना जाता था। ननिहाल से लौटने पर भरत को अयोध्या ऐसी जान पडी मानो किसी गौ को उसके वृषभ ने त्याग दिया हो।[1] सिंह से मारे गए साड़ पर आसू बहानेवाली गौ की भाति तारा ने वाली की मृत्यु पर विलाप किया था।[2] रावण को अपनी रानियो के बीच सोते देखकर हनुमान को प्रतीत हुआ मानो गौओ के बीच कोई साड पडा हो (**गवां मध्ये यथा वृषः**, ५।११।११)। मेघ और विद्युत भी पति और पत्नी के प्रतीक माने गए है। जैसे बादल के साथ बिजली लगी रहती है, वैसे ही रावण की स्त्रिया उसका अनुगमन कर रही थी—**अनुजग्मुः पतिं वीरं घनं विद्युल्लता इव** (५।१८।१५)।

प्रणय का अधिक उदात्त एव शालीन रूप कवि द्वारा चित्रित प्रेम के आदर्श में उपलब्ध होता है। रामायण का मुख्य प्रतिपाद्य सृष्टि के शाश्वत आदर्श युगल राम और सीता का दापत्य प्रेम है। उनके पारस्परिक अनुराग की गभीरता, उदात्तता, और अमरता को सूचित करने के लिए वाल्मीकि ने अनेक अलौकिक एवं आध्यात्मिक उत्प्रेक्षाओ का अवलबन लिया है। जिस प्रकार वेद-विद्या आत्म-ज्ञानी स्नातक ब्राह्मण की सपत्ति होती है, उस प्रकार सीता पृथ्वीपति राम की ही सुयोग्य पत्नी थी।[3] दोनो का साहचर्य अटूट था, एक के बिना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती। जैसे सूर्य से उसकी प्रभा विलग नही की जा सकती, वैसे ही राम से सीता।[4] रोहिणी और चद्रमा अथवा लक्ष्मी और विष्णु का-सा कात उनका सयोग था।[5] विवाह के पश्चात उनका प्रेम पारस्परिक सहानुभूति और निरतर साहचर्य के सहारे विकसित हुआ था—वह इस धार्मिक भावना की नीव पर

---

१. **गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम्**। २।११४।९

२ **सिंहेन पातितं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम्**। ४।२३।२६

३. **अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः। व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः॥** ५।२१।१७

४. **अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा**। ५।२१।१५

५ **रोहिणीव शशाकेन रामसंयोगमाप या**। २।१६।४२; **अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः**। १।७७।२९

सवर्धित एव प्रगाढ हुआ था कि जीवन के उतार-चढाव में, सुख-दु ख एव हर्ष-शोक के द्वद्वो में, हम एक-दूसरे के सगी-साथी है, राम के अकृत्रिम सौहार्द और स्नेह ने इस प्रेमिल सबध को सुधा-रस से सीचा था।[1] पिता के यहा के अभ्यस्त वातावरण को छोड एक अपरिचित घर में आनेवाली नवोढा के लिए इससे बढकर सौख्य का विषय और क्या हो सकता है! फलत दोनो का गार्हस्थ्य जीवन विवाह की लोकोत्तर कल्पना एव प्रेम के सर्वोच्च आदर्शों से अनुप्राणित था।

रामायण में अन्य सुखी विवाहो के भी उदाहरण मिलते हैं। तारा और मदोदरी के विलापो में जहा उनकी पति-भक्ति की प्रगाढता अभिव्यक्त हुई है, वहा उनके पतियो का हार्दिक अनुराग भी। जहा तक तपस्या-रत ऋषि-मुनियो या कर्मकाडी ब्राह्मणो के विवाहित जीवन का प्रश्न है, उसमें प्रणय-भावना अपेक्षाकृत गौण थी। उनके लिए विवाह स्वप्निल भावो की पुष्प-शय्या न होकर धर्माचरण की कठोर वेदी था। पत्नी का अधिकाश समय पति की सेवा-शुश्रूषा करने में, यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित रखने में तथा व्रत-नियमो के अनुष्ठान में पति की सहयोगिनी बनने में ही बीतता था (७।२।२६, २८-९)। मुनि-पत्नी के लिए विवाह एक सस्कार था, एक कर्तव्य-पथ था, जिसका मुख्य लक्ष्य सयम और सदाचार द्वारा आध्यात्मिक सुख और पारलौकिक पुण्य का अर्जन करना था।

'सदृश' अथवा अनुरूप पति-पत्नी में ही प्रेम की प्रगाढता होती है, जैसा कि राम और सीता के बारे में कहा गया है—"सीता ने अपने हृदय-मदिर में राम को ही विराजमान कर रखा था—राम, जो स्थिरचित थे और जिनका मन भी सीता में ही लीन था। सीता के गुणो और रूप के कारण राम का यह अनुराग और भी अधिक होता जाता था। सीता के हृदय में राम द्विगुणित होकर निवास करते थे—अर्थात राम के प्रति सीता का दुगुना प्रेम था। राम सीता के हृद्गत भावो को, न कहने पर भी, अपने हृदय से स्पष्टतया पढ लेते थे और सीता राम के भावो को उससे भी अधिक स्पष्टता से जान लेती थी" (१।७७।२६-८)।

अनुराग प्राय दर्शन-जन्य होता है, अदृष्ट के प्रति प्रेम उत्पन्न नही होता।[2] पारस्परिक अनुराग विवाह का चरम लक्ष्य है, उसकी सच्ची आधार-शिला। पत्नी

---

१. देखिए ६।३२। २०-१; ६।११६।१५-६; २।२९।२०

२. दृश्यमाने भवेत्प्रीति· सौहृद नास्त्यदृश्यतः। ५।२६।३९

के प्रति सहृदय और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही पति के प्रति उसकी आदर एवं भक्ति की भावना को जगा सकता है। सीता जहा राम के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थी, वहा राम भी उनकी सुख-सुविधाओ का बडा ध्यान रखते थे। दोनो एक-दूसरे के अनन्य प्रेमी थे।[1] एकागी प्रणय वाल्मीकि की दृष्टि में अनुचित एव वैरस्य-जनक होता है। रावण की स्त्री धान्यमालिनी ने सीता के साथ बलात्कार न करने की प्रार्थना करते हुए अपने स्वामी से कहा था कि अनिच्छुक स्त्री से प्रेम करने-वाले पुरुष को मनस्ताप का शिकार होना पडता है, इसके विपरीत किसी अनु-रागिणी स्त्री से प्रेम करने पर प्रसन्नता की प्राप्ति होती है।[2] इसीलिए रावण अकामा मैथिली का स्पर्श करने को प्रोत्साहित नही होता था—**एव चवंसकामा त्वां न च स्पृक्ष्यामि मैथिलि** (५।२०।६)।

विवाह की सफलता प्रणय एव सतान-प्राप्ति में निहित मानी जाती थी (**रतिपुत्रफला दाराः**)। गृहस्थाश्रम को स्वीकार करनेवाला प्रत्येक स्नातक यह भली भाति जानता था कि विवाह तो वश-प्रवर्तन के लिए सौपी गई एक पवित्र धरोहर है। चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था कि तुम्हारी पत्नी 'सफला' है, अर्थात रति और सतति से युक्त है।[3] सतानोत्पत्ति ही दापत्य प्रेम की चरम परिणति है। पुरुष के लिए इससे बढकर दु खद बात और क्या हो सकती है कि वह अपने अनुरूप पत्नी प्राप्त किये बिना अथवा उससे आयु-भर पुत्र उत्पन्न किये बिना ही ससार से चल बसे ?[4] यौन आकर्षण अथवा काम-भाव की असह्य प्रबलता को अस्वीकार न करते हुए भी रामायण में, धर्म-रति' (नैतिक नियमो के अनुसार सचालित यौन सबध) को ही श्रेष्ठ माना गया है। विवाह-सस्कार की

---

१. **मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः। ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशित.॥ ४।१।५२**

२. **अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते। इच्छन्तीं कामयानस्य प्रीतिर्भवति शोभना॥ ५।२२।४२**

३. **कच्चित्ते सफला दाराः (दाराणां सफलत्वं धर्मरतिप्रजाभिः—तिलक टीका)। २।१००।७२**

४. **तुलना कीजिए—मात्मनः सन्तति द्राक्षीत् स्वेषु दारेषु दुःखितः। आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २।७५।३६**

सपूर्ण विधि इस बात की पर्याप्त द्योतक है कि यौन समागम एक उदात्त कर्तव्य है, जिसमें स्वार्थपूर्ण भोग-लिप्सा या लपटता के लिए स्थान नही। भारतीय काम-कला लपटो के उच्छृखल ऐद्रिक व्यापार के स्तर पर अपने को नही गिराती। यौन जीवन को मर्यादा मे बाधने के लिए रामायण में सहवास के कतिपय नीति-नियम यत्र-तत्र निर्दिष्ट है।[1] उनके अनुसार तन और मन की विशिष्ट परिस्थितियो में ही किया गया काम-सबध उचित और धर्मसगत है, और उनके विपरीत की गई यौन क्रिया व्यभिचार है, अनैतिक और मानवो के लिए अशोभनीय। गुरु-पत्नी, औरस पुत्री, भगिनी तथा भ्रातृ-भार्या के पास काम-बुद्धि से जाना, या उनका कामवश उपभोग करना धर्म और लोकाचार का घोर अतिक्रमण है। पुरुष को केवल अपनी पत्नी के साथ ऋतु-काल में गमन करना चाहिए, वह भी सतानोत्पादन की इच्छा से। सध्या के समय अथवा रजस्वला स्त्री के साथ सभोग वर्जित है। जो जितेंद्रिय गृहस्थ इन नियमो के अनुसार अपना यौन जीवन मर्यादा और सयम में बाधे रखता है, वह (गौण अर्थ में) ब्रह्मचारी ही कहलाने योग्य है।[2]

प्रेम मध्यम भाव से और यथासमय करना चाहिए। विशेष कर राजा को रात्रि का समय ही काम-सेवन के लिए नियत रखना चाहिए, प्रात काल या दिन का समय नही।[3] अतिप्रणय और अप्रणय दोनो ही अनुचित हैं, अत मध्यम मार्ग का अनुसरण ही श्रेयस्कर है।[4] अपनी पत्नी के प्रति अधानुराग का रामायण समर्थन नही करती। विरह-पीडित राम को सुग्रीव ने सात्वना देते हुए कहा था—"मै भी भार्या-हरण के महान कष्ट से दु खी हू, पर मै न शोक करता हू, न धैर्य का ही

---

१ देखिए २।६३।३०; २।७५।४५, ४।१८।२२-३; ४।५५।३; १।४८।१८; ७।९।२२-४; ७।८६।१५

२ तुलना कीजिए—द्वैविध्य ब्रह्मचर्यस्य (मेखलाजिनादिरूप मुख्यं ब्रह्मचर्यम्, दारेषु ऋतुगमनरूपं पर गौणम् —तिलक टीका)। १।९।५

३ कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयता वर। विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥ (प्रातर्दानादिधर्मकाल, तदनन्तर आस्थान्यां राज्यविचारेणार्थ-काल, रात्रौ कामकाल इत्यर्थ —गोविन्दराज)।

४. न चातिप्रणय कार्य कर्तव्योऽप्रणयश्च ते। उभयं हि महादोष तस्मादन्त-रवृग्भव ॥ ४।२२।२३

परित्याग। एक तुच्छ वानर होते हुए भी मै उसके लिए कोई पश्चात्ताप नही करता। आप तो महात्मा, शास्त्रज्ञ और धैर्यवान है, इतना विलाप करना आपको शोभा नही देता" (४।७।६-७)। दशरथ के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पत्नी के प्रति सीमातीत आसक्ति बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है। लक्ष्मण के अनुसार, दशरथ काम के वशीभूत, वृद्धावस्था के कारण विपरीत-बुद्धि तथा कैकेयी के मोह-जाल मे पडकर असहाय थे (२।२१।२-३)। स्वय राम ने वन में पहुचने पर अपने पिता के बारे में ऐसे ही भाव व्यक्त किये थे। **कामात्मा कैकेय्या वशमागतः, काम-पाश-पर्यस्तः, कामभारावसन्न.** आदि सबोधनो द्वारा उन्होने पिता की काम-परायणता की आलोचना की थी। लक्ष्मण की तरह उनकी भी यही मान्यता थी कि महाराज ने एक स्त्री की बातो मे आकर अपने आज्ञाकारी पुत्र को राज्य से निर्वासित कर दिया।[1] कैकेयी के प्रति दशरथ की यह आसक्ति अयोध्या की जनता मे भी सुविदित थी और कटु चर्चा का विषय बनी हुई थी।[2] कामपरायण होना कोई प्रशंसा की बात नही है, विशेष कर स्त्रियो के लिए तो 'कामवृत्त' सर्वथा अशोभनीय है।[3]

वाल्मीकि ने सर्वत्र विवाहित प्रणय को ही श्रेष्ठ पद प्रदान किया है तथा अविवाहित और असयत प्रेम को निंदा और दड का पात्र घोषित किया है। अपने प्राकृत स्वभाव के कारण पुरुष नारी का उपभोग करना चाहता है, उससे विवाह करना नही, जैसाकि राजा दड और मुनि-कन्या अरजा के आख्यान से प्रकट है। वाल्मीकि ने 'स्वदारनिरत', अपनी पत्नी मे ही अनुरक्त होने का आग्रह किया है। उनके अनुसार प्रेम और विवाह दोनो परस्परावलबी है। पर-स्त्री विष-मिश्रित भोजन के समान अग्राह्य है।[4] सीता ने राम का, परस्त्री-ससर्ग से दूर रहने और

---

१ को ह्यविद्वानपि पुमान्प्रमदायाः कृते त्यजेत्। छन्दानुवर्तिनं पुत्रम्....॥ २।५३।१०

२ राजानं धिग्दशरथ कामस्य वशमास्थितम्। २।४९।४; २।१२।८३ भी देखिए।

३ कामात्मता खल्वति न प्रशस्ता। २।२१।५८; कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्। ३।४३।२१

४ तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा। ४।६।८

अपनी ही स्त्री से प्रेम करने के उपलक्ष्य में, अभिनदन किया था (३।९।५-६)। मारीच ने परस्त्री-ससर्ग से वढकर दूसरा कोई पाप नही माना था।[१] 'जो चचल-चित्त अजितेंद्रिय पुरुष अपनी ही स्त्री से सतुष्ट नही रहता, उस पापात्मा की पराई स्त्रिया बहुत फजीहत करती है।'[२] विवाहित स्त्री से प्रणय-प्रस्ताव करना सामाजिक मर्यादा के विपरीत था। सीता ने रावण से कहा था—"अपना मन मुझसे हटाकर तुम्हें अपनी ही स्त्रियो के साथ विहार करना चाहिए। मै पराई स्त्री हू, अतएव न्यायानुसार तुम्हारी भोग्या नही हो सकती। पतिव्रता कुलवधू के लिए यह दुष्कर्म है। जगदीश्वर राम की भुजा पर सिर रखकर अब मै किसी दूसरे की बाह का तकिया कैसे लगा सकती हू ?"[३]

जीवन के धर्म, अर्थ और काम, इन तीन पुरुषार्थो में कौन श्रेष्ट है ? राम के अनुसार, 'जो व्यक्ति धर्म और अर्थ का परित्याग कर काम का ही अनुसरण करने लगता है, वह शीघ्र ही राजा दशरथ की तरह विपत्ति में पड जाता है।'[४] जो राजा अपने जीवन में धर्म और अर्थ की उपेक्षा करके काम को प्रधानता देता है, वह धर्मात्माओ की दृष्टि में निंदनीय और राजोचित मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है, वह वृक्ष की शाखा पर सोये हुए उस मनुष्य के समान है, गिरने पर ही जिसकी आख खुलती है।[५] धर्म, अर्थ और काम तीनो का यथासमय और यथोचित मात्रा में उपभोग करना ही बुद्धिमानो के लिए कल्याणकारी है।[६]

१ परदाराभिमर्शात्तु नान्यत्पापतर महत्। ३।३८।३०

२ अतुष्ट स्वेषु दारेषु चपल चपलेन्द्रियम्। नयन्ति निकृतिप्रज्ञ परदारा. पराभवम्॥ ५।२१।८

३ उपधाय भुज तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्। कथ नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित्॥ ५।२१।१६; ५।२१।३-४, ६-७ भी देखिए।

४ अर्थधर्मौ परित्यज्य य. काममनुवर्तते। एवमापद्यते क्षिप्र राजा दशरथो यथा॥ २।५३।१३

५. तुलना कीजिए—त्व च सक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हित'। कामतन्त्र-प्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि। ४।१८।१२, हित्वा धर्मं तथाऽर्थं च काम यस्तु निषेवते। स वृक्षाग्रे यथा सुप्त' पतित' प्रतिबुध्यते॥ ४।३८।२१-२

६ धर्ममर्थं हि काम वा सर्वान्वा रक्षसा पते। भजते पुरुष. काले त्रीणि द्वन्द्वानि वा पुन.॥ ६।६३।९; ४।३८।२९-२२ भी देखिए।

: १० :

नारी—घर में

नारी की स्थिति ही किसी समाज की सभ्यता का सच्चा मापदड है। रामायण-काल की नारी-सस्कृति का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए वाल्मीकि ने प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। अन्य अनेक महाकाव्यो और नाटको की तरह रामायण में भी पाठक की अभिरुचि प्राय उसके नारी-पात्रो पर ही केद्रित रहती है। सस्कृत के साहित्य-शास्त्र की भाषा मे, नारिया ही इस आदि-काव्य का प्रमुख आलंबन है—वे ही इसके कथानक को गति प्रदान करती है, उसका चरम विकास करती हैं। रामायण मे कई प्रधान एव आनुषंगिक नारी-पात्रो के विशद चित्र अकित है, ऐसे नारी-पात्र, जिनके गुण और दुर्गुण, जिनकी महत्ता और दुर्बलता हमारे समुख नारी-सस्कृति का एक मिला-जुला रूप उपस्थित कर देती है। हिंदू कन्याओ की प्रात स्मरणीया पाच महानारियो (अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा और मदोदरी) मे से चार रामायण से ही प्रसूत है, केवल द्रौपदी महाभारत से सबद्ध है। रामायण में नारी-चित्रण इतना सजीव, इतना प्रमुख है कि वह उसे एक पुरुष-प्रधान काव्य के बजाय एक नारी-प्रधान रचना बना देता है। जहा महाभारत को 'द्यूत-प्रसग' और भागवत को 'चोर-प्रसग' की सज्ञा दी जाती है, वहा रामायण को 'स्त्री-प्रसग' के नाम से यथार्थ ही सबोधित किया जाता है।

रामायण मे नारी की स्थिति का कई दृष्टियो से अध्ययन किया जा सकता है। क्योकि कन्यात्व, पत्नीत्व और मातृत्व उसके जीवन के प्रमुख अग है, अत समाज में उसकी स्थिति का विश्लेषण इन तीन दृष्टियो से करना समीचीन होगा।

उत्तरकाड में ऐसे कई स्थल है, जहा विवाह-योग्य कन्याओ की बढती हुई आयु को देखकर माता-पिता के चिंता के उद्गार अभिव्यक्त हुए है।[1] रामायण के

---

१ कन्या का पिता बनना संमान चाहनेवाले लोगो के लिए दुःख का विषय है—कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकाक्षिणाम् (७।९।१०)। इसका कारण यह था कि उन दिनो भी पिता को अपनी पुत्री के लिए योग्य वर ढूंढ़ने में

प्रामाणिक काडो में ऐसे उदाहरण कम है, फिर भी हम सीता के उस कथन की उपेक्षा नही कर सकते, जिसमें वह कहती है कि मेरे विवाह-योग्य होने पर मेरे पिता जनक वैसे ही चिंताग्रस्त हो गए जैसे कोई निर्धन व्यक्ति अपनी स्वल्प सपत्ति नष्ट हो जाने पर चिंतातुर हो जाता है, क्योकि कन्या के पिता को, चाहे वह इद्र का ही समकक्ष क्यो न हो, समान और निम्न श्रेणीवाले लोगो से अनादर ही प्राप्त होता है।[1]

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कन्या के जन्म पर परिवार में प्रसन्नता की लहर नही दौडती होगी, क्योकि वह जन्म के साथ ही अपने भावी विवाह की चिंता भी माता-पिता पर लाद देती थी। प्रश्न होता है, इस चिंता से मुक्त होने के लिए क्या लोग अपनी नवजात कन्याओ को त्याग तो नही दिया करते थे ? इस सबध में वाल्मीकि द्वारा प्रयुक्त एक उपमा विचारणीय है। रावण की कैद में अपने दुर्भाग्य पर विलाप करती हुई सीता की उपमा वाल्मीकि एक ऐसी बालिका से देते है, जो निर्जन वन में छोड दी जाने के कारण क्रदन कर रही हो—

कान्तारमध्ये विजने विसृष्टा
बालेव कन्या विललाप सीता। ५।२८।२

क्या इस उक्ति को कोरी उपमा ही मान लेना चाहिए ? क्या इससे यह ध्वनि नही निकलती कि वाल्मीकि के समय में नवजात कन्याओ के वन में त्याग दिये जाने की घटनाए भी हो जाया करती थी ?

कठिनाई पडती थी। सबसे पहले तो इसी बात का निश्चय नहीं किया जा सकता कि कन्या का वरण कौन करेगा। दूसरे, कन्या की बढती हुई आयु देखकर माता-पिता चिंतित हो जाते थे और वर लोग भी इस भय से विवाह का प्रस्ताव नही करते थे कि स्वय निर्णय करने में समर्थ युवती पुत्री उन्हें कहीं अस्वीकार न कर दे। कन्या अपने चरित्र के विषय में माता, पिता और पति इन तीनों के परिवारो को सशय में डाले रखती है, क्योकि यह कोई नहीं कह सकता कि कन्या का भविष्य क्या होगा—वह सुखी एव पतिव्रता पत्नी बन सकगी अथवा नहीं (७।९।८-११)।

१ पतिसयोगसुलभ वयो दृष्ट्वा तु मे पिता। चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधन। सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्। प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि ॥२।११८।३४-५

जिस परिस्थिति में सीता जनक को मिली, उससे भी इस मत पर प्रकाश पडता है। जब जनक यज्ञ-क्षेत्र में हल चला रहे थे, तब उन्हे पृथ्वी पर एक शिशु-कन्या पडी हुई मिली, जिसके सारे अग धूल में सने थे और जो मुट्ठी बाधे अपने हाथो को इधर-उधर फेक रही थी। आसपास उसका कही कोई रक्षक या अभिभावक नही था (२।११८।२८-९)। क्या इससे यह सकेत नही मिलता कि सीता किसीकी परित्यक्ता कन्या थी, जो जनक को सयोगवश पडी हुई मिल गई? पौराणिक मान्यतानुसार सीता पृथ्वी फोडकर निकली थी—**अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता** (२।११८।२८), किंतु यह बात तर्कगम्य नही जान पडती।

दूसरी ओर यदि हम परिवार में कन्या की स्थिति और उसके प्रति किये जानेवाले व्यवहार की समीक्षा करे तो यह स्वीकार करना होगा कि कन्याओ से किसी प्रकार का द्वेष, द्रोह या घृणा नही की जाती थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि कन्या का जन्म हो जाने के बाद उसका लालन-पालन मनोयोग से किया जाता था और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उदारता बरती जाती थी। सतान के प्रति स्नेह मानव-मनोवृत्ति का सामान्य लक्षण है और पुत्रिया भी इस स्नेह को भरपूर पाती थी। पुत्री अपने पिता की 'दयिता' अर्थात प्रीति-पात्र थी। गुणवती कन्या की प्राप्ति दीर्घ तपस्या से ही सभव है (१।२५।५-६)। सीता को खेत में पडी हुई पाकर जनक का सपूर्ण अपत्य-स्नेह उमड पडा। गोद मे उठा कर उन्होने उसे कन्या-रूप मे स्वीकार किया और अपनी सारी ममता उस पर उडेल दी। जनक की बडी रानी ने भी सच्ची माता के स्नेह से उसे पाला-पोसा (२।११८।३०-३३)।

इस पर भी यदि कन्या परिवार की चिता का कारण होती थी, तो इसके मूल में माता-पिता की यह उद्विग्नता थी कि हमारी पुत्री का विवाहित जीवन कैसे सुखमय हो। कन्या का उपयुक्त ढग से विवाह सपन्न कर देना बडे महत्व का कार्य था। इसे माता-पिता ज्यो-त्यो नही निपटा दिया करते थे। किसी व्यक्तिगत धारणा या धुन के अनुसार नही, अपितु पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात, नियत सिद्धातो के आधार पर ही, कन्या के लिए वर का चुनाव किया जाता था। कुशनाभ-कन्याओ के विवाह-वृत्तात से यह प्रकट है। राजा जनक ने भी सीता के विवाहार्थ विशाल स्वयवर का आयोजन करके अनेक राजाओ से शत्रुता मोल ली, केवल इसलिए कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर उनकी पुत्री का पति बन सके। निश्चय ही

कन्या परिवार में उपेक्षा का विषय नही थी। सीता-हरण के पश्चात राम यह सोच-कर बडे दु खी हुए थे कि यदि लोगो के समूह में राजा जनक मुझसे सीता की कुशल के विषय मे कही पूछ बैठे तो मैं उन्हे क्या उत्तर दूगा।[1] यह सच है कि कन्या के जन्म से पिता पर एक महान उत्तरदायित्व आ पडता था, किंतु उसका निर्वाह वह स्नेह से प्रेरित होकर करता था, पुत्री का सुख या हित कभी उसकी आखो से ओझल नही होता था।

यही नही, कुमारी कन्याओ को मागलिक तथा उनकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाता था। सुदर और सुसज्जित कन्याओ का दिखाई पडना और उनके द्वारा स्वागत-सत्कार किया जाना सफलता और सौभाग्य का चिह्न था। इसीलिए जब राम ने वन से लौटकर अयोध्या में प्रवेश किया तब कुमारी कन्याए उनके आगे-आगे चली थी (**कन्या रामस्य पुरतो ययु**, ६।१२८।३८)। धार्मिक एव सार्वजनिक व्रत-उत्सवो में अविवाहिता कन्याओ की उपस्थिति से अवसर की माग-लिकता में अभिवृद्धि होती थी। राम के यौवराज्याभिषेक की सामग्रियो में आठ सुदर कन्याए भी समाविष्ट थी (**अष्टौ च रुचिरा कन्या**, २।१४।३६)। उनके राज्याभिषेक में कन्याओ ने उन पर जल छिडका था (६।१२८।६२)। जिस घडी में जनक ने सीता को पुत्री के रूप में ग्रहण किया, तभी से उनके यहा सुख-समृद्धि की अतिशय वृद्धि होने लगी थी।[2] कन्या-दान पिता के लिए एक पुण्योत्पादक कर्म था,[3] पुत्री के लिए वर प्राप्त करना पिता का धार्मिक एव अनिवार्य कर्तव्य था।

रामायण के प्रमुख स्त्री-पात्रो की समीक्षा से यह स्पष्ट है कि विवाह से पूर्व उन्हे अपने घरो में समुचित शिक्षा मिल चुकी होगी। क्योकि उन्हें सभी धार्मिक कृत्यो में अकेले या पति के साथ समिलित होना पडता था, अत उन्हें विवाह से पहले ही वैदिक और स्मार्त क्रिया-कल्पो की तथा उनमें प्रयुक्त होनेवाले मत्रो की शिक्षा दे दी जाती थी। राम के यौवराज्याभिषेक के दिन कौसल्या अग्नि में मत्रों-

---

१ किं नु वक्ष्यामि धर्मज्ञं राजान सत्यवादिनम्। जनकं पृष्टसीतं त कुशलं जनसंसदि ॥४।१।१०६

२. अवाप्तो विपुलामृद्धि मामवाप्य नराधिप। २।११८।३४

३. परो धर्म· (कन्याप्रदानरूप.) कृतो मह्यम्।१।७५।१५

सहित आहुति दे रही थी।[1] सीता को सध्योपासन में तत्पर बताया गया है (५।१४।१९), जबकि तारा मत्रो की जानकार (**मन्त्रवित्**) थी (४।१६।१२)।

कर्मकाड की शिक्षा पाने के अतिरिक्त कन्याए शास्त्रो, स्मृतियो और पुराणो का भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करती थी। यह ज्ञान उन्हें अपने माता-पिता, ब्राह्मण अभ्यागतो तथा ऋषि-मुनियो से मिलता था। इस प्रकार मिलनेवाली उनकी शिक्षा सर्वांगीण होती थी। सीता अपने पिता के घर में ऋत्विजो, ब्राह्मणो, ज्योतिषियो और विद्वानो के सपर्क में आने के कारण पारपरिक ज्ञान की अनेक शाखाओ में पारगत थी। अपने समय के पौराणिक ज्ञान में वह विचक्षण थी।[2] कैकेयी और तारा ने भी शास्त्र-ज्ञान का विशद परिचय दिया है।

कन्याओ को व्यावहारिक और नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी। पत्नी-विषयक कर्तव्यो का उन्हे सुचारु रूप से बोध कराया जाता था। सीता को, जैसाकि उन्होने राम के साथ वन चलने का आग्रह करते समय कहा था, अपने माता-पिता से पत्नी के कर्तव्यो की समुचित शिक्षा मिल चुकी थी।[3] उन्होने वही सदाचार और सयम का अभ्यास कर लिया था तथा सुख-दु ख को समान समझकर हर परिस्थिति में प्रसन्न रहने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। राजकुमारियो को राजधर्म की भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे अपने राजकीय पतियो की सच्ची सहयोगिनी बन सके। युवराज-पत्नी होने के नाते सीता राजधर्म की जानकार थी (**अभिज्ञा राजधर्माणाम्**, २।२६।४)। कई कन्याओ को सगीत, नृत्य आदि ललित कलाओ की भी शिक्षा दी जाती थी। रावण के अंत पुर की रमणिया वाद्य-यत्रो के प्रयोग में प्रवीण थी (५।१०।३७-४९)।

देवासुर-सग्राम में कैकेयी का अपने पति के साथ जाना यह सिद्ध करता है कि लडकिया सैनिक-शिक्षा से भी वचित नही रखी जाती थी। घोर युद्ध मे अस्त्र-

---

१. **सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा। अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमंगलम्** ॥२।२०।२५

२. २।२९।८-९; ६।४८।२; २।२९।१७; २।३०।६; ५।२४।९१; ६।११३।४१; ३।९।१३-२३

३. **अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि सप्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया** ॥२।२७।१०

शस्त्रो से जब महाराज का शरीर जर्जर हो गया और उनकी चेतना लुप्त हो गई, तब कैकेयी ने युद्ध-भूमि से दूर ले जाकर उनके प्राण बचाये थे (२।९।१५-६)। इससे सूचित होता है कि वह रथ-सचालन तथा प्राथमिक चिकित्सा से अवगत थी। शरीर से बलिष्ठ स्त्रियो का उन दिनो अभाव नही था। दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में अश्व की बलि चढाने का काम रानी कौसल्या के सुपुर्द था, उन्होने तलवार के तीन वार करके घोडे का शिरोच्छेदन किया था।[1] सचमुच वह एक शक्ति-सपन्न वीर क्षत्राणी रही होगी। लका में स्त्रियो से सशस्त्र पहरेदारो का काम लिया जाता था। सीता की राक्षसी पहरेदारनियें शस्त्रधारिणी महिला सैनिक थी।

अपने कौमार्य-काल में कन्याए पर्दे-जैसे नियत्रणो अथवा अतिशय औपचारिकता के बधनो से मुक्त रहती थी। नगर के उद्यानो में वे आभूषणो से सज्जित होकर सायकाल के समय समूहो में क्रीडा करने जाया करती थी।[2] कुशनाभ-कन्याओ के आख्यान से यह ज्ञात होता है कि उन्हे बाहर घूमने-फिरने की स्वच्छदता प्राप्त थी। वस्त्राभूषणो से सजी हुई वे रूपवती युवती कन्याए जब गाती-बजाती और नृत्य करती हुई, शरत्कालीन विद्युत के समान, वाटिका में पहुचती, तब वायु-जैसे अलौकिक (उच्चपदस्थ) व्यक्ति भी मोहित हो उठते थे (१।३२)।

विवाह होने के बाद पितृ-गृह से पति-गृह आनेवाली कन्या 'वधू' का पद प्राप्त करती थी (**उह्यते पितृगृहात् पतिगृहम् इति वधू**)। नवविवाहित होने के कारण वह पति के परिवार में कुछ समय के लिए अजनबी बनी रहती थी। अत नये वातावरण से अभ्यस्त होने में उसे सप्रयास तत्पर हो जाना पडता था। परिवार के अन्य सदस्यो का स्नेहपूर्ण व्यवहार इसमें उसका सहायक होता था। विशेष रूप से सास अपनी अनुभवहीन पुत्रवधू को इस विषय में भली भाति शिक्षित करती थी कि असाधारण परिस्थितियो मे पति के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए।[3]

---

१ **कौसल्या त हय तत्र परिचर्य समन्तत· । कृपाणैर्विशशासैन त्रिभि· परमया मुदा ॥१।१४।३३**

२ **उद्यानानि समागता । सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥ २।६७।१७, २।६०।९-१०, ७।२।१०-१ भी देखिए।**

३ **आगच्छन्त्या च विजन वनमेव भयावहम्। समाहित हि मे श्वश्रा हृदये यत्स्थिर मम ॥२।११८।७; २।३९।२०-५ भी देखिए।**

रामायण में सास-ससुर और पुत्र-वधू के बीच नितात स्नेहसिक्त सबध चित्रित हुए है। दशरथ और कौसल्या का अपनी पुत्रवधू सीता के प्रति हार्दिक और निश्छल स्नेह था। यह स्नेह राम के साथ सीता के वन जाते समय अतिशय चारु एव मार्मिक रूप में प्रकट हुआ है।

जहा तक पति के प्रति व्यवहार का प्रश्न है, वाल्मीकि ने पत्नी की ऐकातिक निष्ठा और सेवा-भावना का ही बारबार आग्रह किया है, और यह इसलिए कि 'पति ही पत्नी की एक-मात्र शरण है (**गतिरेका पतिर्नार्या**), उसके बिना वह जीवित रहने मे भी समर्थ नही है। लोक और परलोक दोनो मे पिता, पुत्र, माता, सखिया, आत्मा कोई भी नारी का अपना नही है, मात्र पति उसका एक सहारा है। जैसे बिना तार के वीणा नही बज सकती और पहिये के बिना रथ नही चल सकता, वैसे ही पति के बिना स्त्री को सुख नही मिल सकता, चाहे उसके सौ पुत्र भी क्यो न हो। पिता, माता, भाई, पुत्रवधू, ये सब अपने पुण्य-कर्मो का फल भोगते हुए अपने-अपने भाग्य को प्राप्त करते है, केवल पत्नी अपनी पति के भाग्य को प्राप्त करती है। पति आभूषणो से भी अधिक पत्नी की शोभा-वृद्धि करता है।'[1]

महाराज दशरथ को छोडकर पुत्र के साथ वन चलने को उद्यत माता कौसल्या को राम ने जो उपदेश दिया था, उसमें तत्कालीन स्त्री-धर्म का आदर्श प्रस्फुटित हुआ है, जो आज तक भारतीय महिलाओ के लिए अनुकरणीय बना हुआ है (२।२४)। पत्नी के लिए उसका पति ही देवता, गुरु, सुहृद, गति, धर्म, प्रभु और सर्वस्व है। अत उसकी सर्वतोभावेन भक्ति ही पत्नी का एक-मात्र कर्तव्य है। सुख-दु.ख में, जीवन के उतार-चढावो में पत्नी को पति की ही अनुगामिनी बनना चाहिए। 'ऊचे-ऊचे महलो में रहना, विमानो पर चढकर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियो द्वारा आकाश में विचरना, इन सबकी अपेक्षा स्त्री के लिए किसी भी अवस्था मे पति के चरणो की छाया में रहना विशेष महत्व रखता है। पिता, भाई और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते है, किंतु पति अपरिमित सुख का दाता है। अत ऐसी कौन स्त्री है, जो अपने पति का सत्कार नही करेगी? स्वामी का त्याग स्त्री के लिए बडा क्रूरतापूर्ण कार्य है, सती-साध्वी नारियो के लिए

---

१ २।६१।२४; २।२९।७; २।२७।१६; २।३९।२९; २।२७।४-५; ५।१६।२६

वह अकल्पनीय है। जाति और गुणो से उत्तम तथा व्रत-उपवास आदि में तत्पर होने पर भी जो नारी अपने पति की सेवा नही करती, उसे पापियो की ही गति मिलती है। देवताओ की पूजा और वदना से दूर रहकर भी जो स्त्री अपने स्वामी की सेवा में लगी रहती है, उसे उत्तम स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। अत नारी को अपने पति के प्रिय और हित में सलग्न रहकर सदा उसीकी सेवा करनी चाहिए। यही स्त्री का लोक और वेद में प्रसिद्ध सनातन धर्म है, इसीका श्रुतियो और स्मृतियो में भी वर्णन है।'[1]

तत्कालीन समाज पत्नी से कठोर अनुशासन एव आत्म-त्याग की अपेक्षा रखता था। उसे पति के अवगुणो को आखो से सर्वथा ओझल करके उसकी नि-स्वार्थ सेवा करनी होती थी। अनसूया के अनुसार 'अपने स्वामी नगर में रहें या वन में, भले हो या बुरे, जिन स्त्रियो को वे प्रिय होते है, उन्हे महान अभ्युदयशाली लोको की प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभाव का, मनमाना वर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यो न हो, उत्तम स्वभाववाली नारियो के लिए वह श्रेष्ठ देवता के समान है' (२।११७।२३-४)। सीता ने भी इस दृष्टिकोण को सर्वथा अगीकार किया था—"मेरे पतिदेव यदि अनार्य और चरित्रहीन होते तो भी मै बिना किसी दुविधा के उनकी सेवा में लगी रहती। फिर जब वह अपने गुणो के कारण सबकी प्रशसा के पात्र हैं, दयालु और जितेद्रिय, स्थिर अनुरागवाले, धर्मात्मा तथा माता-पिता की तरह प्रिय है, तब तो उनकी सेवा में क्या दुविधा हो सकती है? स्त्री के लिए पति की सेवा से बढकर दूसरा कोई तप नही है" (२।११८।२-९)।

पतिव्रता एव साध्वी नारियो की स्तुति से रामायण भरी पडी है। देवराज की पत्नी शची अपने पातिव्रत्य के लिए प्रख्यात है। इसी प्रकार एक मुहूर्त के लिए भी चद्रमा से विलग न होनेवाली रोहिणी तथा सावित्री और दमयती है, जिन्होने विपत्ति के कडे थपेडो में भी पति का त्याग नही किया। पतिव्रताओ में अग्रगण्य जिस नारी का रामायण में काव्यात्मक चमत्कार के साथ वर्णन हुआ है, वह तो रावण के चगुल में पडी, सुवर्ण के समान दीप्तिमती, मलिन-वसना, दु ख-सतप्त, एकाग्र चित्त से राम के ध्यान में लगी हुई सीता है, जो पति-प्रेम के कारण ही सब प्रकार के भोगो को लात मारकर निर्जन वन में चली आई थी और जिन्होने राक्षस-

---

१ २।२७।९, २।३९।३०, २।२४।१२, २।२४।२६-८

राज के समस्त प्रलोभनो और प्रणय-प्रस्तावो को ठुकरा दिया था। यह दर्शनीय है कि सीता की पति-भक्ति विवाहोत्तर सुख-भोगो, वनवास के कष्टो, अपहरण के अपयश, राज्याभिषेक के गौरव और वैभव, तथा अतिम परित्याग की मर्मांतक वेदना-जैसी उत्तरोत्तर विषम परिस्थितियो मे भी अखड और अविचल बनी रही। समस्त रामायण उस युग की इस आदर्शभूत महानारी का ही चरित्र-चित्रण है—**काव्य रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरित महत्** (१।४।७)।

कुछ ऐसी स्त्रियो के भी उदाहरण मिलते है, जो पति के प्रति अनुरक्त रहने पर भी कभी-कभी आवेश मे आकर खिन्नता या असतोष प्रकट कर देती है। दशरथ की कैकेयी के प्रति पक्षपातपूर्ण प्रीति होने पर भी कौसल्या उनके प्रति पूर्ण भक्ति-समन्वित थी, किंतु वह भी एक बार राम से दशरथ के क्रूर उपेक्षा-भाव की शिकायत कर बैठी थी। राम के वन चले जाने के बाद कौसल्या ने पुत्र-शोक से पीडित होकर दशरथ पर, राम के प्रति अन्याय करने के कारण, आरोप-पर-आरोप लगाने आरभ कर दिये थे, किंतु उनकी पातिव्रत्य की उदात्त भावना तब प्रकट होती है, जब दशरथ अजलिबद्ध होकर उनसे क्षमा-याचना करते है। तब कौसल्या अपनी गलती अनुभव करती है और, अपने असमय दोषारोपण से लज्जित हो, विनयपूर्वक अपने अपराध के लिए क्षमा मागती है, क्योकि वह स्त्री, जिसके पति को उसकी अनुनय-विनय करनी पडती है, लोक-परलोक में कही प्रशसा की पात्र नही बन सकती—

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या सम्प्रसाद्यते॥ २।६३।१३

अडिग पति-भक्ति पत्नी में ऐसा आत्म-विश्वास उत्पन्न कर देती थी कि दुष्टो के चक्र में पडकर भी वह अपने सतीत्व की रक्षा करने में समर्थ हो जाती थी। घर में अकेली छोड दिये जाने पर भी वह अपने 'चारित्र' के बल पर सुरक्षित रहती थी।[1] अपने चरित्र पर जरा-सा आक्रमण भी पतिव्रता नारी के समस्त आक्रोश, तेज, प्रतिरोध-शक्ति तथा अदम्य उत्साह के विस्फोटन के लिए पर्याप्त था। सीता सौम्य और सुकुमार थी, ज्योत्स्ना-सी स्वप्निल और मृदुल, किंतु सतीत्व-रक्षा का प्रश्न आने पर वह भी एक निर्भीक वीरागना का रूप धारण कर लेती थीं। पातिव्रत्य के प्रभाव से सुरक्षित सीता पर रावण को बलात्कार करने का

---

१. **वसन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिता.** ।२।४५।२५

साहस कभी नही होता था।[1] रावण के साथ सीता ने सदा घोर घृणा, उपेक्षा और तिरस्कार का व्यवहार किया (३।४७।३७, ४२-४)। उनका तेज ही रावण को हतप्रभ करने के लिए पर्याप्त था, केवल राम की आज्ञा के अभाव में और अपनी तपस्या को नष्ट करने के विचार से वह उसे भस्म नही कर रही थी।[2]

पतिपरायणा स्त्रियो का अपहरण करनेवाले की दुर्गति निश्चित मानी जाती थी। मदोदरी का विश्वास था कि पतिव्रता सीता की तपस्या ने ही रावण को नष्ट किया था, सीता का अपहरण करते समय ही वह जलकर खाक नही हो गया, यही आश्चर्य की वात थी। गुरुजनो की सेवा में लगी रहनेवाली, धर्मपरायणा तथा पतिव्रता कुल-ललनाओ को विधवा वनाकर और उन्हे अपमानित कर रावण ने अपने ही सर्वनाश को आमन्त्रित किया था। सच है, पतिव्रताओ के आसू पृथ्वी पर व्यर्थ नही गिरते—**पतिव्रताना नाकस्मात्पत॰त्यश्रूणि भूतले** (६।१११।६७)।

जिस प्रकार पत्नी से पतिपरायणा होने की अपेक्षा की जाती थी, उसी प्रकार पति से भी यह आशा की जाती थी कि वह अपनी पत्नी का परित्याग न करे। सच्चरित्र, अनुरक्त, पतिप्राणा, सुख-दु ख में समान रूप से साथ देनेवाली पतिव्रता पत्नी का त्याग कैसे किया जा सकता है! वीरो के लिए, शास्त्र-वेत्ताओ के लिए पत्नी का त्याग अनुचित और अपयशकारी है। अन्याय से त्यागी गई पत्नी के लिए मृत्यु के अतिरिक्त और क्या चारा हो सकता है![3]

किंतु रामायण में दुष्ट पत्नी के परित्याग की अनुमति दी गई है। ऐसी परित्यक्ता स्त्रियो को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहला वर्ग उन स्त्रियो का है, जो अपनी दुश्चरित्रता के कारण पति द्वारा त्याग दी जाती है तथा एक निश्चित अवधि तक प्रायश्चित्त करने के वाद पुन ग्रहण कर ली जाती है। ऐसा उदाहरण गौतम-पत्नी अहल्या का है (१।४८-९), जिसने देवराज इद्र के साथ गुप्त रूप से रमण किया था। गौतम के वेश में आने पर भी इद्र को अहल्या ने पहचान

---

१ इमामपि विशालाक्षीं रक्षिता स्वेन तेजसा। रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधे ॥६।११८।१६, ३।३७।१४ भी देखिए।

२ असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्ह-तेजसा ॥५।२२।२०

३. २।२९।१९-२०, २।२७।३; २।३०।२०

लिया या, पर 'दिव्य-रति' का लोभ-सवरण वह न कर सकी। इस प्रकार वह जान-बूझकर व्यभिचार करने की अपराधिनी थी। उसकी इस चचलता को फटकारते हुए गौतम ने उसे आश्रम से निकल जाने को कहा। उसके अनुनय-विनय करन पर गौतम ने इस शर्त पर उसे पुन ग्रहण करना स्वीकार कर लिया कि वह एकात में रहकर दीर्घ काल तक प्रायश्चित्त-रूप तपस्या करे और कोसल-राजकुमार उसे निष्कलक मानकर उबार ले। तब अभिशप्ता अहल्या ने, लोगो की दृष्टि से दूर रहकर, अनुताप और तपस्या में अनेक वर्ष व्यतीत किये। विश्वामित्र के साथ राम के आने पर अहल्या ने उनका विधिवत अतिथि-सत्कार किया। उसकी अभ्यर्चना को स्वीकार करके राम ने अहल्या की समाज में पुन प्रतिष्ठा का मार्ग खोल दिया। शाप-मुक्त और तप पूत होने पर अहल्या का अपने पति से पुन समागम हुआ।

इसी वर्ग में सीता का उदाहरण भी रखा जा सकता है, जिनको राम ने लका-विजय के बाद अगीकार करने से इन्कार कर दिया था। यह परित्याग सीता के चरित्र में आशका-मात्र से प्रेरित हुआ था और लोकापवाद का भय ही उसका जनक था। अग्नि-शुद्धि के बाद राम ने उनको मुक्त हृदय से स्वीकार कर लिया था।

इससे दूसरे और कही अधिक बडे वर्ग मे वे स्त्रिया आती है, जिनका उनके पति सदा के लिए परित्याग कर देते है और अत समय तक जिनके साथ उनका समझौता नही हो पाता। सुमत्र ने कैकेयी को उसकी माता की कहानी सुनाई थी, जिसने अपने पति केकयराज के प्रति निपट स्वार्थपरायण और पत्नी के लिए सर्वथा अशोभनीय व्यवहार किया था और इसी कारण जिसके पति ने नि.शक हो उसे छोड दिया था (२।३५)। ऐसा ही उदाहरण स्वय कैकेयी का भी है, जिसके साथ दशरथ ने अपना विवाह-संबंध विच्छिन्न कर लिया था। जब कैकेयी ने दशरथ पर यह आरोप लगा कर कि आप अपने दिये वचनो से विमुख हो रहे है, राम को वन भेजने की अपनी माग तीन बार दुहराई, तब दशरथ ने आगबबूला होकर उससे यह स्पष्ट कह दिया—"ओ पापिनी, मैंने अग्नि के समीप मत्र-पाठ करके तेरे जिस हाथ को पकडा था, उसे आज छोड रहा हू। साथ ही तेरा और अपने से जाये तेरे पुत्र का भी त्याग करता हू।"[1] कहा जा सकता है कि यह घोषणा एकात कोप-

१. यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः। सन्त्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया॥२।१४।१४

भवन में की गई थी। अत वाल्मीकि ने इस आशय के अधिक व्यापक और दारुण शाप को एक सार्वजनिक स्थान और अवसर के लिए रख छोडा है। जब वन की ओर जाते हुए राम के रथ की धूल दशरथ को दिखाई देनी बद हो गई, तब वह शोकार्त होकर धरती पर गिर पडे। उस समय उन्हे सहारा देने के लिए कौसल्या के साथ कैकेयी भी आ पहुची थी। उसे देखते ही राजा की समस्त इद्रिया व्यथित हो उठी और वह कहने लगे—"कैकेयी, तेरे विचार पापपूर्ण है, तू मेरे अगो मे हाथ न लगा, मै तुझे देखना नही चाहता। तू न तो मेरी स्त्री है और न सगिनी ही। तू ने धन मे आसक्त होकर धर्म को त्यागा है, अतएव मैं तेरा परित्याग करता हू। अग्नि को साक्षी देकर जो मैंने तेरा पाणिग्रहण किया है, तेरे साथ अग्नि की जो प्रदक्षिणा की है, लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण के लिए उसका जो महत्व है, वह सब मै त्याग देता हू" (२।४२।६-९)। अपनी इस प्रतिज्ञा को सतप्त राजा ने एकनिष्ठ होकर मरते दम तक निभाया। अतिम क्षण उन्होने कौसल्या के साथ ही बिताये, अभागी कैकेयी का राजा से उनकी मृत्यु-पर्यत समझौता न हो सका। रावण के वध पर जब दिवगत महाराजा दशरथ, महेश्वर के अनुग्रह से, राम के समक्ष प्रकट हुए, तब राम ने उनसे कैकेयी के परित्यागवाली अपनी प्रतिज्ञा लौटा लेने के लिए कहा था और दशरथ ने 'एवमस्तु' कहकर उनकी बात मान ली।

इस प्रकार कवि चाहता है कि दशरथ और कैकेयी के सबध-विच्छेद की घटना को पाठक गभीरतापूर्वक ग्रहण करे, उसे क्षणिक आवेश में कह दी जानेवाली उक्ति-मात्र न मानें। दशरथ के शाप देने से पहले जिन शब्दो[1] का कवि ने प्रयोग किया है, उनसे भी यह स्पष्ट है कि कैकेयी-त्याग की इस घटना को वह उचित एव न्यायसगत मानता है।

नैतिक गुणो के अतिरिक्त आदर्श पत्नी में शारीरिक आकर्षण की भी अपेक्षा की जाती थी। पत्नी के मनोहर स्मित, हाव-भाव और कटाक्ष, तथा वाणी-माधुर्य उसे पति के समस्त अनुराग का भाजन बना देते है। वाल्मीकि का युग सुदरियो का युग था। सीता, कैकेयी, अहल्या, रभा, मेनका, हनुमान की माता अजना, तारा, मदोदरी आदि उस युग की सुप्रसिद्ध सुदरिया थी, जिनका विस्तार से वर्णन कर वाल्मीकि ने आदर्श स्त्री-सौदर्य का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर दिया है।

१ ता नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन च। उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रिय ॥२।४२।५

एक सर्वांगसुदर नारी-रूप जगत की परम दुर्लभ वस्तु है (सर्वांगी सर्वरम्यो हि कश्चिल्लक्ष्ये प्रजायते)। यद्यपि सामान्यत समस्त स्त्रियो के शरीर की वनावट मे, उनके अंग-प्रत्यग मे, एकरूपता पाई जाती है, तथापि किसी भी एक नारी-रूप को सभी के लिए आदर्श या उपमान नही कहा जा सकता। सघन कुंतल, रोमहीन मुखमडल, उरोज-युग्म तथा लचीली सुकुमारता, ये शारीरिक विशेषताएं लगभग सभी स्त्रियो में समान होने पर भी, सूक्ष्म एव कलात्मक दृष्टि से देखने पर, उनमें न्यूनाधिक अतर, आकर्षण या अनाकर्षण, सहज ही दीख पडेगा। इसी कारण कवि ने किसी विशिष्ट नारी के रूप को स्त्री-सौंदर्य की कसौटी नही माना है। इसके विपरीत प्रकृति या पशु-जगत में इतनी विभिन्नता नही देखी जाती। पशुओ या पेड-पौधो में आगिक समानता के अधिक दर्शन होते है। एक ही नस्ल के दो पक्षियो या पशुओ अथवा एक ही पेड के दो पौधो में विशेष रूप-भेद दृष्टिगोचर नही होता। एक मुर्गी के अडो में वही स्निग्धता और वही व्यवस्थित गोलाई मिलेगी, जो किसी भी अन्य मुर्गी के अडो में होगी। एक पीपल के पत्ते में वैसा ही त्रिकोण और लहर-दार पैना छोर मिलेगा, जैसा किसी अन्य पीपल के पत्ते में। मानव स्त्री-पुरुषो में ऐसी एकरूपता का

चित्र ६—धनुष-जैसा मस्तक

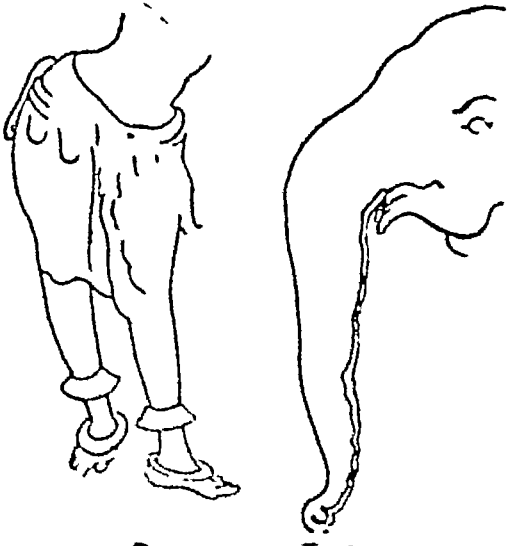

चित्र ७—गजनासोरु

प्राय अभाव होता है। सभवत इसी कारण वाल्मीकि ने एक नारी के अग-प्रत्यग की तुलना किसी अन्य नारी के अग-उपाग से न कर पुष्पो-पल्लवो से, पशु-पक्षियो के अगो से अथवा प्रकृति की विविध छटाओ से की है। इसका साक्ष्य रामायण में निर्दिष्ट नारी का निम्नलिखित स्वरूप-वर्णन है।

आदर्श सुदरी की आयु यौवन की दोपहरी में (**श्यामा**) और सुकुमारता लिये हुए होनी चाहिए। उसकी शरीर-यष्टि इकहरी (**तन्वी**) होनी चाहिए—सारा वदन

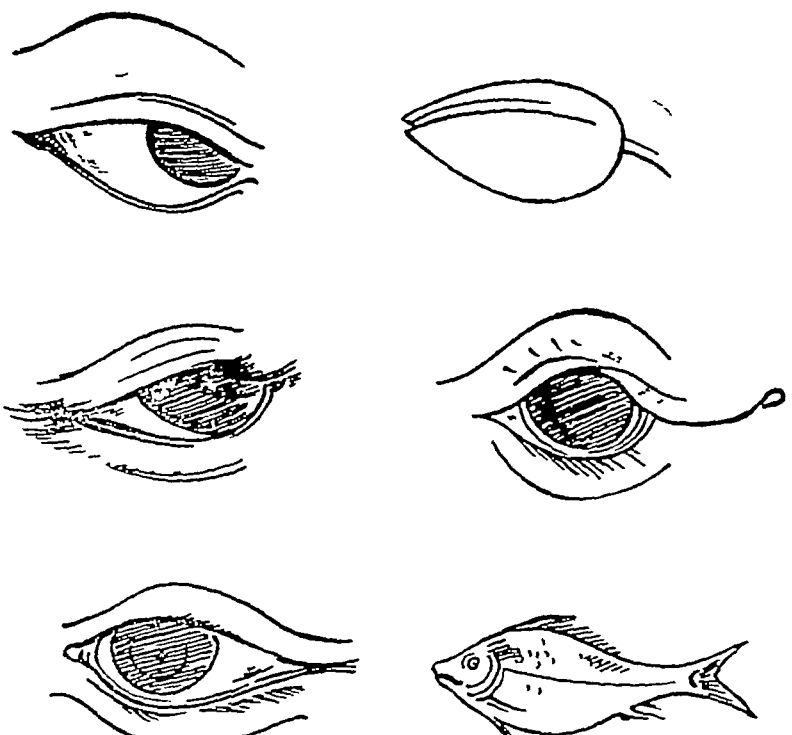

चित्र ८—कमल-नयन, मृग-नयन और मीन-नयन

गठा हुआ, समस्त अग समान रूप से वटे हुए, निर्दोष, कोमल तथा ऐसे आकर्षक और सौष्ठवयुक्त होने चाहिए कि देखते ही हठात मुख से प्रशसा निकल पडे (**वपु-श्लाघ्या**)। उसके शरीर का रग तपे हुए शुद्ध सोने के समान चमकदार (**तप्तकाचन-वर्णाभा**) या वृक्षो की कोपलो के समान हलकी लाली लिये (**तरुप्रवालरक्ता**)

होना चाहिए। सुदरी की बाहे मासल, गोलाकार और पत्तो के समान कोमल तथा पीठ रथ के कूबर (डडे) के समान सुदर होनी चाहिए (**रथकूबरसकाशा**)। मनोरम नाभि से सुशोभित पतला पेट सुदरता की निशानी

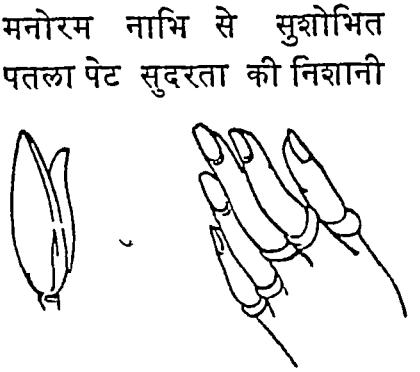

चित्र ९—कर-कमल

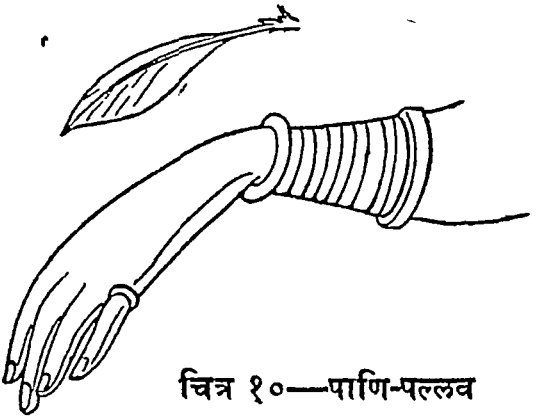

चित्र १०—पाणि-पल्लव

था। स्तन तो सौदर्य के आधान होते थे। वाल्मीकि ने सर्वत्र 'पीनोत्तुग'—मोटे और उठे हुए—तथा स्वर्ण-कलशो या ताल-वृक्ष के पके फलो के समान सुपुष्ट एवं रुचिर कुचो की प्रशसा की है (३।४६।१९-२०)। सुदरता की दृष्टि से उरोजो का 'सहत', परस्पर सटा हुआ होना आवश्यक है। उनका पेट की तरफ झुकाव न होकर कधो की ओर उठाव होना चाहिए (२।९।४१)। जाघें हाथी की सूड (**करिकराकारौ**) या केले के पेड के तने की तरह (**कदलीकाण्डसदृशौ**) होनी चाहिए—गोल, भरी-पूरी, बलिष्ठ और सुदर। जाघो और कमर के बीच का भाग, जिसे नितब कहते है, कडा, भरा, फूला, चौडा,

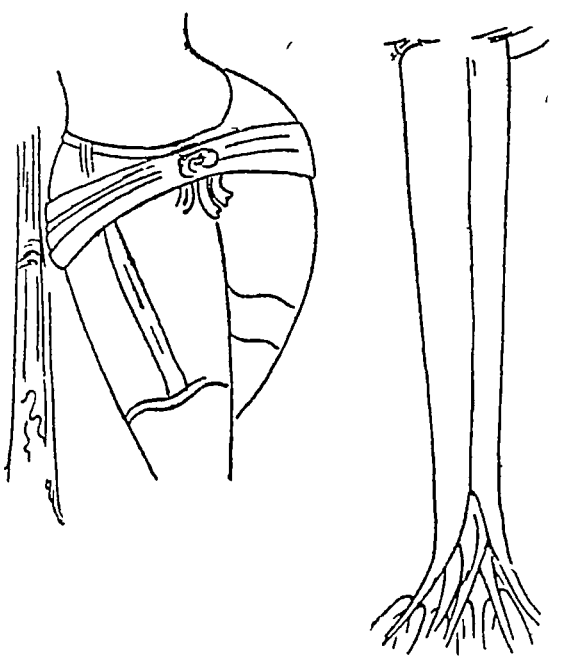

चित्र ११—कदली-प्रतिस्पर्धी जघन

उठा हुआ, सुरूप, विस्तीर्ण और रोम-रहित होना चाहिए। मनोहर, मतवाली, स्वच्छ और विशाल आखें सुदरता-सूचक मानी गई है। उनके कोने लाली लिये हुए (रक्तान्त) तथा चितवन लबी हो। आखो की पुतलिया काली ही अच्छी मानी गई है (कृष्णतारके), जबकि पलकें सुदर, काली, पतली और घनी होनी चाहिए। वाल्मीकि ने आखो की तुलना कमल, हरिण, मछली और मदिरा से की है। कमलनयनी के नेत्रो मे एक प्रकार की गभीर शाति का भाव पाया जाता है, मृगनयनी की आखें भोली-भाली होती है, मीनाक्षी के नयन मछली-जैसे चचल होते है और मदिरेक्षणा की आखें नशीली और मस्ती-भरी होती है। भौहे दो धनुषो की तरह सुदर, मुडी हुई और कानो तक फैली हुई होनी चाहिए (भ्रुवौ चापनिभे शुभे)। मुख-मडल चाद-सा सुदर और चमकदार (शशिनिभम्) हो, बेदाग, स्वच्छ और घावो-फोडो से रहित (अव्र ण)। उसे देखते ही आखें जैसे शीतल हो जाय—उसमें से जैसे कमल की-सी सुगध निकलती हो (पद्मोत्पलसुगधि)। नाक उठी हुई (उन्नसम्), ललाट केशो की लटो से अलकृत (सुकेशान्तम्) तथा स्वर मधुर हो। सुदर, सुडौल और कोमल पैर, जो पृथ्वी मे अच्छी तरह सट जाते हो और जिनके तलवे लाल और नख तावे-जैसे हो, सुदरी के आकर्षण मे वृद्धि करते है (६।१२।५५)। चाल मतवाले हाथी के समान अलसाई हुई होनी चाहिए (अलसगामिनी, मत्तमातगगामिनी)। वाल काले, लबे और घुघराले हो (नीलकुचितमूर्धजा), उनकी बधी हुई वेणी काले नाग के समान जघनो तक लटकती हो (नीलनागाभया वेण्या जघन गतयैकया, ५।१५।२४)। होठ गीले, चिकने, लाल और लुभावने होने चाहिए। उनकी उपमा बिबाफल से दी गई है (बिम्बफलोपमोष्ठम)। तावे का वर्ण भी होठो के लिए आदर्श माना गया है (ताम्रोष्ठम्)। दात सफेद, चमकते, निर्मल, पैने, समान आकारवाले, सटे हुए और चिकने होने चाहिए। हाथ पल्लवो-जैसे नरम (पल्लवकोमलौ) और कमल-दल की-सी आभावाले, अगुलियो के नख उठे हुए, आगे की ओर निकले हुए और लाली लिये हुए (रक्ततुगनखौ) तथा कमर इतनी पतली कि मुट्ठी से भी पकडी जा सके (करान्तमितमध्या)। गर्दन नरम और चदन-जैसी पीली तथा कद मझला हो।

किंतु पत्नी के रूप और यौवन का यह समस्त आकर्षण तभी पूर्ण और सार्थक हो सकता है, जब उसका हृदय उदार और स्वभाव भी सुदर हो। सच तो यह है कि पत्नी का सारा शारीरिक समोहन, उसके सारे शृगार और प्रसाधन, उसके सर्वोत्कृष्ट भूषण पति के अभाव में निस्सार और निष्प्रभाव हो जाते है। पति-प्रेम

ही स्त्री का एक-मात्र शृगार है। अतएव शारीरिक सौंदर्य के साथ-साथ अपनी गुणावली से भी पति के सुख-सतोष मे अभिवृद्धि करना आदर्श पत्नी की कसौटी है। अपनी सुशीलता एव मनस्विता के सहारे उसे पति का पूर्ण विश्वास-भाजन बनने का प्रयास करना चाहिए। पत्नी को 'प्रियंवदा' और 'मृदुभाषिणी' होना चाहिए—उसे सदा मुसकराकर बोलना चाहिए (स्मितपूर्वाभिभाषिणी)। पति-शुश्रूषा ही उसका सर्वोपरि धर्म है। पति के प्रति उसे किसी प्रकार के अनुचित या अप्रिय व्यवहार का दोषी नही बनना चाहिए। वाल्मीकि ने राम और सीता की झाकी चित्रित करते समय राम को तो स्वर्ण-शय्या पर आसीन और सीता को उनके पास खडी चवर डुलाते हुए दिखाकर पत्नी की विनम्रता, सेवा-भावना एव प्रगाढ अनुरक्ति को मानो साकार रूप प्रदान कर दिया है (२।१६।१०)।

पति के प्रवास मे होने पर स्त्री को विशेष विधि-नियमो का पालन करना पडता था। पति द्वारा निर्दिष्ट आदेशो का पालन पत्नी से नितात अभिप्रेत था। प्रात काल जल्दी उठकर, स्नानादि से निवृत्त हो, उसे देव-पूजा में सलग्न रहना चाहिए। व्रत, उपवास और सत्य का पालन करना उसका प्रधान कार्य होना चाहिए। उसे सादा और स्वल्प वेश धारण करना चाहिए, शृगार, आमोद-प्रमोद या खान-पान में उसे कोई आसक्ति नही रखनी चाहिए।[1] 'प्रोषितभर्तृका' (पति से विलग) पत्नी केवल एकवेणी धारण करती, प्रार्थना और व्रत-नियमो से अपने को बाधे रखती तथा एक तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती थी। पति की स्मृति मे ही उसके समस्त विचार केंद्रित रहते थे—उत्सुकता और व्यग्रता से वह पति के लौटने की अहर्निश बाट जोहती रहती थी। पति के अतिरिक्त उसका कोई परमेश्वर नही होता था। क्षमा का आचरण, पृथ्वी पर शयन, नियमो का पालन, स्वधर्म का अनुसरण तथा पतिव्रता के आदर्शों का अनुगमन करने मे ही उसका जीवन-यापन होता था (५।२८।१२)। किसी भी पर-पुरुष के सपर्क मे, चाहे वह देवराज इंद्र ही क्यो न हो, उसे नही आना चाहिए। जब सीता से हनुमान ने अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास तुरत ले चलने का प्रस्ताव किया, तब सीता ने उसे अपने और राम के समान के लिए अनुपयुक्त समझकर विनयपूर्वक अस्वीकार कर दिया (५।३७।६२)।

---

१. तुलना कीजिए—न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी। न भोक्तं नाप्यलकर्तुं न पानमुपसेवितुम् ॥५।११।२

इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि वाल्मीकि ने गृह-कार्य में रत गृहिणी का कही वर्णन नही किया है। वह केवल इतना कहते है कि नववधू को अपने सास-ससुर के अधीन रहना चाहिए, उनका नित्य पादाभिवदन करना चाहिए (२।२६।३०-३२)। पति के भाइयो के साथ अपने ही भाइयो या पुत्रो-जैसा व्यवहार करना चाहिए। सभीको अपने सुशील, मृदु तथा सेवापरायण वर्ताव से प्रसन्न रखने की चेष्टा करनी चाहिए—आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविता (२।२६।३५)।

विवाहित स्त्रिया पति की कल्याण-कामना से व्रतो और नियमो का अनुष्ठान करती तथा ब्राह्मणो को दान-दक्षिणा देती थी। अपने प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के दिन जब दशरथ ने राम को बुला भेजा, तब सीता अपने पतिदेव को द्वार तक पहुचाने आई और उन्होने देवताओ से उनके हितार्थ मगल-याचना की (२।१६।२१-५)। वन में भी सीता ने गगा और कालिंदी नदियो तथा न्यग्रोध वृक्ष की स्तुति की थी, जिसमे उनके पति का वनवास निरापद हो सके और उसकी समाप्ति पर वह सकुशल स्वदेश लौट सकें।

सक्षेप में, वाल्मीकि ने आदर्श पत्नी का यही चित्र उपस्थित किया है—शारीरिक आकर्षणो और नैतिक गुणावली से अलकृत। ऐसी पत्नी ही पति की सुख-समृद्धि की मूल भित्ति है—जीवन-यात्रा के एकाकी मानव-पथिक को यही सेवा और सहानुभूति का पाथेय प्रदान करती है। सीता-जैसी आदर्श भार्या अपने पति के समस्त हृदय और मस्तिष्क को अपने में केंद्रीभूत कर लेती है।[1] दशरथ के कथनानुसार कौसल्या-सी आदर्श नारी मे दासी, सखी, पत्नी, बहन और माता सबके एकत्र दर्शन किये जा सकते है।[2] वसिष्ठ ने पत्नी को पति की आत्मा बताया था—आत्मा हि दारा सर्वेषा दारासग्रहवर्तिनाम् (२।३७।२४)। इसलिए जब तक मनुष्य के पत्नी नही होती और वह उससे सतानोत्पत्ति नही करता, तब तक वह अपूर्ण बना रहता है, पत्नी और पुत्र से युक्त होने पर ही वह पूर्णत्व प्राप्त करता है।[3] पति के वश में

---

१. तस्याश्च भर्ता द्विगुण हृदये परिवर्तते। अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदय हृदा ॥१।७७।२७-८

२. यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च। भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ॥२।१२।६८-९

३. तुलना कीजिए—अप्राप्य सदृशान्दारानननपत्यः प्रमीयताम्। अनवाप्य

रहनेवाली पुत्रवती भार्या के रूप में जीवन के धर्म, अर्थ और काम, इन परस्पर-विरोधी पुरुषार्थों का मधुर समन्वय हो जाता है[1]—अतिथि-पूजन, यज्ञ आदि में सहचरी बनकर वह धर्म में, मनोनुकूल होकर काम में और सुपुत्रवती होकर अर्थ में सहायक होती है।

अब तक ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह धारणा बन सकती है कि रामायण-कालीन नारी को मात्र कर्तव्यो का पालन करना पडता था और उसके अपने कोई अधिकार नही थे। ऐसी धारणा बनाना सर्वथा अनुचित होगा, क्योकि स्त्रियो के अपने कुछ सुनिर्धारित अधिकार भी थे, जैसे भरण-पोषण का अधिकार, सपत्ति का अधिकार और वैवाहिक अधिकार।

पत्नी का सबसे बडा अधिकार और पति का सबसे बडा कर्तव्य था उसके भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था। भारतीय भावनाओ के लिए यह एक अकल्पनीय बात रही है कि पत्नी अपने पति का भरण-पोषण करे। सीता ने भर्त्सनापूर्वक उन नटो (शैलूषो) का उल्लेख किया था, जो अपनी स्त्रियो के दुराचार से अर्जित धन पर जीवन-निर्वाह करते है।[2] जहा 'पति' का अर्थ पत्नी का सरक्षक और 'भर्ता' का अर्थ पत्नी का भरण-पोषण करनवाला है,[3] वहा 'भार्या' का अर्थ पति के साधनो की व्यवस्था करके उसका सवर्धन करनेवाली है। इसलिए पत्नी का संरक्षण करना, उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना, उससे स्नेह और प्रीतिपूर्ण व्यवहार करना, उसे प्रसन्न रखने के लिए सचेष्ट रहना, कामोपभोग से उसे परितुष्ट रखना, पुरुष का नैतिक कर्तव्य है। राम के साथ वन चलने का आग्रह करते हुए भी सीता उनसे भोजनादि की व्यवस्था करने की अपेक्षा रखती ही है।[4] पति के लिए इससे

क्रियां धर्म्यां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२।७५।३५; यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्मा-प्रजस्य च ।१।१८।५१

१ धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु। ये तत्र सर्वे स्युर-संशयं मे भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥२।२१।५७

२ शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि।२।३०।८

३. भार्याया भरणाद् भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः।

४. पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु। दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥२।३०।१५, २।२७।१४ भी देखिए।

बढकर अशोभनीय बात और क्या हो सकती है कि वह स्त्री-पुत्रो की उपेक्षा करके घर में अकेले ही सुस्वादु भोजन का आस्वादन करे ?[१] चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था—

कच्चित् स्त्रिय. सान्त्वयसे
कच्चित्तास्ते सुरक्षिता. ।२।१००।४९

'क्या तुम अपनी स्त्रियो को सतुष्ट रखते हो ? क्या वे तुम्हारे द्वारा भली भाति सुरक्षित है ?"

पुत्री के विवाह पर माता-पिता उसे जो कन्या-धन दिया करते थे, वह आधुनिक शब्दावली में उसका स्त्री-धन बन जाता था। इस धन या सपत्ति पर पत्नी का ही एकाधिकार रहता होगा। इसके अतिरिक्त, राजागण समय-समय पर अपनी रानियो को उपहार दिया करते थे, जिन पर बाद में उन रानियो का ही स्वत्व स्थापित हो जाता था। अपने राज्याभिषेक पर राम ने सीता को उत्तम मणियो से जडी हुई एक मोतियो की माला दी थी और यह माला सीता ने हनुमान को, उनकी अविस्मरणीय सेवाओ के बदले, अर्पित कर दी (६।१२८।७७-९)। अपनी सपत्ति से होनेवाली आय को रानिया दान-दक्षिणा देने में व्यय करती थी, क्योकि उनकी निजी आवश्यकताए उनके पतिगण पूरी कर ही देते थे। कौसल्या को अपने आश्रितो का पालन करने के लिए एक हजार गाव मिले हुए थे।[२] कौसल्या के पास स्त्री-धन की प्रचुरता थी, ब्रह्मचारी छात्रो के समूह-के-समूह उनके पास सहायता की याचना करने आया करते थे।[३] पति के देहावसान के बाद भी पत्नी का अपनी सपत्ति पर अधिकार सुरक्षित रहता था। पुष्पक-विमान में सीता के साथ अयोध्या आनेवाली वानर-रमणिया दशरथ-पत्नियो की समृद्धि देखने को उत्सुक थी।[४]

---

१. तुलना कीजिए—पुत्रदारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारित· । स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गत ॥२।७५।३४
२. यस्या सहस्र ग्रामाणा सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ।२।३१।२२
३. मेखलीना महासघः कौसल्या समुपस्थित· ।२।३२।२२
४. विभूतिं चैव सर्वासा स्त्रीणा दशरथस्य च (पश्यामः इति शेष) ।६।१२३।५

पत्नी के वैवाहिक अधिकारो की सुरक्षा के लिए यह स्पष्ट विधान दिया गया था कि उसके ऋतु-काल में पति को उससे अवश्य सहवास करना चाहिए—उस समय पति का अपना वैवाहिक कर्तव्य न निभाना सरासर पाप है। भरत ने उस 'दुष्टात्मा' की तीव्र भर्त्सना की है, जो अपनी ऋतु-स्नाता, और इसलिए गर्भ-धारण के लिए अनुकूल, भार्या को उसके अधिकार से वंचित रखता है।[1] जिस प्रकार पातिव्रत्य पत्नी की सर्वश्रेष्ठ निधि है, उसी प्रकार पति को भी अपनी ही पत्नी के प्रति अनुरक्त (स्व-दार-निरत) रहना चाहिए। धर्म-मर्यादा के प्रतिकूल अपनी पत्नी को त्याग कर पर-स्त्री का सेवन करनेवाले व्यक्ति को जो पाप लगता है, वह भरत ने उस मूढ को लगाया था, जिसकी अनुमति से राम वन गए थे।[2]

पति और पत्नी का क्रमश एक और कर्तव्य तथा अधिकार यह था कि समस्त धार्मिक क्रिया-कलापो मे वे दोनो सहयोगी एव पूरक बने। पति को दो प्रमुख ऋणो से उऋण करने मे पत्नी सहायता देती थी—यज्ञ-यागादिक मे सहयोग देकर देव-ऋण से तथा सतानोत्पादन कर पितृ-ऋण से। 'सहधर्मचारिणी' के रूप मे पत्नी की यह प्रतिष्ठा इस बात की स्वीकृति थी कि नारी धर्माचरण में पुरुष की समकक्ष है। यह मान्यता थी कि पति-पत्नी सयुक्त रूप से अपना कर्म-फल भोगते है (**भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ**, २।२७।५)। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वह अपने पति की अर्धांगिनी, उसकी आत्मा ही थी। यज्ञानुष्ठान मे उसके बिना दीक्षा लेना सभव न था। दशरथ की रानियो ने अश्वमेध-यज्ञ में सक्रिय योग दिया था। तारा ने (रूपकात्मक ढग से) मृत वाली पर यह आरोप लगाया था कि आपने सग्राम-रूपी यज्ञ का सपादन तो किया, पर राम के बाण-रूपी जल मे मेरे बिना अकेले ही कैसे यज्ञात का अवभृत स्नान कर लिया?[3]

---

१ ऋतुस्नाता सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम्। अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२।७५।५२

२. धर्मदारान्परित्यज्य परदाराभिषेवताम्। त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२।७५।५५

३ इष्ट्वा संग्रामयज्ञेन रामप्रहरणाम्भसा। तस्मिन्नवभृते स्नातः कथं पत्न्या मया विना ॥४।२३।२७

राज्याभिषेक-सस्कार में पत्नी का पति से सयुक्त किया जाना भी पत्नी के महत्व को प्रमाणित करता है। राम के राज्याभिषेक में वसिष्ठ ने उन के साथ सीता को भी रत्नजटित सिंहासन पर बैठाकर अभिषेक किया था।[१] विधवा पत्नी को अपने स्वर्गत पति की और्ध्वदैहिक क्रिया में योग देने का अधिकार था। कौसल्या आदि रानियो ने दशरथ की प्रज्वलित चिता की प्रदक्षिणा की थी।[२] वाली की श्मशान-यात्रा मे उसकी पत्निया शामिल हुई थी।[३] ऐसे अवसरो पर स्त्रिया प्राय आगे-आगे चला करती थी।[४] दिवगत पितरो का तर्पण करने की भी वे पात्र मानी जाती थी।[५]

सामान्यत यज्ञादिक धार्मिक कृत्य पति और पत्नी सयुक्त रूप से ही किया करते थे। यदि किसी कारणवश उनमें पति का सहयोग न मिल पाता तो पत्नी उन कृत्यो को अकेली ही कर सकती थी। पत्नी की अनुपस्थिति में पत्नी को दैनिक अग्निहोत्र करने का अधिकार था। तपस्या, वेदाध्ययन, देव-पूजा तथा सध्योपासन से वे वचित नही रखी जाती थी। राम के हितार्थ कौसल्या ने स्वयमेव एक स्वस्ति-याग किया था (२।२०।१५-९), क्योकि दशरथ उस समय रुष्ट कैकेयी को मनाने में लगे थे। तारा ने भी अकेले ही वाली के मगल के लिए स्वस्त्ययन किया था,[६] क्योकि वाली तो उस समय सुग्रीव की ललकार सुनकर उससे मोर्चा लेने की तैयारी में लगा था और इस कारण तारा के स्वस्त्ययन में योग नही दे सकता था। ये उदाहरण सिद्ध करते है कि यज्ञ-यागादिक में स्त्रियो का योग मात्र सैद्धातिक

---

१ राम रत्नमये पीठे ससीत सन्यवेशयत्। ६।१२८।५१-६१; ६।४८।६ भी देखिए।

२. प्रसव्य चापि त चक्रु. .अग्निचित नृपम्। स्त्रियश्च शोकसन्तप्ताः कौसल्या-प्रमुखास्तदा ॥२।७६।२०

३ तारापभृतयो सर्वा वानर्यो हतबान्धवाः। अनुजग्मुश्च भर्तार क्रोशन्त्यः करुणस्वना ॥४।२५।३५-६

४ सीता पुरस्ताद्व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज। अहं पश्चाद्गमिष्यामि गतह्रीषा सुदारुणा ॥२।१०३।२१

५ कृत्वोदक ते भरतेन सार्धं नृपागना ।२।७६।२३

६ तत. स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्विजयैषिणी ।४।१६।१२

न होकर वास्तविक था और प्राय पतिगण व्यस्त होने पर उनका सचालन पत्नी के ही सुपुर्द कर देते थे।

विनम्रता की प्रतिमूर्ति होने पर भी हिंदू पत्नी अनुचित रूप से अपमानित, प्रताडित या लाछित किये जाने पर प्रज्वलित क्रोधाग्नि का रूप धारण कर लेती थी। जब दशरथ कैकेयी को दिये गए अपने वचनो से विमुख होने लगे, तब कैकेयी ने अपने समस्त नारी-बल का आश्रय लेकर आक्रोशपूर्वक उन्हे लताडा था। राम को दडित करने में असफल खर राक्षस को शूर्पणखा ने बहुत बुरा-भला कहा था और बाद में उसने रावण की भी, राजकीय कर्तव्यो की उपेक्षा करके विषय-भोगो मे लिप्त रहने के कारण, तीव्र आलोचना की थी। जब कौसल्या ने सीता को, वन-गमन के समय, दुष्टा स्त्रियो का-सा आचरण न करने का परामर्श दिया, तब सीता ने हाथ जोडकर, किंतु एक गर्विता क्षत्राणी के ओज से, यह निवेदन किया था कि आप मुझे असती नारियो के समकक्ष कैसे रख रही है।[1] लका-विजय के बाद सार्वजनिक रूप से अपना प्रत्याख्यान किये जाने के समय सीता ने सयत शब्दो मे अपना रोष प्रकट किया था।

यह निर्विवाद है कि नारिया तत्कालीन युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो को अत्यधिक रूप से प्रभावित करती थी। सीता और कैकेयी-जैसी नारियो ने राष्ट्रो का भाग्य-परिवर्तन कर दिया है। पत्नी के समान की रक्षा-भावना ने पुरुषो को दुर्धर्ष शत्रुओ से बैर ठानने के लिए प्रेरित किया है। पत्नी का अपमान स्वय अपना, अपने कुल का अपमान है, जिसकी उपेक्षा कोई भी अभिजात-वशीय नही कर सकता। सीता का विराध द्वारा अपहरण किये जाने पर राम ने कहा था कि विदेहनदिनी का कोई पर-पुरुष स्पर्श करे, इससे बढकर दु ख की बात मेरे लिए दूसरी कोई नही है, पिता का मरण और राजपाट से मेरा वचित किया जाना भी उतना दु खदायी नही है।[2] रामायण का मुख्य घटना-चक्र रावण द्वारा सीता के अपहरण के इर्द-गिर्द घूमता है। वाली और मायावी के बीच एक स्त्री के

---

१ अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे। न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति ॥२।३९।२७-८

२ परस्पर्शात्तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे। पितुर्विनाशात् सौमित्रे स्वराज्यहरणात्तथा ॥३।२।२१

कारण ही शत्रुता के बीज बोये गए थे।[१] अपनी पत्नी रुमा के अपहरण ने सुग्रीव को वाली का कट्टर शत्रु बना दिया था। सीता को पाने में असफल होने पर अनेक निराश राजाओ ने जनक पर आक्रमण कर दिया था।[२]

राजनीतिक क्रातियो के पीछे नारी की शक्ति, नारी का प्रभाव निहित था। इक्ष्वाकु-परिवार में उत्तराधिकार का झगडा रानियो के पारस्परिक वैमनस्य का ही परिणाम था। नारियो की शासन करने की योग्यता के भी सकेत मिलते है। उन्हें राजकीय अधिकारो का सौपा जाना सर्वथा सभव और व्यावहारिक माना जाता था। रावण ने सीता का लका के महाराज्य पर अभिषेक करने का प्रस्ताव किया था।[३] नारी की प्रशासनिक योग्यता का एक और प्रमाण वसिष्ठ ने दिया है, जिन्होने कैकेयी को सुझाव दिया था कि राम की आत्मा होने के नाते सीता, उनके वन चले जाने पर, उनकी प्रतिनिधि के रूप मे राज्य का शासन-सचालन करेंगी।[४] स्त्री को इस प्रकार का अधिकार प्रदान करना सर्वथा व्यवहार्य एंव समीचीन रहा होगा, अन्यथा अपने युग की प्रथाओ और परंपराओ के जानकार महात्मा वसिष्ठ ऐसा प्रस्ताव कैसे उपस्थित करते?

गृहस्थी की आतरिक व्यवस्था में भी पत्नी का ही सर्वाधिक प्रभाव था। कोई लाडली रानी अपने राजकीय पति को कितना अभिभूत कर सकती है, यह कैकेयी-शासित दशरथ के उदाहरण से प्रकट है। इसी प्रकार राम भी काचन मृग को पकड लाने के सीता के दुराग्रह को नही टाल सके, यद्यपि वह यह जानते थे कि

---

१. मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो दुन्दुभे· सुतः। तेन तस्य महद्वैरं वालिनः स्त्रीकृत पुरा ॥४।९।४

२. अरुन्धन् (बलेन कन्या ग्रहीष्यामः, इत्यर्थ·) मिथिला सर्वे (राजान.) वीर्यमन्देहमागता ।१।६६।२१

३ यदिह राज्यतन्त्र मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। ,३।५५।१६; लकायाः सुमहद्राज्यमिद त्वमनुपालय। अभिषेकजलक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व च ॥३।५५।२६-७

४. अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्। आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥२।३७।१३-४

स्वर्ण-मृग एक असभव चीज है और सभव होने पर भी राक्षसो के किसी षड्यत्र का ही द्योतक है। साधारण नागरिको के यहा भी पत्नी का प्रभाव उपेक्षणीय नही था। पति की गलतियो का परिहार करना वे अपना उत्तरदायित्व समझती थी। जब अयोध्या के नागरिक, राम के साथ वन जाने मे असफल होने पर, लौट आये, तब उनकी पत्नियो ने उन्हें, राम का साथ छोड देने पर, उपालभ दिया था। युद्ध-क्षेत्र में पीठ दिखाने पर सैनिको को यह भय रहता था कि हमारी पत्निया हमारा उपहास करेगी।[1] जब भरत ने सेना-सहित चित्रकूट जाकर राम को लिवा लाने का अपना निश्चय घोषित किया, तब अयोध्या मे घर-घर मे योद्धागनाए हर्षित होकर अपने पतियो को इस शुभ यात्रा के लिए प्रेरित करने लगी थी।[2]

पत्नी के जीवन की गौरवमय परिणति, उसके व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास मातृत्व में जाकर होता था—वश-प्रवर्तन ही उसके समस्त स्नेह और सौदर्य की सफलता का सूचक था। भारत मे अनुरूप पत्नी से पुत्र-प्राप्ति सदा से विवाहित आनद का चरम रूप माना जाता रहा है। अपने अगाग से, हृदय के सुकुमार ततुओ से एक नूतन सप्राण पदार्थ की सृष्टि करके उसका जगतीतल पर नवोन्मेष करना—नारी के अस्तित्व की इससे बढकर और क्या प्रतिष्ठा हो सकती है? पुत्र-प्रसव करके पत्नी वास्तव में अपने पति को ही पुनर्जन्म देती है, इसलिए वह 'धात्री' और 'जननी' कहलाती है। सतान मे इस प्रकार पत्नी का रूप और गौरव तथा पति का प्रेम ही मूर्त नही होता, वश-वृद्धि की उच्चतर सामाजिक माग भी पूर्णतया सतुष्ट हो जाती है।

मातृत्व के इस गौरव-गान के समक्ष वध्या स्त्री की दयनीयता और भी अधिक विषादजनक हो जाती है। नि सतान होने का दु ख उसे निरतर सालता रहता है।[3] अत प्रत्येक अनुरक्ता पत्नी का मातृ-पद पाने के लिए समुत्सुक रहना

---

१. निरायुधानां क्रमतामसंगगतिपौरुषाः। दारा ह्युपहसिष्यन्ति स वै घातः सुजीवताम् ॥६।६६।२०

२. ततो योद्धांगनाः सर्वा भर्तृन्सर्वान्गृहे गृहे। यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥२।८५।२५

३. एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः। अप्रजास्मीति सन्तापः.... ॥ २।२०।३७

स्वाभाविक था। सच तो यह है कि पत्नी को पति के साथ पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से ही सहवास करना चाहिए, यौन सुख की प्राप्ति के लिए नही। बालकाड में पार्वती का पुत्र की अभिलाषा से शिव से सयुक्त होने का आख्यान वर्णित है। जब देवो ने असमय विघ्न डालकर उन्हें अकृतकार्य कर दिया, तब पार्वती ने रुष्ट होकर उन्हें अपनी पत्नियो को गर्भित कर देने में असमर्थ हो जाने का शाप दिया था। इसी प्रकार पृथ्वी को भी पुत्र-सुख से वचित रहने का शाप मिला, क्योकि पृथ्वी ने भी पार्वती की पुत्रेच्छा को पूरा नही होने दिया था। नि सतान हो जाने का शाप पाकर देवगण बडे व्यथित हुए थे। पत्नी का वध्यात्व पति के लिए अपार मनोवेदना का विषय था (१।३६)।

प्राचीन भारतीयो ने वैवाहिक सबध को सदा मातृत्व और पितृत्व के महान आदर्शों से गौरवान्वित किया था। वे वर और वधू का चुनाव दपती के भावी सुख की दृष्टि से नही, वरन ऐसे सुयोग्य पुत्र की प्राप्ति के उद्देश्य से किया करते थे, जो कुल-क्रम को अविच्छिन्न बनाये रख सके। कन्या के अखड कौमार्य और वर के सच्चरित्र का आग्रह उनकी भावी सतान की श्रेष्ठता और शुद्धता के लिए ही किया जाता था। अभिजात राजकुमारियो का तपोनिरत, जितेंद्रिय एव कीर्तिलब्ध महामुनियो की सेवा में उपस्थित होकर उन्हें आकर्षित करना और उनकी अर्धांगिनी बनने को लालायित होना भी यही सिद्ध करता है कि विवाह दपती की तात्कालिक यौन भावना की परितृप्ति का नही, प्रत्युत ऐसी सबल, स्वस्थ एव विशुद्ध सतति प्राप्त करने का साधन था, जो माता-पिता के सद्गुणो का कात समिश्रण हो। अनेकानेक मर्त्य कुमारिकाओ का अमर्त्य देवो के सपर्क स्थापित कर उन्हीके समान तेजस्वी पुत्रो को जन्म देना भी वश-परपरा को श्रेष्ठ बनाने की इच्छा से ही प्रेरित रहता था। प्रतीत होता है कि हमारे प्राचीनो को कुल-क्रम की अविच्छिन्नता और तेजस्विता बनाये रखना ही अधिक इष्ट था, चाहे इससे विवाह की सकुचित परिधि का उल्लघन ही क्यो न होता हो।

कुछ उदाहरण देखिए। राक्षस सुमाली ने अपनी पुत्री कैकसी से कहा था—"बेटी, तुम स्वय जाकर महर्षि पुलस्त्य के पुत्र मुनिवर विश्रवा को अपना पति बनाओ। इससे तुम्हारे धनेश्वर कुबेर-जैसे तेजस्वी पुत्र होगे, जो राक्षस-जाति का सवर्धन करेंगे" (७।९।१२-३)। गधर्वी सोमदा ने, जिसका 'न कोई पति था और जो न किसीकी पत्नी' थी, चलि ऋषि को अपनी सेवा से प्रसन्न कर ब्राह्म तेज

से युक्त पुत्र-रत्न की याचना की थी (१।३३।१७)। कामातुर वायुदेव ने वानर-राज केसरी की पत्नी अजना का सतीत्व-भग करना चाहा, उस वानर-सुदरी का विरोध वायु के यह वचन देने पर शीघ्र ही शात हो गया कि तुम्हारे मेरे ही समान तेजस्वी, बुद्धिमान एव शीघ्रगामी पुत्र होगा (४।६६।१८-९)। वर्तमान भारतीय समाज के विपरीत, रामायणकालीन समाज विवाह की परिधि से बाहर उत्पन्न होनेवाली सतान को घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से नही देखता था, माताओ का पथभ्रष्ट होना पुत्रो की प्रगति में बाधक नही होता था। चूलि ऋषि के 'मानस' पुत्र ब्रह्मदत्त, अपनी माता के अज्ञात-कुल-शीला होने पर भी, महाराज कुशनाभ की कन्याओ का पाणिग्रहण करने के योग्य समझे गए। इद्र के साथ व्यभिचार करनेवाली अहल्या के पुत्र शतानद महाराज जनक के राज-पुरोहित बन गए।

मनोवाछित सतान पाने के लिए गर्भवती को आचार-विचार की आत्यतिक शुद्धि रखनी आवश्यक थी। कश्यप ने अपनी पत्नी दिति से कहा था कि यदि तुम नियत समय तक आचार की पवित्रता भग न करो तो तुम्हे इद्रजयी पुत्र की उपलब्धि हो सकती है।[1] असमय समागम का सतति पर कुप्रभाव पडता था। कैकसी ने विश्रवा से पुत्र की अभ्यर्थना सध्या के अशुभ समय मे की थी, अत उसकी सतान क्रूरकर्मा एव भयकर-दर्शन राक्षस बनी।[2]

पत्नी में गर्भ के लक्षण देखकर पति की प्रसन्नता का पारावार न रहता था। भावी पिता प्रसव-काल में पत्नी के प्रत्येक मनोरथ को परिपूर्ण करने की चेष्टा करता था। गर्भवती की इच्छाओ की परितुष्टि करना पति का पावन कर्तव्य था।

अल्प वय में ही किसी बालक का मेधावी बन जाना, प्राचीनो के अनुसार, इस बात पर निर्भर करता है कि गर्भावस्था में माता कैसी परिस्थिति और कैसे वातावरण मे रहती है। हमारे पुराण-साहित्य मे वैदिक विद्वानो की ऐसी गर्भवती पत्नियो के आख्यान वर्णित है, जो अपने पतियो के साथ वेदाध्ययन करती थी,

---

१. पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि। पुत्रं त्रैलोक्यहन्तारं मत्तस्त्वं जनयिष्यसि ॥१।४६।६

२. सुताभिलाषो मत्तस्ते मत्तमातंगगामिनी। दारुणायां तु वेलायां यस्मात्त्वं समुपस्थिता।...तस्मात्...प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः ॥ ७।९।२२-४

जिसके परिणामस्वरूप उनके पुत्र समय से पहले ही बौद्धिक प्रतिभा का परिचय देने लगते थे और शीघ्र ही अपने पिताओ की तरह सत और शास्त्रज्ञ बन जाते थे। उत्तरकाड में कथा आती है कि पुलस्त्य मुनि की पत्नी गर्भ-काल में उनका वेद-पाठ श्रवण करती रहती थी, इस कारण उसका पुत्र 'विश्रवा' कहलाया। विश्रवा भी छोटी आयु में ही वैदिक अध्ययन में निरत हो गए और शीघ्र ही अपने पिता की तरह धर्मपरायण, व्रत-रत, पवित्र और शीलवान बन गए (७।२।३१-३)।

एक सामान्य मान्यता यह प्रचलित थी कि नवजात शिशु और सद्य प्रसूता माता को हानि पहुचाने के लिए भूत-पिशाच ताक में रहते है। आचार मे लेश-मात्र स्खलन भी इन अशुभ बाह्य तत्वो को अपना दुष्प्रभाव डालकर गर्भ को नष्ट कर डालने का अवसर दे देता है। इसके लिए कुछ विशेष प्रकार के टोटको का प्रयोग प्रचलित था। कश्यप ने अपनी पत्नी को पुत्र-प्रसवा होने का वर देकर गर्भ-रक्षा के लिए जादू-टोना किया था। इच्छित सतान के जन्म में अवरोधक अशुभ तत्वो के निवारणार्थ उन्होने पत्नी का हाथ से परिमार्जन किया, फिर उसका आलिंगन किया और 'स्वस्ति' शब्द का उच्चारण करके मगल-कामना की।[1] इसी प्रकार सीता के गर्भ से लव-कुश के प्रसूत होने पर उनकी प्रेत-बाधा-निवृत्ति के लिए तुरत महर्षि वाल्मीकि को बुलाया गया। महर्षि ने कुशाओ का एक मूठा और उनके लव (नीचे के भाग) लेकर उनके द्वारा उन दोनो बालको की भूत-बाधा-निवारण करने के लिए रक्षा की व्यवस्था की (७।६६।५-६)।

गर्भपात या असमय प्रसव को 'गर्भ-परिस्रव' या 'गर्भ-स्कन्न' कहते थे। भ्रूण हत्या एक निंदित पाप थी। कठिन प्रसव की दशा में गर्भाशय की शल्य-क्रिया की जाती थी (५।२८।६)। राम-राज्य के वर्णन में वाल्मीकि ने कहा है कि उस समय स्त्रिया बिना किसी खतरे के सतान-प्रसव किया करती थी—अरोगप्रसवा नार्यः (७।४१।१९)। इससे तत्कालीन प्रसव-विज्ञान की प्रगति का आभास मिलता है।

सतान के व्यक्तित्व-निर्माण में माता का क्या योग होता है? एक लौकिक कहावत के अनुसार, पुत्र अपने पिता की तरह और कन्याए अपनी माता की तरह

---

१. एवमुक्त्वा महातेजा पाणिना सममार्ज ताम्। तामालम्भ्य तत स्वस्ति इत्युक्त्वा तपसे ययौ ॥१।४६।७

होती है—**पितृन्समनुजायन्ते नरा मातरमंगनाः** (२।३५।२८)। उदाहरण-स्वरूप सुमत्र ने कैकेयी का दृष्टात दिया, जिसने अपने दोनो वर मागने का स्वार्थ-पूर्ण दुराग्रह करके जाने-अनजाने अपनी माता का ही अनुकरण किया था।[1] एक और कहावत यह है कि मनुष्यो का चरित्र माता के ही अनुकरण पर निर्मित होता है, पिता के अनुकरण पर नही—**न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति** (२।१६।३४)। शारीरिक दृष्टि से भी प्रजनन मे माता ही प्रमुख योग देती है, पिता तो जीव के जन्म मे निमित्त-मात्र होता है।[2]

वाल्मीकि की दृष्टि मे गौ का अपने वत्स के प्रति जो ममत्व है, वही मातृ-स्नेह का सच्चा आदर्श है। इसीलिए वह मातृ-प्रेम की प्रगाढता दिखाने के लिए उसकी उपमा गौ के वत्स-प्रेम से देते है। उदाहरणार्थ, राम को वन जाते देखकर कौसल्या उनका अनुगमन करने के लिए उसी प्रकार उद्यत हो गईं, जिस प्रकार गौ अधीर होकर अपने बछडे के पीछे दौडी चली जाती है।[3] पुत्र से विरहित अपनी दशा की समता वह वत्स-विहीन गौ से करती है।[4] राम के लिए विलाप करती दशरथ के अंत पुर की रानिया वत्सो से बिछुडी हुई गौओ के समान थी (**विवत्सा इव धेनवः**, २।४१।७)। जब राम रथ मे बैठकर वन की ओर शीघ्रता से जाने लगे, तब धर्म के बधन में बधे होने के कारण वह रस्सी से बधे बछडे की भाति अपनी माता को न देख सके—

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातर यथा।
धर्मपाशेन संयुक्त प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥२।४०।४०

माताए अपने पुत्रो को सौतेले भाइयो से बढा-चढा बनने को उकसाती रहती थी। रावण के जोर-शोर-भरे जीवन की रूपरेखा उसकी महत्वाकाक्षिणी माता कैकसी

---

१. न हि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वच. । तव मातुरसद्ग्राहं विद्म पूर्वं यया श्रुतम् ॥२।३५।१७-८

२. बीजमात्र पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च। संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥२।१०८।११

३. अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः सुदुर्बला वत्समिवाभिकांक्षया । २।२०।५४; २।२४।९ भी देखिए ।

४. गताहमद्यैव परेतसंसदं विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ।२।२०।५३

न निर्धारित की थी। उसने रावण को अपने सौतेले भाई वैश्रवण से अधिक प्रतापी बनने की प्रेरणा दी थी। अपने जीवन के अंतिम क्षणो तक कैकसी रावण को सत्परामर्श देती रही। राम को सीता लौटाकर उनसे संधि कर लेने का भी उसने उपदेश दिया था (६।३४।२०-३)।

माता के प्रति पुत्रो के स्नेह और आदरपूर्ण भाव थे। पारिवारिक जीवन का वह केंद्र-बिंदु थी। माता को अनजाने में भी दु ख पहुचने पर पुत्र अपने को निकृष्ट मानने लगता था, जैसाकि वन में राम के अपनी असहाय माता के लिए किये गए विलापो से प्रकट है। राम के रूप में हमें उस आदर्श पुत्र के दर्शन होते है, जो अपनी सौतेली माताओ के प्रति सगी माता का-सा व्यवहार करता है। वन जाते समय उन्होंने सीता से कहा था कि तुम अयोध्या में ही रहकर मेरी सौतेली माताओ की समान भाव से सेवा करती रहना, क्योकि स्नेह, प्रेम और सेवा, इन सभी दृष्टियो से सब माताए मेरे लिए समान है—**स्नेहप्रणयसम्भोगै समा हि मम मातर** (२।२६।३२)।

रामायण में एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित किया गया है कि पति और पुत्र, इन दोनो में से कौन पतिव्रता नारी के स्नेह का अपेक्षाकृत अधिक अधिकारी है। यो तो इस प्रश्न के उत्तर-स्वरूप कैकेयी का उदाहरण मौजूद है, जिसने अपने पति को मर्मांतक कष्ट पहुचाकर भी अपने पुत्र के हितो को सर्वोपरि रखा। किंतु उसके आचरण की सर्वत्र कटु निंदा की गई है। अयोध्या के नागरिक उसे लोभ के कारण मूढ-बुद्धि मानते थे—ऐसा लोभ, जिसने उसे अपने पति से भी विमुख कर दिया—और उन्होने यह निश्चय कर लिया था कि कैकेयी के जीते-जी हम उसके राज्य में नही रहेंगे (२।३३।२१-६)। कौसल्या भी अपने प्रगाढ मातृ-स्नेह से प्रेरित हो दशरथ को छोडकर राम के साथ वन जाने को उद्यत हो गई थी। पर राम ने उन्हें रोकते हुए समझाया कि जब तक धर्मात्मा महाराज जीवित है और स्वधर्म में स्थित है, तुम किसी दीन विधवा की तरह मेरे साथ कैसे चल सकती हो।[1] सुमत्र ने पति का अमगल करनेवाली कैकेयी को खूब फटकारकर कहा था कि पत्नी के लिए पति की इच्छा करोडो पुत्रो से भी बढकर होनी चाहिए—**भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते** (२।३५।८)। विधवा तारा को अगद-जैसे सौ पुत्रो की अपेक्षा

---

१ **तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने। देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत् कथंस्विदन्या विधवेव नारी** ॥२।२१।६१

अपने मृत पति के अंगों का आलिंगन अधिक सुखकर मालूम देता था।[1]

पुरुष और स्त्री के दांपत्य संबंधों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उनको देखते हुए कुल-स्त्री के लिए वैधव्य से बढ़कर और कोई विपत्ति नहीं हो सकती थी (**भयानामपि सर्वेषां वैधव्य व्यसन महत्**, ७।२५।४३)। किंतु पति के शरीरांत पर पत्नी अपने जीवन का अंत नहीं कर लेती थी। पति की चिता पर विधवाओं के सती हो जाने की प्रथा का रामायण प्रायः समर्थन नहीं करती। दशरथ अथवा रावण की विधवा रानियों में से कोई भी अपने पति का सहगमन नहीं करती। हां, दशरथ की मृत्यु पर कौसल्या अपने विलापों में यह उद्गार अवश्य प्रकट करती है कि एक पतिव्रता के नाते मैं महाराज के शरीर का आलिंगन करके अग्नि में प्रवेश करूंगी—**इदं शरीरमालिंग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्** (२।६६।१२)। किंतु शीघ्र ही 'व्यावहारिक' अर्थात लोकाचार जाननेवाले व्यक्ति उन्हें वहां से हटा देते हैं (**व्यपनिन्यु**)। इससे यह स्पष्ट है कि सती-प्रथा गर्वथा अनहोनी बात न होते हुए भी समाज में सामान्यतया प्रचलित नहीं थी और न विवेकशील लोगों में उसे मान्यता ही प्राप्त थी। जब दशरथ ने कैकेयी से यह कहा कि मेरे मरने और राम के वन चले जाने के बाद तू विधवा होकर अपने पुत्र के साथ राज्य करना (**सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि**, २।१२।९३), तब स्पष्ट ही दशरथ ने कैकेयी के सती हो जाने की कल्पना नहीं की थी।

उत्तरकांड में सती होने की एक घटना का उल्लेख आता है। राजर्षि कुशध्वज को रात में सोते समय शंभु नामक दैत्य ने मार डाला था। इस पर कुशध्वज की पत्नी ने पति के शव का आलिंगन करके अपने को अग्नि में होम दिया था।[2] समस्त रामायण में सती-प्रथा का यही एक उदाहरण पाया जाता है। किंतु परवर्ती उत्तरकांड में पाये जाने के कारण कुछ विद्वान इस घटना की ऐतिहासिकता स्वीकार नहीं करते।[3] हो सकता है, उत्तरकांड के समय में सती-प्रथा का कुछ-कुछ

---

१. अगदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकशः शतम्। हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥४।२१।१३

२. ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम। परिष्वज्य महाभागा प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥७।१७।१४

३. अनंत सदाशिव अल्तेकर—'पोजीशन आफ वीमेन इन हिंदू सिविलिजेशन', पृ० १४२

प्रचार हो गया।

मौलिक रामायण में भी विधवाओ द्वारा पति-शोक मे प्राण त्याग देने के कई उद्‌गार पाये जाते है, पर ऐसी कोई वास्तविक घटना नही घटित हुई है। वाली की मृत्यु पर तारा अन्न-जल छोडकर प्राण-त्याग करने का निश्चय करती है[१] और सीता भी राम की कथित मृत्यु पर पति का अनुगमन करने का सकल्प करती है।[२] इस प्रकार की उक्तिया पति-शोक की प्रारभिक तीव्रता-मात्र सूचित करती है, प्राण-त्याग का कोई दृढ निश्चय नही।

आर्यो मे विवाह-सबध की अविच्छेद्यता के कारण विधवा स्त्री के पुनर्विवाह का प्रश्न ही नही खडा होता था। अरण्यकाड में जब सीता के बार-बार आग्रह करने पर लक्ष्मण राम की सहायतार्थ जाने को तैयार नही हुए, तब सीता ने लक्ष्मण से कहा कि तुम चाहते हो कि राम मर जाय, जिससे तुम मुझे पा सको—**इच्छसित्व मिनश्यन्त राम लक्ष्मण मत्कृते** (३।४५।६)। जर्मन विद्वान श्री जे० जे० मेयर[३] ने सीता की उक्ति से यह सकेत ग्रहण किया है कि आर्यो में विधवाए अपने देवर का वरण कर लेती होगी, अन्यथा राम की मृत्यु के बाद लक्ष्मण द्वारा ग्रहण किये जाने की आशका सीता के मन में क्यो आती? इस अनुमान का रामायण मे अन्यत्र कही समर्थन नही हुआ है। उक्त शका सीता ने अत्यत आवेश में आकर की है और उसे स्त्रियोचित अनर्गल उक्ति से अधिक महत्व देना ठीक नही। लका-युद्ध मे सीता ने राम को दो बार मरा हुआ मानकर विलाप किया है, किंतु देवर द्वारा ग्रहण किये जाने की कोई सभावना व्यक्त नही की है।

रामायण मे आर्य-विधवाओ को सर्वत्र एकाकी विरहपूर्ण जीवन ही व्यतीत करते हुए चित्रित किया गया है। सच पूछिए तो वाल्मीकि जहा कही किसी वस्तु के असमय मे नष्ट या क्षीण होने की बात कहना चाहते है, वहा उसकी तुलना विधवा नारी से करते है।[४]

---

१ व्यवस्यत प्रायमनिन्द्यवर्णा उपोपवेष्टु भुवि यत्र वाली।४।२०।२६

२ रावणानुगमिष्यामि गतिं भर्तुर्महात्मन।६।३२।३२

३ 'सेन्सचुअल लाइफ इन एन्श्यट इडिया', भाग २, पृ० ४३६, पाद-टिप्पणी १

४ शोपमेष्यति दुर्धर्षा प्रमदा विधवा यथा। ५।२६।२५, भविष्यति पुरी लका नष्टभर्त्रीं यथागना।५।२६।२६

वानरो में विधवा के पुनर्विवाह अथवा किसी संबधी से यौन सबंध स्थापित कर लेने की प्रथा प्रचलित थी। वाली की मृत्यु पर तारा अपने वैधव्य पर विलाप करती है, पर उसकी दाह-क्रिया समाप्त होते ही सुग्रीव विधवा तारा को अपनी प्रियतमा बना लेता है। तारा भी अपने पति के हत्यारे के प्रति अनुरक्त जान पडती है और उसके हितार्थ लक्ष्मण के क्रोध को शात करने का बीडा भी उठाती है। हां, तारा का पुत्र अंगद अवश्य ही इस नवीन सबध से प्रसन्न नहीं है, पर इसका दोष वह अपने चाचा (सुग्रीव) पर ही मढता है। विजित (वाली) की पत्नी का इस प्रकार विजेता (सुग्रीव) को युद्ध की लूट के रूप में मिल जाना वानरो की एक असस्कृत रूढि का परिचायक माना जा सकता है।

सुग्रीव के सरक्षण में चले जाने पर तारा का अपने पुत्र अंगद पर कोई अधिकार नही रह गया, उसे सुग्रीव के ही अधीन रहना पडा। जैसाकि तारा ने स्वयं कहा—"मेरा न अपने पति के राज्य पर अधिकार है और न पुत्र अंगद पर ही। अब तो ये दोनो सुग्रीव के वश मे है" (४।२१।१४)। इससे यह प्रकट होता है कि वानरो मे विधवा का अपने पति की संपत्ति या संतान पर अधिकार नही होता था। इसके अतिरिक्त, विधवा से विवाह करने का अधिकार बडे भाई को प्राप्त नही था। बडे भाई का छोटे भाई की पत्नी से अनुचित संबध रखना दंडनीय होता था। इसी अपराध के कारण वाली राम के हाथो मारा गया।

अनैतिकता के पुजारी राक्षसो में विधवाए प्राय अन्य पुरुष से संबंध स्थापित कर लेती थी, चाहे वह विधिपूर्वक विवाह द्वारा हो अथवा अवैध ससर्ग द्वारा। रावण की बहन और विद्युज्जिह्व की विधवा शूर्पणखा ने कामासक्त हो राम से विवाह का प्रस्ताव किया था। स्वयं रावण ने अपने विरोधियो को मारकर उनकी सुदरी विधवाओ को अपने अत पुर में इकट्ठा कर रखा था।[1]

प्राचीन भारत की आर्य-विधवाए जहा पुनर्विवाह से वचित होकर अपने समस्त जीवन को वैधव्य की ज्वाला में क्षीण करती रहती थी, वहा अन्य दृष्टियों से वे परिवार में स्नेह और समान की पात्र होती थी। पुत्रवती विधवा के लिए पति के प्रयाण के बाद भी ससार मे बने रहने का प्रलोभन विद्यमान रहता था—

---

१. यास्त्वया विधवा राजन्कृता नैका कुलस्त्रियः। ६।१११।६४; ७।२।४; ७।२४।८; ७।२४।१९ इत्यादि भी देखिए।

अपनी सतान के लालन-पालन के लिए वह स्वय भी जीवित रहने को इच्छुक होती थी।[1] माता और सतान के बीच मधुर स्नेह-सबधो के रहते कुटुब में विधवा के साथ आदरपूर्वक व्यवहार किया जाता था। दशरथ की विधवा रानिया समानपूर्ण जीवन व्यतीत करती थी। पुत्र और पुत्रवधुए उनका यथोचित स्नेह-सत्कार करते थे। राजमहलो में वे सुखपूर्वक अपनी आयु के शेष दिन व्यतीत करती और दान-पुण्य में सलग्न रहती थी।

मागलिक अवसरो पर विधवाओ की उपस्थिति अशुभ नही मानी जाती थी। राम के वन से लौटने पर उनका जिन लोगो ने स्वागत किया, उनमें उनकी विधवा माताए भी थी। राम, सुग्रीव तथा अन्य वानर-वीरो ने उनका सादर अभिवादन किया था। राज्याभिषेक के लिए सीता का शृगार उनकी विधवा सासो ने किया था।[2] उत्तरकाड में भी उत्सवादि में विधवाओ के अमागलिक माने जाने का कोई सकेत नही मिलता। जब शत्रुघ्न मधुपुरी के राजा के रूप में प्रतिष्ठित किये गए तब राजभवन में सारे मागलिक और अनिष्टनाशक कृत्यो का सपादन कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी ने ही किया था (७।६३।१७)। पुत्र-पौत्रो से युक्त एव धन-धान्य से समृद्ध होकर तथा पर्याप्त लौकिक समान और पारलौकिक पुण्य का अर्जन करने के बाद दशरथ की रानियो का स्वर्गवास हुआ। अपनी दिवगत माताओ के कल्याण के निमित्त राम समय-समय पर तपस्वियो और ब्राह्मणो को प्रचुर दान देते रहते थे—

तासां रामो महादान काले काले प्रयच्छति।
मातृणामविशेषेण ब्राह्मणेषु तपस्विषु ॥ ७।९९।१७

प्रतीत होता है कि रामायण-काल में स्त्रियो को पुरुष-समाज से पृथक रखने का रिवाज स्थिर हो चुका था। जब सीता अयोध्या के राज-मार्ग से अपने पति के साथ वन को प्रस्थान करती है, तब कवि खेदपूर्वक कह उठता है—

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीता पश्यन्ति राजमार्गगता जना ॥ २।३३।८

अर्थात जिनको पहले आकाश में विचरण करनेवाले प्राणी भी नही देख पाते थे,

---

१. ६।४८।२१; ४।२१।४; ४।२१।११
२. प्रतिकर्म च सीताया सर्वा दशरथस्त्रिय चक्रुः। ६।१२८।१७

उन्ही सीता को आज सडको पर खडे लोग देख रहे है। इससे यह सूचित होता है कि राज-परिवार की महिलाए महलो से बाहर प्राय नही निकलती थी और सामान्य लोगो की दृष्टि से बची रहती थी। विशेष परिस्थितियो में यह मर्यादा तोडी भी जा सकती थी। युद्धकाड में कहा गया है कि विपत्ति-काल मे तथा युद्धो, स्वयवरो, यज्ञो और विवाहो में स्त्रियो को देखना दोषावह नही है।[1] वस्तुत. रामायण में ऐसे ही अवसरो पर स्त्रियो का जन-समूह मे आना वर्णित हुआ है।

इन अवसरो पर भी जब उन्हे महलो से बाहर आना पडता, तब वे पर्दे का प्रयोग नही करती थी। जब भरत अपनी विशाल सेना और अयोध्या के नागरिको के साथ राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट जाने लगे, तब कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी भी **ययुर्यानेन भास्वता,** एक चमकदार रथ पर सवार होकर उनके साथ गई थी (२।८३।६)। इस स्थल पर उनके द्वारा पर्दा करने या घूघट निकालने का कोई उल्लेख नही है। सीता भी वन-गमन के समय साधारण प्राणियो की दृष्टि अपने ऊपर पडने पर घूघट से अपना मुह नही ढक लेती।

घर के भीतर भी युवतिया अपने ज्येष्ठ संबंधियो के सामने पर्दा नही करती थी। ऐसा कोई संकेत नही मिलता कि श्वसुर अपनी पुत्रवधू का मुख नही देख सकता था अथवा पुत्र अपनी पत्नी के साथ माता-पिता के दर्शन करने नही जा सकता था, जैसाकि आजकल भारत के कुछ प्रदेशो में प्रचलित है। वन जाने से पहले राम सपत्नीक अपने पिता से विदा लेने गए थे। संभाषण की जैसी स्वतंत्रता और पारस्परिक सबधो की जैसी सरलता और स्पष्टता इक्ष्वाकु-परिवार के स्त्री-पुरुषो में थी, वैसी किसी पर्दाग्रस्त परिवार में शायद ही सभव हो।

वानरो मे भी पर्दे के प्रचलन का कोई प्रमाण नही मिलता। जब लक्ष्मण सुग्रीव को फटकारने के लिए उनके राजमहल मे पहुचे, तब तारा ने पर्दा किये बिना उनके सामने आकर अपने स्वामी के पक्ष का बडी योग्यता से समर्थन किया था। किंतु पर्दे का प्रचार न होने पर भी वानरो मे स्त्रियो को पृथक रखा जाता था और वे सबके सामने प्राय नही आती थी। किष्किधा का राजकीय अंत पुर स्त्रियो के लिए एक पृथक और सुरक्षित निवास-स्थान था, जिसमे जब जो चाहे प्रवेश नही कर

---

१. व्यसनेषु च कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियाः ॥६।११४।२८

सकता था। अपनी स्त्रियो के वीच बैठे हुए सुग्रीव ने जव अपने अनुचरो को आने का आदेश दिया, तव वे ही सेवक भीतर जा सके, **ये स्यु स्त्रीदर्शनक्षमाः**, जिन्हें स्त्रियों के सामने आने की अनुमति प्राप्त थी (४।३८।८)।

राक्षसो में अवगुठन या पर्दे की प्रथा निस्सदेह प्रचलित थी। इसकी पुष्टि रावण की रानी मदोदरी के कथन से होती है। रावण की मृत्यु के पश्चात मदोदरी अपनी अन्य सपत्नियो के साथ युद्ध-स्थल पर आकर इस प्रकार विलाप करने लगी—"देखिए, नाथ, मै पर्दा छोडकर नगर-द्वार से पैदल ही चलकर आपके पास आई हू। मुझे देखकर आप क्रुद्ध क्यो नही होते? आपकी अन्य प्रिय भार्याए भी घूघट हटाकर यहा आई हुई है। इन्हें इस तरह नगर से वाहर आया हुआ देखकर आप अप्रसन्न क्यों नही होते?" (६।१११।६१-३)।

इससे यह स्पष्ट है कि राक्षस-समाज में पुरुष अपनी स्त्रियो से पर्दे के व्यवहार की अपेक्षा करते थे और उनके ऐसा न करने पर क्रुद्ध होते थे। मदोदरी के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि उच्च वर्ग की राक्षस महिलाए साधारण स्त्रियो की भाति पैदल चलकर रनवास से वाहर प्राय नही निकलती थी। इसी कारण विभीषण ने, अपने समाज मे प्रचलित पर्दा-प्रथा के अनुसार, लंका-विजय के वाद वैदेही को राम के समुख पहुचाने मे उपयुक्त सावधानी और शिष्टाचार का पालन किया था। उन्होने पहले परिचारिकाओ द्वारा सीता के पास अपने आने की सूचना भिजवाई और तत्पश्चात वह स्वय उपस्थित हुए। यह उल्लेखनीय है कि सीता ने विभीषण से कोई पर्दा नही किया और मुक्त भाव से उनसे वाते की। विभीषण सीता को एक सुदर पालकी में बैठाकर राम के पास ले आये। पालकी ढोने में समर्थ राक्षस और वहुत-से निशाचर सीता की रक्षार्थ उन्हें चारो ओर से घेरकर चल रहे थे। जव सीता की पालकी राम के निकट पहुची, तव उस स्थल को निर्जन वनाने के लिए विभीषण वहा खडे हुए लोगो को दूर हटाने लगे। पगडी वाधे और अंगा पहने हुए वहुत-से सिपाही हाथ में छडी लेकर सवको हटाते हुए चारो ओर घूमने लगे। ऋक्षो, वानरो, और राक्षसो के समुदाय हटाये जाने पर दूर जाकर खडे हो गए (६।११४।८-२३)। यह कार्य राक्षसो के रिवाज के अनुसार था, क्योकि उनमें स्त्रियो को पर्दे में रखा जाता था, जिससे सर्वसाधारण की दृष्टि उन पर न पडे।

परतु राम एक समाज-सुधारक थे। उन्होने इस वात को लक्ष्य किया कि जिन लोगो को हटाया जाता था, उन्हे वडा उद्वेग होता था। अपनी सहज उदारता के

कारण उन्होंने हटानेवालो को रोषपूर्वक रोका और विभीषण से कहा—"तुम किसलिए इन सब लोगो को तग कर रहे हो ? रोक दो इस उद्वेगजनक कार्य को। यहा जितने लोग है, सब मेरे स्वजन ही तो है। स्त्रियो के लिए न घर, न वस्त्र, न दीवारें और न राज-सत्कार ही वैसी आड करनेवाला है, जैसाकि उनका अपना सदाचरण। विपत्ति में, कष्ट मे, स्वयवर में, यज्ञ मे और विवाह में स्त्रियो को देखने में कोई पाप नही लगता। सीता विपत्ति में है और विशेष कर मेरे निकट उन्हें देखने में कोई दोष नही है। वह पालकी से उतरकर पैदल ही मेरे पास आयं और ये सभी वानर उनके दर्शन करें" (६।११४।२४-३०)।

राम के उपर्युक्त कथन से चार प्रकार के निष्कर्ष निकलते है—(१) अपरिचितो के सामने स्त्री का घूघट निकालना उनके प्रति सदेह का द्योतक है, (२) अपने पति के निकट-परिचितो के समक्ष पत्नी पर्दे का त्याग कर सकती है, (३) पति की उपस्थिति मे पत्नी को देखा जा सकता है तथा (४) विशेष परिस्थितियो में स्त्रियो के उन्मुक्त विचरण पर पर्दे का ब धन नही लगना चाहिए।

पर्दा-प्रथा का मुख्य उद्देश्य प्राकृत मनुष्यो के 'दुष्ट चक्षुओ' से शिष्ट महिलाओ की रक्षा करना माना जाता है। किंतु राम ने स्त्री के चरित्र-बल को ही उसका सच्चा रक्षक बताकर पर्दे की निस्सारता और अनावश्यकता सिद्ध की। अयोध्या के नागरिक अपनी पत्नियो की ओर से सर्वथा निश्चित होकर राम के साथ वन जाने को तैयार हो गए थे, क्योकि उनकी मान्यता थी कि हमारी स्त्रिया अपने चरित्र-बल से पूर्णतया सुरक्षित रहेगी—**दाराश्चारित्ररक्षिताः** (२।४५।२५)। इससे भी यह ध्वनि निकलती है कि वे पर्दे को स्त्रियो की रक्षा करने में अनुपयुक्त और अनावश्यक समझते थे। इस कथन की सत्यता सीता के उदाहरण से स्वत प्रकट है, जो शत्रु-गृह मे भी अपने पातिव्रत्य-तेज के प्रभाव से निष्कलक बनी रही (**रक्षितां स्वेन तेजसा**,३।३७।१४)।

भारतीय सभ्यता के इतिहास मे रामायण ही सभवत पहली रचना है, जिसमें वेश्याओ के वर्ग को राजकीय स्वीकृति मिली है, और उनका राज-काज में उपयोग किया गया है। रोमपाद के राज्य में अकाल पडने पर उनके मत्रियो ने यह हल सुझाया कि विभाडक-सुत ऋष्यश्रृग को लुभाकर राज्य मे बुलाया जाय। ऋष्यश्रृग स्त्री-ससर्ग-जन्य सुख से अनभिज्ञ एक सरलचित्त ऋषिकुमार थे। अत यह सोचा गया कि उन्हे ऐसे पदार्थो से लुभाया जाय, जो उनकी इद्रियो को उत्तेजित कर सकें। रोमपाद के पुरोहित ने यह सुझाव दिया कि सुदर वेश्याओ को वस्त्राभूषणो से

अलकृत कर ऋषिकुमार को प्रलोभित करने के लिए भेजा जाय। वेश्याओ के चुनाव और उन्हे भेजने का काम मत्रियो के ही सुपुर्द था (१।१०)। इससे ज्ञात होता है कि मत्रिगण वेश्याओ से सुपरिचित थे और ये राजकीय मामलो से अधिकृत रूप से सबद्ध रहती थी।

वेश्याओ और नर्तकियो की उपस्थिति राजकीय शिष्टाचार के निर्वाह के लिए आवश्यक थी। शान-शौकत के प्रति भारतीयो की नैसर्गिक अभिरुचि भी उनके उपयोग को प्रोत्साहित करती थी। ये वेश्याएं साधारण वारवनिताओ से भिन्न थी। सभी राजकीय समारोहो में इनकी सेवाए स्वीकार की जाती थी। राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी कराते समय वसिष्ठ ने यह आदेश दिया था कि अलकृत वेश्याए राजमहल की दूसरी कक्ष्या में मौजूद रहे।[1] वेश्याए निश्चय ही अशुभ नही मानी जाती थी, तभी तो राम के वनवास से लौटने पर भरत ने उनका स्वागत करने के लिए गणिकाओ का समूह तैयार रखा था।[2] ये स्त्रिया किसी भी सैनिक अभियान का अनिवार्य अग हुआ करती थी, शाही फौजें इन्हें अपने साथ रखती थी। दशरथ ने सुमत्र को यह आज्ञा दी थी कि राम के साथ वन में एक चतुरगिणी सेना भेजने की व्यवस्था की जाय, जिसमें मधुरभाषिणी वेश्याएं भी हो।[3] इस प्रकार वेश्याए राजाओ की छत्रछाया में रहती थी, और राजकीय मनोरजन का एक साधन मानी जाती थी।

सैन्य-व्यवस्था का ही नही, नागरिक जीवन का भी वेश्याए एक अभिन्न अग थी। अयोध्या नगरी **गणिकावरशोभिता** थी (२।५१।२१)। सामान्य वेश्याए **रूपाजीवा**, रूप से आजीविका चलानेवाली कहलाती थी (२।३६।३)। यद्यपि रामायण में यह नही बताया गया है कि वे अपना पेशा किस तरह करती थी, तथापि ऋष्यशृग पर अपना जादू चलाने के लिए उन्होने जिन उपायो का आश्रय लिया, उनसे उनकी गति-विधि का पर्याप्त आभास मिल सकता है (१।१०)।

---

१. सर्वे च तालापचरा गणिकाश्च स्वलकृता। कक्ष्यां द्वितीयमासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मन ॥२।३।१८; २।१४।३९ भी देखिए।

२ गणिकाश्चैव सर्वशः। अभिनिर्यान्तु रामस्य द्रष्टु शशिनिभं मुखम् ॥ ६।१२७।५

३ रूपाजीवाश्च वादिन्यो.. शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनी. सुप्रसारिताः ।२।३६।३

: ११ :

नारी—समाज में

पिछले अध्याय में रामायण-काल में नारी की स्थिति का विशेष कर घर की दृष्टि से मूल्याकन किया गया था। इस अध्याय में नारी की सामाजिक स्थिति का अवलोकन करके उसके प्रति आर्यों के सामान्य दृष्टिकोण का विवेचन किया गया है, जिससे पाठको के समक्ष तत्कालीन नारी-समाज की समग्र परिस्थिति का एक सर्वांगी चित्र प्रस्तुत हो सके।

सिद्धातत नारी को अपने-आपकी रक्षा करने मे असमर्थ माना जाता था, अत वह पति, पुत्र या बधु-बाधवो के ही अधीन रहने के योग्य थी।[1] किंतु व्यवहार में इसका अर्थ यह नही था कि वह सदा घर की चहारदीवारी में ही कैद रहती थी। जीवन कही नीरस न बन जाय, अतएव वह सामूहिक भोजो, धार्मिक समारोहो, प्रदर्शनो और क्रीडा-विनोद मे मुक्त भाव से समिलित होती थी। सामूहिक अवसरो पर वह अपने समस्त अलकरणो मे पूरी सजधज के साथ उपस्थित होकर वातावरण में उल्लास और चमक-दमक का सचार कर देती थी। सार्वजनिक उत्सवो मे—जबकि राजधानी एक अलकृत रमणी के-से सुदर वेश में सज्जित होती थी, कही मद और कही उच्च स्वर में सगीत-ध्वनि सुनाई पडती थी तथा सूत और मागधगण जन-सकुल मार्गों को और भी कोलाहलमय बना देते थे—नर्तकिया और सुदर नारिया अवसर की चित्र-विचित्रता में अभिवृद्धि करने के लिए मौजूद रहती थी।

राम के यौवराज्याभिषेक के दिन अयोध्या के नर-नारी और बालक उत्कठित होकर राजमार्गों पर खडे थे—उन्हे सूर्योदय की इतनी आकाक्षा नही थी, जितनी उस महोत्सव के आरभ होने की।[2] राम का राजप्रासाद उनका अभिनदन करने के लिए

---

१. गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः। तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥२।६१।२४

२ ततो ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः। रामाभिषेकमाकांक्षन्नाकांक्षन्नुदयं रवेः ॥२।५।९

आये हर्ष-मग्न नर-नारियो से परिपूर्ण था (हृष्टनारीनरयुतम्)। सारा नगर मानो अपने प्रिय युवराज की जयजयकार करने उमड पडा, और इसमें स्त्रियो ने भी उल्लेखनीय योग दिया था। जिस समय राम रथ पर विराजमान होकर पताकाओ से सुसज्जित एव सुगधित द्रव्यो से सुवासित राजमार्ग के बीच से जा रहे थे, तब महलो की अटारियो और झरोखो में बैठी वस्त्राभूषणो से विभूषित वनिताए सब ओर से उन पर फूलो की वर्षा कर रही थी। मार्गों पर भी स्त्रिया बडी सख्या में खडी थी और ये तथा महलो पर स्थित नारिया दोनो राम की तथा उनकी माता और पत्नी की प्रशस्तिया गा रही थी (२।१६।३७-४१)।

राम के वनवास से लौटने पर उनका जो अभूतपूर्व स्वागत किया गया, उसमें स्त्रियो का योग और भी अधिक दर्शनीय था। सारी अयोध्या नगरी उनके स्वागतार्थ नदिग्राम को उमड चली। सैनिक और उनकी पत्निया, सूत और मागध, वारवनिताए, राजकुल की नारिया, सभी उनके सत्कारार्थ चल पडे। कौसल्या और सुमित्रा को आगे करके दशरथ की सब पत्निया सवारियो पर बैठकर चली। नदिग्राम से अयोध्या तक के सारे राजमार्ग की सजावट की गई। राम के आगमन पर सब पुरवासियो की हर्ष-ध्वनि से आकाश गूज उठा। दशरथ की रानियो ने सीता और वानर-स्त्रियो का अपने हाथो से शृगार किया। श्रेष्ठ आभूषणो से विभूषित तथा शुभ कुडलो से अलकृत वे अन्य रथो में चढकर राम के रथ के पीछे-पीछे नगर की शोभा देखते-देखते चलने लगी। राम के आगे कन्याएं चल रही थी। प्रसन्नमन ब्राह्मण-कुमारिकाए स्थान-स्थान पर उन्हे फल अर्पित करके प्रदक्षिणा कर रही थी।[1] उनके अभिषेचन में भी कन्याओ ने भाग लिया था (६।१२७-८)।

इनके अतिरिक्त, राजागण बडे-बडे यज्ञ-समारोह किया करते थे, जिनमें सभी तरह के अभ्यागत आते और आनद मनाते थे। महिलाए भी इन समारोहो में बडी सख्या में भाग लेती और पुरुषो की ही तरह विभिन्न भोज्य-पदार्थों का आस्वादन करती थी। महाराज दशरथ के यज्ञ-समारोह में भिन्न-भिन्न देशो से आये स्त्री-पुरुषो को अन्न-पान से परितृप्त किया गया था (१।१४।१६,१३)। गोमती-तट पर होनेवाले राम के अश्वमेध-यज्ञ में देश-देशातर से द्विजगणो को सपत्नीक आमत्रित किया

---

१ तुलना कीजिए—कदा सुमनस. कन्या द्विजातीनां फलानि च। प्रदिशन्तः पुरीं हृष्टा करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥२।४३।१५

गया था। ऋषियो को भी उनकी पत्नियो-सहित बुलवाया गया था। नट-नर्तको और अन्य लोगो के साथ यौवनशाली नारिया, राजमाताए तथा राजकुमारो के अत पुर की स्त्रिया भी नैमिषारण्य में सपन्न होनेवाले उस अविस्मरणीय यज्ञ में भाग लेने गई थी। वहा अनेक स्त्रियो के साथ विभीषण ने महर्षियो का आतिथ्य किया था (७।९१)।

अन्य दृष्टियो से भी नारी-वर्ग ससार और उसके विविध अनुभवो से अलग-थलग नही रहता था, पुरुष-वर्ग के साथ ही वह सभी प्रवृत्तियो में भाग लेता था। सेना के अनुगामी दलो में स्त्रिया भी संमिलित रहती थी। चेटिया अथवा दासिया, वेश्याए (**रूपाजीवाः**), सैनिको की स्त्रिया (**वध्वः**) तथा सस्त्रीक नट लोग सैनिको के मनोरंजन के लिए फौज के साथ रहते थे। सैन्य-शिविर में कैसा उन्मुक्त खान-पान और आमोद-प्रमोद चलता था, तथा उनमे स्त्रिया भी कैसे निर्द्वंद्व भाव से बह जाती थी, इसका विशद परिचय भरद्वाज-आश्रम मे भरत की सेना के पडाव के वर्णन से प्राप्त होता है (२।९१)।

पुरुषगण यात्रा और विहार मे या मित्रो-सबधियो के यहा जाते समय अपनी स्त्रियो को अवश्य साथ रखते थे। पति को प्रभावित करनेवाली समस्याओ मे पत्नी को भुला नही दिया जाता था। पर्वतो, घाटियो, वनो-उपवनो आदि मे पति के विहार करते समय पत्नी उसकी 'क्रीडा-सहाय' बनती थी। नर्मदा की कल-कल ध्वनि से निनादित विंध्य पर्वत की रमणीय उपत्यकाओ में रावण ने सभी प्रकार के लौकिक-अलौकिक प्राणियो को अपनी प्रेमिकाओ के साथ क्रीडा-विनोद में मग्न देखा था (७।३१।१५-७)।

स्त्रियो को अकेले या अपनी सखियो के साहचर्य मे आमोद-प्रमोद करने के साधन और अवसर प्राप्त थे। प्रकाश और वायु, प्रकृति के इन दो वरदानो से वे निश्चय ही वचित नही रखी जाती थी। सुमत्र को तो वैदेही प्रवास के लिए ही बनी जान पडती थी—**उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे** (२।६०।८)।

उत्तरकाड के अनुसार, स्त्रियो को पुरुषो की ही तरह न्यायालय में जाकर धर्मासन पर आसीन राजा के समक्ष शिकायत पेश करने का अधिकार प्राप्त था (७।५३।५)।

सारी रामायण में ऐसा सकेत कही नही मिलता कि आश्रमो में सीता-जैसी युवती स्त्री की उपस्थिति आश्रमवासियो के लिए या स्वय राम और सीता के लिए संकोच-

जनक मानी गई हो। जिन-जिन आश्रमो में राम और सीता गए, सर्वत्र उनका परिचितो की तरह आदरपूर्वक स्वागत किया गया। जब राम महर्षि भरद्वाज के आश्रम में पहुचे, तब उन्होने मुनिवर से अपनी पत्नी का यह कहकर परिचय कराया कि यह विदेहराज की पुत्री और मेरी कल्याणमयी पत्नी सीता है, जो निर्जन तपोवन में भी मेरा साथ देने के लिए आई है। शिष्यो और मुनियो के समूह में बैठे हुए महर्षि ने सीता-सहित राम का आतिथ्य किया और अपने ही आश्रम में निवास करने का आग्रह किया (२।५४)। कही भी सीता को अनावश्यक लाज-सकोच नही हुआ और न कही उनकी स्वाभाविक विशेषताओ ने उनका साथ छोडा। ऋषि शरभग के आश्रम में सीता ने पति के साथ उनकी यज्ञशाला में जाकर उन्हे प्रणाम किया और उनका आतिथ्य ग्रहण किया। अगस्त्य मुनि के आश्रम में पहुचने पर लक्ष्मण ने उनके पास यह सूचना भिजवाई कि महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र महाबली राम अपनी पत्नी सीता के साथ आपके दर्शन करने आये है। अगस्त्य ने स्वय अपने शिष्यो-सहित बाहर आकर सीता का स्वागत किया और कहा कि यह परम प्रशसनीय और पतिव्रताओ में अरुधती के समान अग्रगण्य है। आज से इस देश की शोभा बढ गई, जहा सीता के साथ राम और लक्ष्मण निवास करेंगे—

अलकृतोऽय देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह ।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिन्दम ॥३।१८।८

इन आश्रमो के प्राकृतिक वातावरण में निवास करने से सीता के सबल स्त्री-पक्ष का भी विकास हुआ। चित्रकूट में रहते समय सीता भी राम के साथ प्रकृति-पर्यवेक्षण, वन-पर्यटन और नदी-विहार के लिए जाया करती थी (२।९४-६)। अयोध्या के दरबारी शिष्टाचार ने यदि उनके मन में भीरुता या कोमलता उत्पन्न कर दी हो तो वह एक वर्ष के वनवास से ही दूर हो चुकी थी। चित्रकूट में राम ने राक्षसो को कुपित कर दिया था और इनके आतक से वहा के निवासी अन्यत्र चले गए थे। ऐसे स्थान में एक युवती स्त्री का वास करना बडे साहस की बात थी (२।११६)। बारह वर्ष के वनवास के बाद सीता एक कोमलागी और असहाय पत्नी न होकर एक वीर और साहसी रमणी बन चुकी थी। पचवटी में वह, राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में, अपने श्वसुर के मित्र जटायु के सरक्षण में रहती थी। रावण के हाथो उनके घायल

हो जाने पर सीता ने उनका आलिंगन करके विलाप किया था।[1] अपरिचितो के समक्ष उन्हे कोई झिझक नही रही। भिक्षु-वेशधारी रावण का उन्होने अकेले ही निस्सकोच अतिथि-सत्कार किया था। उसके अनुचित और अश्लील सकेतो से हतप्रभ न होकर उन्होने सत्कारक की मर्यादा का पालन करते हुए उससे सहज वार्तालाप भी किया (३।४६-७)। जान पडता है, सीता ने सबल मन के साथ सबल शरीर भी बना लिया था। तभी तो दुर्धर्ष रावण को भी उन्हे बलपूर्वक ले जाने में और अपने पजे से निकलकर न भागने देने में पर्याप्त शारीरिक बल का प्रयोग करना पडा था।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उच्च वर्ग, विशेष कर क्षत्रिय वर्ग की महिलाओ को (जिनकी स्थिति का रामायण में मुख्य रूप से विवेचन है) इतनी स्वतत्रता मिली हुई थी, जितनी पश्चिम के समुन्नत सामंती युग की नारियो को भी शायद प्राप्त न रही हो।

इस प्रसग में अत पुर के अस्तित्व और उसके दुष्परिणामो को भी आखो से ओझल नही किया जा सकता। बहु-विवाह-प्रथा की व्यापकता के कारण अंत पुर उस युग की सपन्न गृह-व्यवस्था के अग बन चुके थे। इन अत पुरो में बीसियो स्त्रिया एक ही पुरुष के साथ विवाह-बधन से जकडी रहती थी। यह परिस्थिति उनकी स्वतत्रता को बहुत सीमित कर देती थी। अत पुर या रनवास महल की सबसे भीतरी ड्योढी होता था और उसकी रक्षा मे स्त्री-द्वारपाल (प्रतीहारी), कुबडी और नाटी स्त्रिया तथा हिजडे (वर्षवर) तत्पर रहते थे। इन सबके ऊपर वयोवृद्ध 'स्त्र्यध्यक्षो' का निरीक्षण रहता था, जिनको सुमत्र ने गेरुआ वस्त्र पहने और हाथ में छडी लिये हुए राम के अत पुर के दरवाजे पर सावधानी से बैठे देखा था।[3] किंतु अत पुर को इस प्रकार सुरक्षित रखने की प्रथा का धनी एव अभिजात

१. आलिंग्य गृध्र निहतं रावणेन बलीयसा। विललाप सुदु.खार्ता सीता शशिनिभानना ॥३।५२।१

२ जहार पापस्तरुणीं विचेष्टतीं नृपात्मजामागतगात्रवेपथुः ।३।५३।२६; तामकामां स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव। विचेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः ॥३।४९।२२; ३।५२।६-९ भी देखिए।

३. अत्र काषायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन् स्वलंकृतान्। ददर्श विष्ठितान् द्वारि स्त्र्यध्यक्षान् सुसमाहितान् ॥२।१६।३

वर्गों में सामान्यत प्रचलन था, सामाजिक प्रतिष्ठा, समान एव कुलीनत्व की सूचक होने के साथ-साथ वह शत्रु-पक्ष के कुचक्रियो और अनधिकृत लोगो का प्रवेश रोकने के लिए भी आवश्यक मानी जाती थी। बहुविवाह की प्रथा भी तत्कालीन समाज-व्यवस्था में सर्वथा अनिंदित थी। सुरक्षित और पृथक ड्योढी में स्थित होने पर भी रनवास में महिलाओ के लिए सुविधा के समस्त उपकरण प्रस्तुत रहते थे। उद्यानो और क्रीडा के विविध साधनो से युक्त अलग-अलग प्रासादो में राजा की रानिया सुख-वैभव से परिपूर्ण, अभाव और असुविधा से परे, मनोनुकूल जीवन बिताया करती थी।

सुदर स्त्रियो को उपहार में देने की प्रथा रामायण में अनेक बार पाई जाती है। राम को कर-रूप में सुदर दासिया भेंट की गई थी (७।३९।११)। दशरथ का श्राद्ध करते समय भरत ने दिवगत आत्मा की शाति के लिए ब्राह्मणो को दासिया दान में दी थी।[1] वन-प्रस्थान करने से पहले राम ने तैत्तिरीय शाखा के एक आचार्य को कई दासिया भेंट की थी (२।३२।१५-६)। पत्नी का दान पुण्योत्पादक कर्म समझा जाता था। वाली की मृत्यु पर तारा ने राम से यह प्रार्थना की थी कि जिस बाण से आपने मेरे पति का वध किया है, उसीसे मुझे भी मार डालिए, मैं मरकर उनके समीप चली जाऊगी, ससार में ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि में स्त्री-दान से बढकर दूसरा कोई दान नही है—**दारप्रदानाद्धि न दानमन्यत्प्रदृश्यते ज्ञानवता हि लोके** (४।२४।३८)। तभी जब हनुमान ने भरत को राम के अयोध्या लौटने का सुसवाद सुनाया, तब भरत ने प्रसन्न हो उन्हे सोलह कन्याए पत्नी-रूप में प्रदान की—ऐसी कन्याए,जो कुडल पहने हुई थी, जो शुभ आचरणवाली थी, जिनका रग सोने के समान था, जिनकी सुदर नाक और जाघे थी, जिनका मुखमडल चद्रमा के समान सौम्य था, जो सभी प्रकार के आभूषणो से सज्जित थी तथा जिनका जन्म अच्छे कुलो में हुआ था।[2] वाल्मीकि ने यह नही बताया है कि हनुमान ने इन कन्याओ के उपहार को स्वीकार करके उनसे विधिपूर्वक विवाह किया या नही। फिर भी इतना स्पष्ट है कि स्त्रियो को उपहार में देना गौरव एव प्रसन्नता का चिह्न था।

---

१ **दासीर्दासांश्च . ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम्** ।२।७७।३

२ **सकुण्डला. शुभाचारा भार्याः कन्यास्तु षोडश। हेमवर्णा सुनासोरू. शशिसौम्या-ननाः स्त्रिय ॥ सर्वाभरणसम्पन्ना सम्पन्नाः कुलजातिभिः । ६।१२५।४४-५**

सीता, राम, लक्ष्मण और हनुमान
(वडक्कुपणयूर, तजोर, से प्राप्त कास्य-मूर्तिया, चोल-काल ८५०-११०० ई०, राजकीय सग्रहालय, मद्रास)

कैलास हिलाने का प्रयत्न करते हुए रावण (एलोरा, कैलास-मंदिर, आठवी शताब्दी ई०, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ करते हुए दशरथ
(शिव-मंदिर, प्रावनन, जावा, नवी शताब्दी ई०)

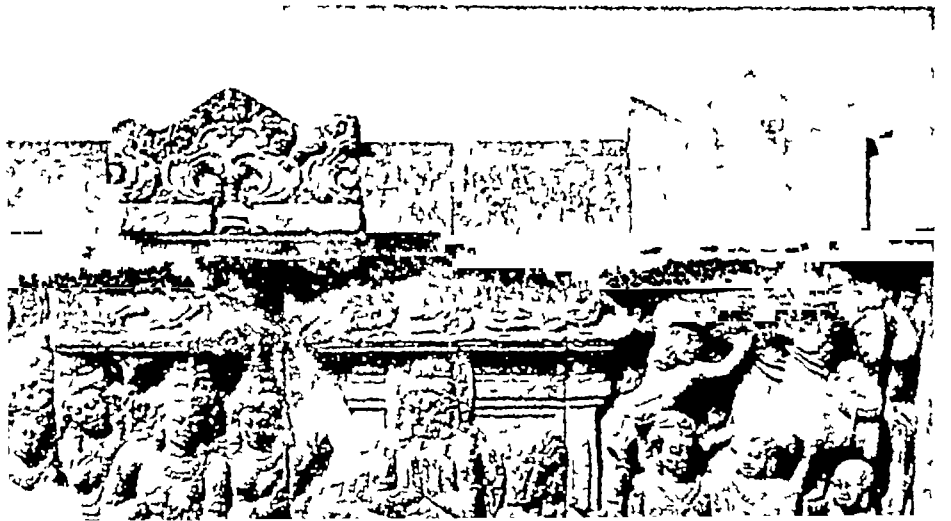

अहल्योद्धार
(देवगढ, झासी, पाचवी शताब्दी ई०, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का विरूपीकरण
(देवगढ, झासी, पाचवी शताब्दी ई०, पुरातत्व विभाग, भारत सरकार

रावण द्वारा सीता का अपहरण (प्रावनन, जावा, नवी शताब्दी ई०)

रावण-जटायु-युद्ध (प्रावनन, जावा, नवी शताब्दी ई०)

राम-लक्ष्मण का कबंध के साथ युद्ध (प्रावनन, जावा, नवी शताब्दी ई०)

वाली-सुग्रीव-युद्ध (एलोरा, आठवी शताब्दी ई०, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

अशोकवाटिका में सीता के समक्ष हनुमान
(प्रावनन, जावा, नवी शताब्दी ई०)

हनुमान की पूंछ मे आग लगाते हुए राक्षस

जलती पूंछ से रावण के महल पर कूदते हुए हनुमान

(प्रावनन, जावा, नवी शताब्दी ई०)

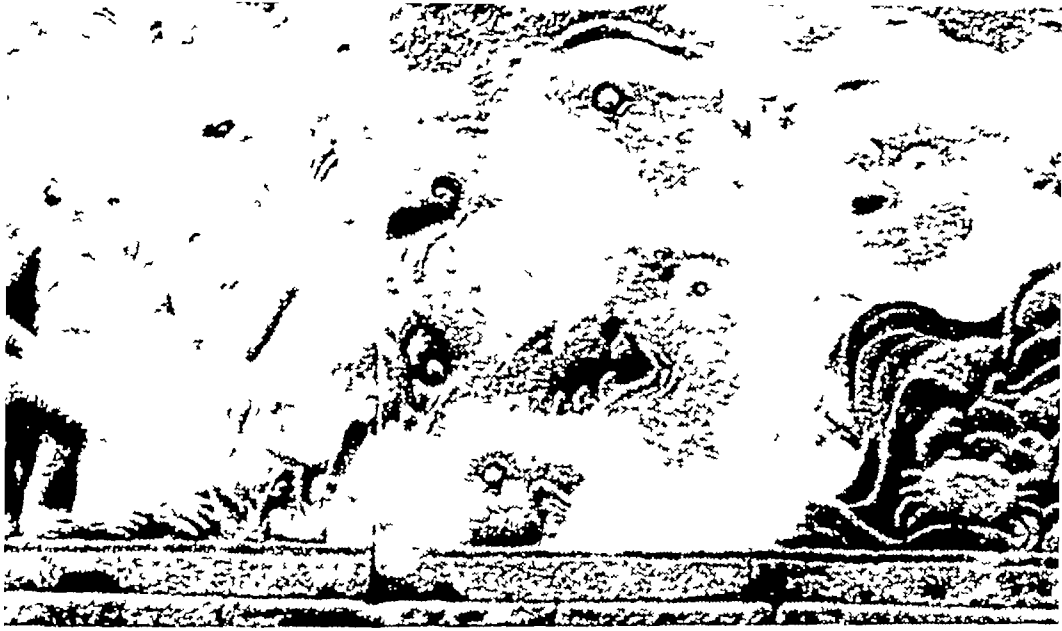

समुद्र पर सेतु-निर्माण के लिए पत्थर ले जाते हुए वानर
(प्रावनन, जावा, नवी शताब्दी ई०)

वानर-सेना के साथ नल-सेतु पार करते हुए राम, लक्ष्मण और सुग्रीव
(प्रावनन, जावा, नवी शताब्दी ई०)

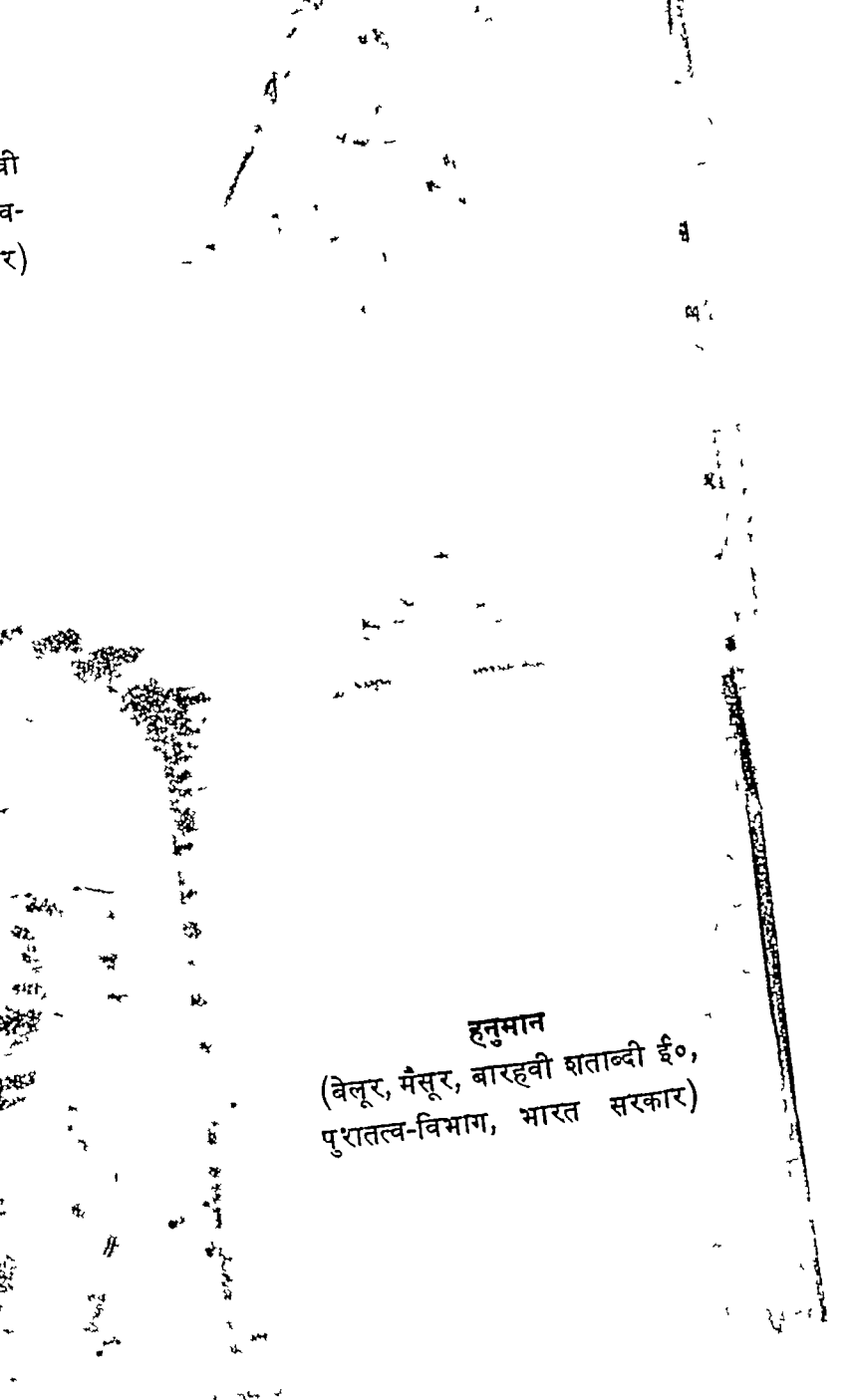

हनुमान
(बेलूर, मैसूर, बारहवी शताब्दी ई०,
पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

रामायण का युग वैभव और विलास का समय था जब पुरुषो को स्नान कराने का कार्य तरुण और सुदर दासिया किया करती थी। लका-विजय के बाद विभीषण ने राम से निवेदन किया कि शृगार-क्रिया में निपुण कमलनयना स्त्रिया उपस्थित हैं, जो आपको विधिपूर्वक स्नान करा देंगी।[1] भरद्वाज के आश्रम में भरत के प्रत्येक सैनिक की सेवा में सात-आठ स्त्रिया नियुक्त थी, जो तैल-मर्दन करके उसे नदी के सुदर घाटो पर नहलाती, फिर पोछकर और पैर दबाकर मदिरा पिलाती थी (२।९१।५३-४)। राम की बाहो का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं कि उत्तम सैरध्रिया उबटन लगाते या अलकार पहनाते समय उनका स्पर्श किया करती थी।[2] राम चंदन लगाकर बहुमूल्य शय्याओ पर विश्राम किया करते थे और रूपवती अलकृत स्त्रिया उन पर पखा डुलाया करती थी—

यः सुखेनोपधानेषु शेते चन्दनरूषितः।
वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥२।४२।१४

तत्कालीन अश्वमेध-यज्ञो मे राजागण अपनी रानियो को दक्षिणा के रूप में पुरोहितो को भेंट कर देते थे, यद्यपि इस भेट के बदले धन भी दिया जा सकता था। दशरथ की चारो रानिया दक्षिणा के रूप में चारो पुरोहितो को प्रदान कर दी गई थी।[3] तत्पश्चात दशरथ ने रानियो के स्थान पर पुरोहितो को धन-धान्य देकर सतुष्ट किया (१।१४।४३-९)। इससे जान पडता है कि पुरोहितो को रानिया दान में दे देने की यह प्रथा एक औपचारिकता-मात्र रह गई थी, फिर भी इस औपचारिकता की स्वीकृति एव उसका निर्वाह यह ध्वनित करता है कि स्त्री को निजी सपत्ति मानने की धारणा विद्यमान थी।

नारी की स्थिति और सत्ता को गिरानेवाले अन्य कारणो में तत्कालीन बहु-पत्नी-प्रथा प्रमुख थी। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, यह प्रथा अनेक स्त्रियो का भाग्य और जीवन एक ही पुरुष से जोड देती थी और उन्हें उसीके भोग-विलास का

---

१. अलंकारविदश्चैता नार्यः पद्मनिभेक्षणाः। उपस्थितास्त्वां विधिवत् स्नापयिष्यन्ति राघव ॥६।१२१।३

२. भुजैः परमनारीणामभिमृष्टमनेकधा (बाहु) ।६।२१।३

३. होताध्वर्युस्तयोद्गाता हयेन समयोजयन्। महिष्या परिवृत्याथ वावाताम-परां तया ॥१।१४।३५, टीका देखिए।

साधन बना देती थी। दासियो का उपहार-रूप में भेंट किया जाना, गणिकाओ का मनोरजन के साधनो के रूप में उपयोग तथा अप्सराओ के बारे में यह धारणा कि वे युद्ध में वीर-गति पानेवालो का स्वर्ग में प्रणय-क्रीडाओ से स्वागत करती है, ये सब नारी के 'इद्रियार्थ' (विलास की सामग्री) मान लिये जाने के सूचक है। स्त्री-लपट राक्षसो द्वारा आये दिन अनगिनत नारियो की खुले आम लाज लूटी जाना, स्वर्ग के देवताओ का मर्त्यलोक की सुदरियो की ओर आकृष्ट होना और उनका उपभोग करने के अवसर की ताक में रहना, दड-जैसे राजा का मुनि-कन्या अरजा के पिता से उसकी पत्नी-रूप में याचना करने के बजाय उस पर बलात्कार ही कर डालना, आदि दृष्टातो से प्रमाणित होता है कि समाज के लपट और दुराचारी वर्गों के हाथो स्त्री का गौरव और समान कितना खतरे में पडा हुआ था।

स्वय राम भी कभी-कभी अपनी उक्तियो में ऐसा आभास देते है कि असाधारण परिस्थितियो में स्त्री की स्वतत्र सत्ता या इच्छा का कोई स्थान नही है तथा उसके प्रति एक सर्वथा महत्वहीन एव उपेक्षणीय प्राणी का-सा व्यवहार किया जा सकता है। उन्होने कैकेयी से कहा था कि पिता की आज्ञा से मै भरत को राज्य ही नही, अपनी पत्नी सीता भी दे सकता हू।[1] एक अन्य स्थल पर वह सकेत करते हैं कि पत्नी इद्रियो के विलास की एक सामान्य वस्तु है, जो जहा चाहे सुलभ हो सकती है। लका की युद्ध-भूमि पर लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम ने विलाप करते हुए कहा था—"प्रत्येक देश में स्त्रिया मिल सकती है, हर देश में जाति-भाई प्राप्त हो सकते है, परतु ऐसा कोई देश नही दिखाई देता, जहा सहोदर भाई मिल सकता हो"—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवा.।
त तु देश न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥ ६।१०१।१४

दूसरे शब्दो में राम भाई की तुलना में पत्नी को तुच्छ समझते थे। उनकी दृष्टि में जहा आत्म-सम्मान का प्रश्न उपस्थित हो वहा पत्नी की भी बलि दी जा सकती थी। इसी कारण वह लोकापवाद के भय से लका-विजय के बाद सीता का परित्याग करने को तैयार हो गए थे।

---

१. अहं हि सीता राज्य च...हृष्टो भ्रात्रे स्वय दद्या भरताय प्रचोदित'। २।१९।७

इस प्रकार स्त्री एक वस्तु थी, एक तरह की निजी संपत्ति थी, जो स्वामी की इच्छानुसार ली-दी जा सकती थी। रावण ने राज्य, नगर और अन्न-वस्त्र-जैसी अपनी उपभोग्य संपत्ति के साथ-साथ अपनी स्त्रियो का भी उल्लेख किया था और वाली के साथ मैत्री स्थापित करते हुए कहा था कि आज से ये सब वस्तुए हम दोनो की समान (अविभक्त) रहेगी।[1] सीता ने ऐसे अभिनेताओ (शैलूपो) का वर्णन किया था, जो अपनी स्त्रियो को दूसरो के उपयोग के लिए दे देते है (**शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि**, २।३०।८)। इससे भी यह सूचित होता है कि पति पत्नी का स्वतत्र और निरकुश स्वामी है। निजी सपत्ति की भाति ही स्त्री की निरंतर रक्षा और देखभाल करनी चाहिए, उसे पूर्ण स्वतत्र होने का अधिकार नही है। स्त्री की पहली शरण उसका पति, दूसरी उसके पुत्र और तीसरी उसके संबधी है, चौथी शरण स्त्री की कोई है ही नही।[2] राम के अनुसार पत्नी और पुत्र गुरुजनो के नियत्रण मे होते है।[3] स्त्री का योगक्षेम (सरक्षण एव भरण-पोषण) पुरुष की शक्ति और उसके श्रम पर निर्भर करता है।[4] क्योकि विवाह करने का मुख्य उद्देश्य वश की अविच्छिन्नता बनाये रखना था, अत पति का यह कर्तव्य माना गया कि वह पत्नी की सावधानी से देखभाल करे (**दारा रक्ष्या विमर्शनात्**, ३।५०।८), क्योकि यदि उसे स्वच्छंद छोड दिया गया तो वह परिवार पर अपयश का टीका लगा सकती है।[5]

स्त्री को सपत्ति की नाईं समझने की उक्त भावना के बावजूद उसका प्रचुर संमान रामायणकालीन सस्कृति की विशेषता थी। महिलाओ के प्रति समाज शालीन व्यवहार एव उच्च शिष्टाचार का पालन करता था। रथो, नावो और अन्य वाहनो

---

१. दाराः पुत्राः पुर राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम्। सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर ॥७।३४।४१

२. देखिए पाद-टिप्पणी १, पृ० १८७

३. कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणा सर्वदानघ। उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥२।१०१।१८

४. योगक्षेमौ हि सीताया वर्तते लक्ष्मणावयोः।२।५३।३

५. तुलना कीजिए—मातुः कुलं पितृकुल यत्र चैव च दीयते। कुलत्रयं सदा कन्या सशये स्थाप्य तिष्ठति ॥७।९।११

पर चढते समय उन्हें प्रथम स्थान दिया जाता था। जब राम, लक्ष्मण और सीता ने वन की ओर प्रस्थान किया, तब सर्वप्रथम सीता ने रथ में अपना आसन ग्रहण किया, तत्पश्चात दोनो भाई सवार हुए (२।४०।१३-७)। इसी प्रकार जब इन लोगो ने गंगा को पार किया, तब लक्ष्मण ने राम के आदेश से पहले सीता को नाव पर चढाया और उसके बाद वह स्वय चढे।[1] रथो में स्त्रिया आगे की ओर बैठाई जाती थी। सीता कौसल्या बडी उत्सुकता से प्रतीक्षा करती रहती थी कि सीता को रथ में आगे बैठाकर राम वन से अयोध्या कब लौटेंगे—

कदायोध्यां महाबाहु पुरीं वीर प्रवेक्ष्यति।
पुरस्कृत्य रथे सीता वृषभो गोधनमिव॥ २।४३।१२

राजरानी के प्रति प्रजाजन और अनुचर प्रणाम द्वारा आदर-भाव प्रकट करते थे। अशोकवाटिका में हनुमान ने सीता को सर्वप्रथम प्रणाम किया और फिर हाथ जोडकर उन्हे सबोधित किया। कैकेयी ने दशरथ से कहा था कि राम-माता कौसल्या को राज-माता के रूप में प्रजाजनो की अजलिया प्राप्त हो, इससे पहले मै मर जाना ही श्रेयस्कर समझती हू।[2] सीता को सबोधित करने से पूर्व विभीषण ने विनयपूर्वक सिर पर अजलि उठाकर उन्हे नमस्कार किया था (मूर्ध्नि बद्धाजलिः)। परित्यक्ता सीता के प्रति वाल्मीकि का व्यवहार इस बात का सूचक है कि वनवासी मुनि लोग भी स्त्रियो के प्रति उचित शिष्टाचार का पालन करने में त्रुटि नही होने देते थे (७।४९)।

बडे भाई की पत्नी माता के समान मानी जाती थी। लक्ष्मण नित्य सीता के चरणो में प्रणाम करते थे (नित्य पादाभिवन्दनात्)। मारीच-वध में सलग्न राम की सहायता के लिए न जाने पर लक्ष्मण को जब सीता ने किसी दुष्ट भाव से प्रेरित बताया, तब जितेंद्रिय लक्ष्मण ने हाथ जोडकर उनसे कहा कि आप मेरे लिए साक्षात देवता है, आपको प्रत्युत्तर देने की सामर्थ्य मुझमें नही है—उत्तर नोत्सहे वक्तु दैवतं भवती मम (३।४५।२८)

कुलीन स्त्रियो के समक्ष अपने-आपको अकस्मात उपस्थित कर देना

---

१. आरोप्य मैथिलीपूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः।२।५२।७६

२. एकाहमपि पश्येय यद्यहं राममातरम्। अर्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मतिर्मम॥२।१२।४८

असभ्यता थी। इसीलिए लंका-विजय के बाद विभीषण ने, जो राम का संदेश सीता को देने जा रहे थे, पहले स्त्री-परिचारिकाओं द्वारा सीता को सूचना भिजवाई और फिर वह स्वयं उनके सामने उपस्थित हुए (६।११४।८)।

सुग्रीव के अंतःपुर में स्त्रियों के नूपुरों की झंकार सुनकर लक्ष्मण लज्जित हो गए; अपने धनुष की टंकार करके उन्होंने अपने आगमन की सूचना दी और अपनी कुलीनता का परिचय देते हुए वह एकांत में जाकर खड़े हो गए (४।३३।२५-७)।

रामायण में स्त्रियों की रक्षा करने का बार-बार आग्रह करने पर भी उनको वश में रखने के लिए किसी प्रकार के बल का प्रयोग अनुचित और हेय बताया गया है। स्त्रियों के सामने उत्तेजित अथवा क्रोधित होना मर्यादा के विपरीत है। तारा की उपस्थिति में लक्ष्मण ने अपने कोप का निवारण कर लिया था। महात्मा लोग स्त्रियों के प्रति कोई क्रूर व्यवहार नहीं करते थे—**न ह्रीस्त्रीषु महात्मानः क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम्** (४।३३।३६)।

स्त्रियों की ओर घूरना असभ्यता थी। सुसंस्कृत व्यक्ति ऐसा कभी नहीं करते थे। मदविह्वलागी वानरराजपत्नी तारा को अस्तव्यस्त रूप में देखते ही महात्मा लक्ष्मण सिर नीचा करके उदासीन भाव से खड़े हो गए (**तस्यावृद्ध सीनतया महात्मा**, ४।३३।३९)। स्त्रियों के साथ चलते समय पुरुष आगे की ओर चलते थे और स्त्रियाँ उनका अनुसरण करती थीं। परित्यक्ता सीता को अपने आश्रम में ले जाते समय वाल्मीकि उनके आगे-आगे चले थे।[1] इस प्रथा के दो उद्देश्य थे—एक तो स्त्रियों की ओर घूरने का अवसर न आने देना और दूसरा उन्हें मार्ग दिखलाना। लक्ष्मण ने सीता को घूरकर देखने की धृष्टता कभी नहीं की थी। जब वह राम की आज्ञा से सीता को वन में छोड़ने गए, तब सीता ने उन्हें अपनी असहाय अवस्था का भान कराया और कहा कि मेरी ओर देखो, मैं पूर्ण गर्भावस्था में हूँ, मेरे आसन्न-प्रसव के चिह्न क्या तुम्हें नहीं दिखाई देते?—**निरीक्ष्य मां तद्य गच्छ त्वमृतुकालानुवर्तिनीम्** (७।४८।१९)।

इस पर लक्ष्मण ने उत्तर दिया—

किं मां वक्ष्यसि शोभने।
दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे।
क्वचन्न हि पश्यामि रामेण रहिता वने॥ ७।४८।२१-२२

---

१. **तं प्रयान्तं मुनिं सीता प्रांजलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।** ७।४९।१४

"आप यह क्या कह रही हैं ! आज तक मैंने चरणो के अतिरिक्त आपके रूप को कभी नही निहारा। यह तो निर्जन वन है और आर्य राम भी यहा नही हैं। ऐसी स्थिति में मैं अपनी दृष्टि आप पर कैसे डाल सकता हू ?"

स्त्रियो का अपहरण—नारी-चौर्य—एक घृणित अपराध था। विभीषण ने रावण से कहा था कि पराई स्त्री से ससर्ग रखना धर्म और अर्थ का नाशक तथा अपयश का दाता होता है (६।९।१३-२२)। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह बलात्कार से पराई स्त्रियो की अपनी ही स्त्री की भाति रक्षा करे।[१] सीता ने रावण से कहा कि तुम अपने को उदाहरण-योग्य बनाओ और केवल अपनी स्त्रियो से रमण करो।[२] पराई स्त्रियो का लोभी राजकुमार भी देश से निर्वासित कर दिया जाता था। राम के वनवास के कारण से अनभिज्ञ भरत ने कैकेयी से पूछा था कि कही राम पराई स्त्रियो पर तो आसक्त नही थे, जिसके फलस्वरूप उन्हे दडकारण्य मे निर्वासित कर दिया गया हो।[३] किसी 'अकामा' (अनिच्छुक) स्त्री का बलात उपभोग कठोर रूप से दडनीय होता था।[४]

स्त्रियो को 'अवध्या' अर्थात न मारे जाने योग्य घोषित किया गया था। स्त्री का वध करनेवाला राजा, बालक या वृद्ध का वध करनेवाले के समान घृणित था।[५] स्त्री का वध एक अनार्योचित कृत्य था—एक जघन्य कार्य, जो अपनी आयु का नाशक था तथा जिसके लिए परलोक मे कठोर यातना भुगतनी पडती थी। जब इद्रजित (माया-)सीता का वध करने पर उतारू हो गया, तब हनुमान ने

---

१ यथात्मनस्तथान्येषा दारा रक्ष्या विमर्शनात्। ३।५०।८; ७।२६।२९; ५।२१।७ भी देखिए।

२ आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम्।५।२१।७

३ कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते। कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासित ॥२।७२।४५

४ तुलना कीजिए—यदा ह्यकामा कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम्। मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकली भविता तदा ॥७।२६।५५-६

५ राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते।२।७९।३७

उसे चेतावनी दी कि स्त्री-हत्यारे मृत्यु के बाद उन लोको को ले जाये जाते हैं, जहा कुत्सित अपराधी भी जाने में हिचकते है।[1]

समाज-विरोधी कार्यो के कारण जहा दुष्टा स्त्रियो का वध अनिवार्य हो जाता था, वहा भी मार डालने की अपेक्षा उन्हे विकृत या कुरूप कर देना अधिक उचित समझा जाता था, जैसाकि शूर्पणखा और अयोमुखी के उदाहरण से प्रकट है। शूर्पणखा ने रावण से कहा था कि राम ने मेरे प्राण इसलिए छोड दिये कि वह स्त्री-हत्या का पाप नही करना चाहते थे।[2] लक्ष्मण ने राक्षसी अयोमुखी के कान, नाक तथा स्तन काट डाले थे। राम ने ताटका का वध तभी किया जबकि समाज-हित की दृष्टि से उसे मार डालने के अतिरिक्त और कोई चारा नही रह गया। मानवता की रक्षार्थ दो स्त्रियो की हत्याओ का दृष्टात-रूप में उल्लेख विश्वामित्र ने राम से किया था—एक तो विष्णु द्वारा भृगु-पत्नी का वध और दूसरा इद्र द्वारा विरोचन की पुत्री मथरा का वध (१।२५।२०-१)।

जब लका की अधिष्ठात्री राक्षसी लकिनी ने हनुमान को प्रवेश करने से रोका, तब हनुमान ने केवल अपने बाये हाथ से उसे एक घूसा जमाया और स्त्री जानकर उस पर अधिक क्रोध नही किया—**स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः** (५।३।४१)। शत्रुघ्न चाहते थे कि कैकेयी की बुद्धि भ्रष्ट करनेवाली दासी मथरा का काम तमाम कर दिया जाय, किंतु भरत ने उन्हे रोका और कहा कि स्त्रियो को सभी प्राणियो के हाथो वध से मुक्ति मिली हुई है, यदि तुम यह घृणित कार्य कर बैठोगे तो राम तुमसे बोलना छोड देगे (२।७८।२१-३)। स्वयं रावण ने सीता द्वारा कई बार अपमानित होने पर भी उनका वध नही किया, क्योंकि ऐसा कार्य वीरोचित नही था।

इस प्रसग मे अपहृत नारियो के प्रति तत्कालीन समाज के दृष्टिकोण की समीक्षा करना आवश्यक है। जो स्त्रिया एक बार शत्रुओ या दुष्टो के फेर मे अनिच्छा से पड जाती है और जिन्हे फिर किसी प्रकार उनसे छुटकारा पाकर अपना पूर्व पारि-

---

१. **ये च स्त्रीघातिनां लोका लोकवध्यैश्च कुत्सिताः। इह जीवितमुत्सृज्य प्रेत्य तान्प्रतिलप्स्यसे ॥६।८१।२२**

२. **एका कथंचिन्मुक्ताहं परिभूय महात्मना। स्त्रीवधं शंकमानेन रामेण विदितात्मना ॥३।३४।१२**

वारिक जीवन व्यतीत करने का सुयोग मिल जाता है, क्या ऐसी स्त्रियो को समाज अपने अक में पुन स्थान देने को तैयार है ? इस प्रश्न का उत्तर ही स्त्रियो के प्रति किसी समाज के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की खरी कसौटी माना जायगा।

रामायण मे ऐसी कई स्त्रियो के उदाहरण आये है, जिनका वलात्कार से सतीत्व-भग किया गया हो अथवा जो बलपूर्वक अपहृत होकर शत्रु-गृह मे रही हो। राक्षसराज रावण ने राजाओ, ऋषियो, देवताओ और दानवो की अनेक विवाहित-अविवाहित कन्याओ का अपहरण करके उन्हे अपने अत पुर में भर रखा था। उनकी दशा सिह के पजे में पडी हरिणियो की-सी थी—उन्हें अपने दु ख का कोई छोर नही दिखाई देता था। रावण की मृत्यु हो जाने पर इन स्त्रियो की क्या दशा हुई, उन्हे समाज मे पुन समानपूर्ण स्थान मिला या नही, इस विषय पर वाल्मीकि ने कोई प्रकाश नही डाला है।

उत्तरकाड में भार्गव-ऋषि की कन्या अरजा की कथा विस्तार से वर्णित है (७।८०-१)। एक वार विध्य प्रदेश का राजा दड भार्गव ऋषि के आश्रम में जा पहुचा, जहा उसने मुनि की अपूर्व सुदरी कन्या अरजा को विचरण करते देखा। राजा उस पर मोहित हो गया और उसने उससे प्रेम की भिक्षा मागी। किंतु अरजा ने अपने को पिता के सर्वथा अधीन बताते हुए असमर्थता प्रकट की और कहा कि आप मेरे पिता से मेरी याचना कर लें, आपकी प्रार्थना पर वह मुझे आपको समर्पित कर देंगे। किंतु कामोन्मत्त राजा दंड ने मस्तक पर अजलि उठाकर समागम के लिए पुन प्रार्थना की और अत मे विह्वल हो वलपूर्वक उस मुनि-कन्या का उपभोग कर लिया। इस दुष्कृत्य के वाद राजा तो शीघ्रता से अपनी राजधानी मधुमत लौट गया और वेचारी अरजा भयभीत हो रोती हुई आश्रम के समीप पिता की प्रतीक्षा करने लगी।

जव भार्गव ऋषि ने अपने शिष्यो से अरजा का सारा वृत्तात सुना, तव उनकी क्रोधाग्नि भभक उठी और उन्होने सात दिन में दड के राज्य का सर्वनाश कर देने की प्रतिज्ञा की। इस पर सारे आश्रमवासी आश्रम खाली करके दंड के राज्य से वाहर चले गए। ऋषि ने अपनी पुत्री को भी सर्वथा निर्दोष नही माना और 'दुर्मेधा' (दुर्बुद्धि) कहकर उसकी भर्त्सना की, क्योकि कामातुर राजा के वलात्कार को स्वीकार और सहन कर उसने भी तो इस पापाचरण में सहयोग दिया था। आश्रम से जाने से पहले मुनि ने अपनी पुत्री को वही रहकर तपस्या मे निरत रहने की आज्ञा

दी। स्पष्टत. अरजा के लिए विवाह का प्रश्न ही समाप्त हो गया और पिता के आदेशानुसार उसने निर्जन आश्रम मे जीवनपर्यंत तपस्या करने का ही संकल्प कर लिया। भार्गव ऋषि का व्यवहार यह सूचित करता है कि वह अपनी बलपूर्वक दूषित की गई पुत्री को स्वीकार करने को प्रस्तुत नही थे और उन्होने उसका सदा के लिए परित्याग कर दिया।

अपहृत नारियो का इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण सीता का है, जिनको रावण ने पंचवटी से हरकर अपने यहा एक वर्ष तक बंदी-रूप मे रखा था। रावण के वध के पश्चात राम सीता को अंगीकार करने को तैयार नही हुए, क्योकि उन्हे अपनी पत्नी की सच्चरित्रता मे संदेह हो गया था। उन्होने सीता से कहा—"अपने तिरस्कार का बदला चुकाने के लिए मनुष्य का जो कर्तव्य है, वह सब मैंने किया। अपने समान की रक्षा के लिए मैंने रावण का नाश कर डाला। तुम्हे मालूम होना चाहिए कि मैंने जो यह युद्ध का परिश्रम उठाया है तथा इन मित्रो के पराक्रम से इसमे विजय पाई है, वह सब तुम्हे पाने के लिए नही, अपितु सदाचार की रक्षा करने, अपने को अपवाद से मुक्त करने तथा अपने विख्यात वश का कलक मिटाने के लिए ही किया है। तुम्हारे चरित्र मे संदेह का अवसर उपस्थित है, फिर भी तुम मेरे सामने खडी हो। जैसे आख के रोगी को दीपक की ज्योति नही सुहाती, वैसे ही आज तुम अत्यंत अप्रिय जान पडती हो। इसलिए जानकी, तुम्हारी जहा इच्छा हो चली जाओ। मै अपनी ओर से तुम्हे अनुमति देता हू। ये दसो दिशाए तुम्हारे लिए खुली है। मुझे अब तुमसे कोई मतलब नही। कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा, जो तेजस्वी होकर भी दूसरे के घर मे रही हुई अपनी स्त्री को ग्रहण करेगा? रावण की गोद मे बैठकर तुम अपवित्र हो चुकी हो और उसने कामातुर नेत्रो से तुम्हे देखा है। अपने ही घर मे तुम-जैसी अद्वितीय सुदरी को पाकर क्या उसने तुम्हे छोड दिया होगा? इसलिए अपने कुल-गौरव का अभिमान करनेवाला मै तुम्हे कैसे स्वीकार कर सकता हूं? अत अब तुम जहा जाना चाहो, जा सकती हो। मेरा तुमसे कोई अनुराग नही" (६।११५।१३-२४)।

इस पर सीता ने सदाचार की शपथ खा कर कहा—"आप मुझे जैसी समझ रहे है, वैसी मै नही हूं। रावण के शरीर से मेरे शरीर का जो स्पर्श हो गया है, उसमें मेरी विवशता ही कारण है। मैंने स्वेच्छा से ऐसा नही किया था, इसमे मेरे दुर्भाग्य का दोष है। परंतु मेरा हृदय मेरे अधीन है, और वह सदा आप ही मे लगा रहता है" (६।११६।८-९)। राम को सीता के इस स्पष्टीकरण से संतोष नही

हुआ और उन्होने उनको तभी स्वीकार किया जब एक दैवी साक्षी ने उनकी सच्चरित्रता का प्रमाण दिया।

राम के उपर्युक्त कथन के विपरीत रामायण में ऐसे अनेक कथन है, जिनसे यह स्पष्ट आभास मिलता है कि वह सीता को रावण के चुगल से इसलिए छुडाना नही चाहते थे कि उनके यश पर लगा टीका धुल जाय, वरन इसलिए कि वह अपनी उस प्राणप्रिय भार्या को पुन सुखी और प्रसन्न कर सकें, जिसने शारीरिक कष्टो की परवा न करते हुए स्वेच्छा से उनका वनवास में साथ दिया था (४।१।१०३-९)। लका पर आक्रमण करने के लिए जब राम समुद्र पार करने की तैयारी करते है, तब उन्हे यह स्मरण कर अत्यत क्लेश होता है कि वह पचवटी मे सीता की कातर वाणी नही सुन पाये और समय पर उनकी रक्षा करने न पहुंच सके। यही नही, वह बडी व्यग्रता, आतुरता और विह्वलता के साथ उस घडी की प्रतीक्षा करते हुए जान पडते है, जब सीता उत्कठावश उनके गले से लिपटकर आनद के आसू बहायगी (६।५।७-२०)। वाल्मीकि ने ऐसा संकेत कही नही दिया है कि लका-विजय के बाद राम सीता को, पर-घर में रहने के कारण, त्याग देना चाहते थे। ऐसी स्थिति में रावण-वध के पश्चात सीता के प्रति राम का उपर्युक्त कथन अस्वाभाविक एव विस्मयकारक जान पडता है। किंतु इसका वास्तविक कारण हमें सीता की अग्नि-शुद्धि के बाद ज्ञात होता है, जब राम कहते हैं—"सीता की पवित्रता की परीक्षा लोक-दृष्टि से आवश्यक थी, क्योकि इन्हे बहुत दिनो तक रावण के अत पुर मे रहना पडा है। यह बात मैं भी जानता हू कि जनकनदिनी सीता का मन मुझमें ही लगा रहता है और यह मेरी इच्छाओ का ही अनुसरण करती है। लका मे यह अपने तेज से सुरक्षित थी, अत रावण इनका कुछ भी नही बिगाड सकता था। तथापि यदि मैं इनकी परीक्षा न करता तो संसार यही कहता कि दशरथ-पुत्र राम बडा मूर्ख और कामी है" (६।११८।१३-६)।

इस प्रकार हम देखते है कि लोकापवाद के भय से ही राम सीता का त्याग करने को उतारू हो गए थे और इसी कारण उन्हें ससार को सीता के निष्कलंक होने का प्रमाण उनकी अग्नि-परीक्षा कराकर देना पडा।

लोकापवाद का यही भय उत्तरकाड में वर्णित सीता के अंतिम परित्याग का कारण हुआ। अयोध्या का रूढिवादी और कट्टर समाज अपहृत स्त्री को परिवार

और समाज मे उसका पूर्व स्थान देने को प्रस्तुत न था। इसी कारण राम के अयोध्या लौटने के कुछ ही दिनो बाद राज्य में सर्वत्र, नगरो और देहातो मे, लोग उनके इस कृत्य की चर्चा करने लगे—"रावण को मारकर राम सीता को ले आये और उनमें किसी प्रकार का दोष न देख कर इन्होने उन्हे घर मे रख लिया। इनके हृदय मे सीता के सभोग का सुख कैसा घर कर गया है! जिन्हे रावण बलपूर्वक गोद मे उठाकर ले गया, जो लका मे ले जाई गई और जो अशोकवाटिका मे राक्षसो के अधीन होकर रही, उनको भी इन्होने निंदनीय नही समझा। अब हम लोगों को भी अपनी स्त्रियो की ऐसी बाते सहनी पडेगी, क्योकि राजा जैसा करता है, प्रजा भी उसीका अनुसरण करने लगती है" (७।४३।१७-२०)। इस लोक-निंदा के समक्ष राम को झुकना पडा। यद्यपि उनकी अतरात्मा सीता को निष्पाप ही मानती थी, तथापि वह अपनी प्रजा को अप्रसन्न करने को तैयार नही थे; भार्या के सरक्षण की तुलना मे लोकानुरजन उन्हे अधिक महनीय कर्तव्य जान पडा। अत उन्होने सीता का सदा के लिए परित्याग कर दिया (७।४५। १०-१६)। वर्षों पश्चात सीता को अयोध्या की सभा मे आकर अपनी शुद्धता का प्रमाण देने के लिए आमंत्रित किया गया। अयोध्या की प्रजा के समक्ष वह हृदय-विदारक शपथे खाकर अपनी पवित्रता की दुहाई देने लगी, किंतु इस मानसिक आघात को अधिक देर तक सह न सकी और उनके प्राण-पखेरू उड गए।

भारतीय परपरा ने लोक-सग्रहार्थ किये गए राम के इस अनुपम आत्मत्याग की सराहना की है, उनके अतस्तल में होनेवाले सघर्ष के प्रति सहानुभूति दर्शाई है और उनके कार्य मे महान एव लोकोत्तर आदर्श की भी झाकी पाई है। वास्तविक दोष यदि कुछ है तो वह राम का उतना नही जितना कि तत्कालीन कट्टर जन-मत का, जिसका विरोध करना राम की सामर्थ्य से बाहर था। रामायणकालीन समाज का अपहृत नारियो के प्रति संकुचित दृष्टिकोण था। वह उन्हे अपने बीच पुन समानित स्थान देने के किसी प्रयास का प्रबल विरोध करता था। यह सतोष का विषय है कि हमारे प्राचीन स्मृतिकारो ने सामान्य स्त्रियो के लिए पवित्रता के इस उच्च किंतु अव्यावहारिक आदर्श का समर्थन नही किया है।[1]

---

१ उदाहरणार्थ, स्मृतिकार पाराशर (१०।२१-२) का कथन है कि यदि किसी स्त्री का बलपूर्वक या डरा-धमकाकर उपभोग किया जाय तो वह प्रायश्चित्त

रामायण में स्त्रियो के पातिव्रत्य की प्रशसा के अतिरिक्त कई स्थानो पर उनके अवगुणो की भी चर्चा हुई है और उन्हें तीव्र भर्त्सना और उपालभ का पात्र बनाया गया है। यदि इन स्थलो का अध्ययन किया जाय तो स्त्री-चारित्र्य की कई कथित विशेषताओ पर तथा उनके मूल में निहित भावनाओ पर यथेष्ट प्रकाश पडेगा।

स्त्री का एक प्रमुख दोष है उसकी उत्सुकता की भावना। जब स्त्री में किसी चीज को जानने या पाने की इच्छा जागृत हो उठती है, तब वह अदम्य बन जाती है। फिर उसे मर्यादा का ध्यान नही रहता, उसकी इच्छा की पूर्ति होनी ही चाहिए, चाहे इसके लिए कीमत कितनी ही क्यो न चुकानी पडे। एक बार कैकेयी के पिता अपनी रानी (कैकेयी की माता) के साथ शयनागार में थे कि उन्हें एक जृभ पक्षी की चहचहाहट सुनाई पडी। केकय-नरेश 'सर्वभूतरुतविद्या,' सब प्राणियो की भाषा जानते थे, अत उस जृभ पक्षी की बोली का अभिप्राय समझकर हँस पडे। इससे कैकेयी की माता क्रुद्ध हो गई और बोली—"राजन, मैं आपके हँसने का कारण जानना चाहती हू।" राजा ने कहा—"देवी, यदि मैं कारण बता दू तो निस्सदेह इसी क्षण मेरी मृत्यु हो जायगी।" यह सुन कर रानी ने अपने पति से कहा—"चाहे जिये या मरें, मुझे हँसने का कारण अवश्य बताना होगा।" अपनी जिज्ञासा को शात करने के लिए वह महाराज को मृत्यु के मुख में भी ढकेलने को तैयार थी। राजा ने ऐसी स्त्री को घर से बाहर निकाल देने में ही अपना कल्याण समझा (२।३५।१८-२६)।

उत्सुकता का यह दोष स्त्री में कभी अनुचित यौन आकाक्षा भी जगा देता है, वह कुतूहलवश अनेक पुरुष-सपर्क-जन्य रति-सुख पाने की इच्छुक हो जाती है, जैसाकि गौतम-पत्नी अहल्या के साथ हुआ। अहल्या ने इद्र के रति-प्रस्ताव को कुतूहलवश ही स्वीकार किया था—**मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्**—दिव्य रति के कौतूहल ने अहल्या को बेबस कर दिया था (१।४८।४९)।

त्रिया-हठ एक लोकप्रसिद्ध सत्य है। किसी बात के लिए दुराग्रह कर बैठना,

---

करने से और अपने मासिक रज स्राव से पुन शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रकृति-खड ६१।७९) में भी कहा गया है कि अनिच्छा से बलात्कार किये जाने पर कोई स्त्री दूषित या जाति-बहिष्कृत नहीं होती—प्रायश्चित्त करने पर वह शुद्ध हो जाती है।

उसका पीछा न छोडना, निर्बल स्त्री-जाति का एक सबल पक्ष है। नारी सचमुच पुरुष को अपनी हठीली मागो मे हतप्रभ कर देने का अनोखा कौशल अपने में सजोये रहती है। दशरथ की धमकिया, आज्ञाए, दीनतापूर्ण प्रार्थनाए, मान-मनुहारें, कोई भी कैकेयी को अपने हठ से हटा न सकी, शोक-ग्रस्त राजा जब उसके पैरो पड गए और वर लौटा लेने के लिए गिडगिडाने लगे, तब भी कैकेयी टस-से-मस न हुई। उधर, वन में सीता को ज्योही स्वर्ण-मृग दिखाई पडा, उनकी आखे आश्चर्य से खिल उठी और उसे पाने के लिए उनके मन में प्रबल इच्छा जग पडी—"विचित्र रंगो से सुशोभित इस अद्भुत मृग ने मेरे मन को मोहित कर लिया है। यदि यह जीवित ही पकड लिया जाय तो हमारे लिए एक कौतुक की वस्तु होगा और सबको आश्चर्य में डाला करेगा। जब हमारे वनवास की अवधि पूरी हो जायगी और हम पुनः अपना राज्य पा लेंगे, तब यह मृग हमारे अत पुर की शोभा बढायगा। यदि यह जीते-जी न पकडा जा इसके तो भी मैं इसके चर्म पर अवश्य बैठना चाहती हू।

कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥३।४३।२१

"ऐसी घोर कामना स्त्रियो में अनुचित मानी गई है, किंतु क्या करू, इस मृग की सुनहरी देह ने मेरे अदर विस्मय पैदा कर दिया है।" सुदर वस्तुओ के प्रति अपने प्रलोभन को प्रकट कर सीता ने अपना स्त्रीत्व ही अनावृत कर दिया।

पुरुषो से अपने मन की बात मनवाने के लिए स्त्री के पास दो और शस्त्र है—निर्मम स्वभाव और वज्र-तुल्य वाणी (**वज्रसमा वाक्**)। कठोर और निर्दयी कैकेयी अपने अहकार, उद्धत स्वभाव, तनुकमिजाजी तथा सपत्नियो के प्रति तीव्र घृणा के सहारे महाराज दशरथ के रनवास पर हावी हो गई थी। राम अपनी विमाता के इस स्वभाव से परिचित थे। अपने प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के दिन जब राम ने देखा कि पिताजी का चेहरा उतरा हुआ है और मुह सूख गया है, तब उन्होने पास ही खडी कैकेयी से पूछा—"कही तुमने अभिमान या रोष मे आकर पिताजी से कोई कठोर बात तो नही कह डाली, जिससे इनका मन व्यथित हो रहा है?"[1]

---

१ कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात्पिता मम। उक्तो भवत्या रोषेण येनास्यं लुलितं मनः ॥२।१८।१७

कैकेयी ही नही, मुग्धा सीता भी क्रोध करने और चुभती बात कहने मे समर्थ थी। वन में राम की सहायतार्थ लक्ष्मण के न जाने पर वह उबलकर उन पर बरस ही तो पडी थी।

व्यर्थ का गर्व अथवा अपने-आपके विषय में अहकार-भरी धारणा स्त्री-स्वभाव की एक जानी-मानी पहचान है। कैकेयी स्वार्थ के प्रति कितनी जागरूक थी—उसने दशरथ से पहले तो वर-पूर्ति की शपथ दिलवा ली और फिर अपना दुष्ट मतव्य प्रकट किया। वाल्मीकि ने उसके लिए **वृथा-पडित-मानिनी** (पाडित्य का व्यर्थ अभिमान करनेवाली) का उपयुक्त विशेषण प्रयुक्त किया है। मथरा ने कैकेयी को यह स्मरण दिलाकर कि महाराज पर तुम्हारा कितना अपरिमित प्रभाव है, उसकी अहकार-भावना को और भी अधिक उकसाया। कैकेयी के प्रति दशरथ के इन शब्दो से बढकर स्त्री की आत्म-महत्व की भावना को और क्या प्रश्रय मिल सकता है—"किसने तुम्हारा अपराध किया है, जो मुझे दु खी करने के लिए तुम इस तरह धूल में लोट रही हो ? बताओ, तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं आज किसका प्रिय करू ? अथवा, किसने तुम्हारा अप्रिय किया है, जिसके लिए उसे कठोर दड दू ? किस निरपराध का वध कर दू और किस अपराधी को मुक्त कर द ? किस दरिद्र को धनवान और किस धनी को दर-दर का भिखारी बना दू ? मैं और मेरे सभी सेवक सदा तुम्हारी आज्ञा के अधीन है" (२।१०।२८-४०)।

प्राय यह देखा जाता है कि स्त्री अभिमान-वश पुरुष के किसी मार्मिक स्थल पर—उसके पुरुषत्व, वीरत्व या चरित्र पर—ऐसा तीखा प्रहार करती है, जिससे वह तिलमिलाकर उसके आदेशो को मानने के लिए बाध्य हो जाय। वन में कुछ समय तक तो लक्ष्मण राम की सहायतार्थ जाने के सीता के आग्रह को टालते रहे, पर जब सीता उनके चरित्र पर लाछन लगाने को उतारू हो गईं—ऐसा लाछन, जिसने जितेंद्रिय लक्ष्मण के कानो को तपाये हुए नाराच बाण की तरह बेध दिया (**तप्त-नाराचसनिभम्**)—तब वह रुक न सके और तुरत राम के पास चल दिये। जब दशरथ कैकेयी को उसके दोनो वर देने में हिचकिचा रहे थे, तब कैकेयी ने उन पर व्यग्य किया कि आप राम को राजा बनाने के बाद मेरी सौत कौसल्या के साथ निर्द्वंद्व होकर रमण करना चाहते है—**सह कौसल्यया नित्य रन्तुमिच्छसि दुर्मते** (२।१२।-४५)। वनवास के कष्टो के कारण राम सीता को अपने साथ नही ले जाना चाहते थे, पर सीता ने उनको ताना मारते हुए कहा—"न जाने मेरे पिता मिथिलेश्वर

ने तुम्हे क्या समझकर अपना जामाता बना लिया, तुम तो **स्त्रियं पुरुषविग्रहम्**, पुरुष के रूप मे स्त्री हो" (२।३०।३); और जब राम ने सीता से अयोध्या में ही रहकर भरत की वशवर्तिनी बने रहने के लिए कहा, तब तो सीता का अभिमान चोट खाये हुए सर्प की भाति आहत हो उठा और वह बोली—"हे राम, तुममें और एक नीच नट (शैलूष) में क्या अतर है, जो अपनी पत्नी को दूसरे के हाथ सौप देता है ?" (२।३०।८)। यह आरोप मर्म पर चोट करनेवाला है और पाठक सोचता है कि क्या ऐसी उक्ति सीता के मुह से शोभा देती है।

शरीर और मन की दुर्बलता नारी की एक और विशेषता है। 'नैराश्य' और हृदय का 'लघुत्व' ये दोनो स्त्री-स्वभाव के विशिष्ट लक्षण है। उसे फुसलाकर पथ-भ्रष्ट कर देना कोई कठिन काम नही। **कुब्जावाक्यवशंगता**, मथरा के हाथो कैकेयी का प्रलोभीकरण यह सिद्ध करता है कि स्त्रियो के लिए कुशिक्षा ग्रहण करना सहज-सभव है। रामायण मे यह सभावना सर्वत्र व्यक्त की गई है कि लपट जन नारी को अनुनय-विनय करके, जीवन के सौख्यो का रगीला चित्र दिखाकर, नृत्य और सगीत के आकर्षणो से अथवा उसके सौंदर्य की स्तुति द्वारा अपने वश मे कर सकते है। किसी अनिच्छुक रमणी के तरल भाव को जगाने में इस तर्क का आश्रय लिया जाता था—

इदं ते चारुसंजातं यौवनं ह्यतिवर्तते।
यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः स्रोतस्विनामिव ॥५।२०।१२

अर्थात् तुम्हारी यह रमणीय युवावस्था बीती जा रही है, और नदी के बहे हुए प्रवाह की भाति कभी लौटकर नही आनेवाली है (इसलिए क्यो नही तुम सुखोपभोग में अपनी आयु बिताती ?)।

इन सब उक्तियो से यही ध्वनित होता है कि नारी मे भावुकताजन्य दुर्बलता का आधिक्य होता है, वह लुभावनी बातो से प्रलुब्ध की जा सकती है, वह प्रेम के किसी प्रस्ताव से सद्य प्रभावित हो जाती है और उसमे प्रलोभनो से मुह मोडने की पर्याप्त क्षमता नही होती। इसीलिए वधु-बाधुवो को स्त्री की निरतर देखभाल करते रहना चाहिए—**कच्चित्स्त्रिय सांत्वयसे कच्चित्तास्ते सुरक्षिताः** (२।१००।४९)।

स्त्रियो में प्राय चपलता अथवा अस्थिरता पाई जाती है (**विद्यते स्त्रीषु चापल्यम्**)। दृढचित्तता उनसे कोसो दूर रहती है। महामुनि अगस्त्य ने स्त्रियो की दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए राम से कहा था—"सृष्टि के आदि से ही स्त्रियो

की यह प्रकृति रही है कि वे अपने 'समस्थ' (धन-धान्यादियुक्त) पति का अवलबन करती हैं और 'विषमस्थ' (दरिद्र, रोगादिग्रस्त) पति का परित्याग कर देती हैं। अपना निवास बदलने में वे विद्युत की चचलता का, स्नेह-बधन तोडने में शस्त्रो की तीक्ष्णता का और अकार्य करने में गरुड और वायु की शीघ्रता का अनुकरण करती हैं" (३।१३।५-६)। दुष्टा स्त्रियो की चचलता की तीव्र निंदा वाल्मीकि ने कौसल्या के मुख से कराई है—"जो स्त्रिया पति द्वारा सदा समानित होने पर भी सकट में पडने पर उसका अपमान करती है, वे ससार में असती के नाम से पुकारी जाती हैं। दुष्टा स्त्रियो का यह स्वभाव होता है कि पहले तो वे पति से यथेष्ट सुख भोगती है, परतु जब वह थोडी-सी विपत्ति में पड जाता है, तब उस पर अनेक दोषारोपण करके उसका त्याग कर देती हैं। युवती स्त्रिया असत्यपरायण, विकारग्रस्त, अनियत्रित, हृदयहीन, पापसकल्प और क्षणिक अनुराग रखनेवाली होती हैं। उच्च कुल, उपकार, विद्या, दान, बधन, इनमें से कोई भी उन्हे पाप-कर्म से निवृत्त नही कर सकता क्योकि **अनित्यहृदया हि ता**', उनका हृदय अस्थिर होता है" (२।३९।२०-३)। इसीलिए राम ने भरत को यह परामर्श दिया था कि तुम्हे स्त्रियो पर विश्वास नही करना चाहिए, न उन्हें गुप्त बातें ही बतानी चाहिए—**कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्य न भाषसे** (।२।१००।४९)

सीता के दोषारोपण से मर्माहत हो लक्ष्मण ने भी अगस्त्य के-से ही भाव प्रकट किये थे—"ऐसी अनुचित बातें मुह से निकालना स्त्रियो के लिए कुछ आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि ससार में नारियो का ऐसा स्वभाव बहुधा देखा जाता है। स्त्रिया प्राय विनय आदि धर्मो से रहित, चचल, कठोर तथा आपस में फूट डालने-वाली होती हैं। इसी स्त्री-स्वभाव के वशीभूत होकर आप मुझसे ऐसी बातें कह रही हैं।"[1]

स्त्री-जाति की एक और विशेषता है ईर्ष्या की स्वभावगत भावना। उस युग के बहुसख्यक स्त्रियो से भरे अत पुर नारी के ईर्ष्या-द्वेष की क्रीडास्थली थे। कैकेयी का अपने दो वरो के लिए दुराग्रह एक ईर्ष्यालु स्त्री की विषाक्त मनोवृत्ति का परिचायक है। कैकेयी द्वारा छले गए महाराज दशरथ के लिए **धिगस्तु योषितो**

---

१. **वाक्यमप्रतिरूप तु न चित्र स्त्रीषु मैथिलि। स्वभावस्त्वेष नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते। विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकरा. स्त्रियः॥ ३।४५।२९-३०**

नाम शठाः स्वार्थपरायणा, स्त्रिया दुष्ट, स्वार्थी और धिक्कार की पात्र होती हैं (२।१२।१००)। यह दर्शनीय है कि सीता-हरण की घटना का आधार एक रक्त-पिपासु स्त्री (शूर्पणखा) की ईर्ष्यालुता थी। राम और लक्ष्मण दोनो के द्वारा ठुकराये जाने पर वह गुस्से से उबलती हुई रावण के दरबार में गई और उसे प्रतिशोध के लिए उकसाने लगी। तिरस्कृत स्त्री का खूख्वारपन यदि देखना हो तो शूर्पणखा मे देखा जा सकता है। उसने राम के प्रति अपने काम-भाव को रावण पर प्रकट नही किया और सीता के रूप की प्रशसा करते हुए कहा कि मैं तो उसे आपके रनवास के लिए लाना चाहती थी, पर ऐसा करने के प्रयत्न मे लक्ष्मण ने मुझे विरूप कर दिया।[1]

अनसूया के अनुसार असती स्त्रियो का हृदय काम के अधीन रहता है। वे **भर्तृनाथाः**, अपने पतियो पर शासन किया करती है। उनका हृदय एक पहेली-सा होता है—वे न तो बल-प्रयोग करनेवाले कामुक से प्रेम करती है, न गिडगिडाने-वाले से और न धनहीन से ही अनुराग करती है।[2] राग और घृणा दोनो की साधनभूत होती है ये स्त्रिया; कम-से-कम जो स्त्रियो के वशीभूत हो जाता है, वह 'कामक्रोधाभिभूत' अवश्य होता है। पुरुष की इद्रियो के लिए वे उन्मादकारिणी होती है, अपने दुर्निवार आकर्षणो से वे पुरुष को जीवन के ऊचे ध्येय से पथ-भ्रष्ट कर देती है, जैसाकि अप्सराओ द्वारा ऋषि-मुनियो के प्रलोभीकरण से प्रकट है। यही नही, ऋष्यशृग-जैसा नैष्ठिक ब्रह्मचारी तरुण, जो वन मे ही बडा हुआ और स्त्री नामक वस्तु से सर्वथा अनभिज्ञ था, सुदरियो के रूप-पाश में अनायास फस जाता है। रावण-जैसा दिविग्जयी शूरवीर भी नारी के सौदर्य-जाल से वशीभूत और जडीभूत होकर उसके सामने घुटने टेक देनेवाला कायर बन जाता है (३।५५।३५-६)। इसीलिए स्त्री को 'प्रमदा', प्रलुब्ध करनेवाली की सज्ञा दी जाती है। वासना की वह पुतली है—काम-भोग से उसे सतत सतुष्ट रखना पडता है। सतति-प्रेम भी उसे रति-सुख से विमुख नही कर सकता। स्त्रियो में आसक्ति सुरा और द्यूत में आसक्ति के समान है (२।७५।४५) और उसकी गणना उन दस दोपो (दशवर्ग) में की गई है, जिनसे राजा को बचना चाहिए। उत्तरकाड के अनुसार

---

१. भार्यायें तु तवानेतुमुद्यताहं वराननाम्। विरूपितास्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज ॥३।३५।२१-२

२. देखिए २।१००।२८; ५।२२।२; २।३९।२०

स्त्रियो में, विशेष कर यौवनशाली सुदरियो में, रज स्राव के दिनो में ब्रह्महत्या का भी कुछ अश वास करता है (७।८६।१५-६)।

ऐसी दशा में क्या आश्चर्य यदि वाल्मीकि नारी और नागिन के बीच सादृश्य स्थापित करने को प्रेरित हो, क्योकि दोनो ही कपट और धोखे के घर है। दशरथ की दृष्टि में कैकेयी एक तीक्ष्ण विषवाली व्याली (नागिन) थी, जिसे अज्ञानवश राजकुमारी समझकर वह अपने भवन में ले आये थे।[1] धर्मात्मा विभीषण के लिए पराई स्त्री नागिन के समान थी, भाई रावण को चेतावनी देते हुए उन्होने कहा था कि वक्ष स्थल-रूपी फनधारी, चिंता-रूपी विष से युक्त, हास्य-रूपी तीक्ष्ण दातोवाला और पाच अगुलियो के रूप में पाच सिरोवाला यह सीता-रूपी भारी सर्प आपके गले मे किसने लपेट दिया है ?—

वृतो हि वाह्वन्तरभोगराशि-
श्चिन्ताविष. सुस्मिततीक्ष्णदंष्ट्र ।
पचागुली पचशिरोऽतिकाय
सीता महाहिस्तव केन राजन् ॥६।१४।२

नारी का कपटाचरण, उसकी विनाशकारी प्रवृत्ति तथा उसका वास्तविक रूप जानने में पुरुष की असमर्थता, इनको विशद करने के लिए कवि ने विष-सयुक्त मदिरा, सगीत से लुभाकर मृग की हत्या करनेवाले व्याध, अपथ्य व्यजनो का आस्वादन करनेवाले रोगी आदि उपमानो का प्रयोग किया है। नारी के मोह-जाल में पडा हुआ पुरुष पाश में बधे मृग की भाति असहाय, पुत्र को बेच देनेवाले पिता के समान निंदनीय और सडको पर लोगो का उपहासास्पद बननेवाले शराबी ब्राह्मण की तरह घृणित होता है।[2] कैकेयी में आसक्त दशरथ को लक्ष्मण ने 'कृपण-चित्त, बुढौती में लडकपन करनेवाले तथा निंदित और घृणास्पद' बताया था।[3]

---

१ त्व मयात्मविनाशाय भवन स्व निवेशिता। अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा ॥२।१२।९-१०

२. देखिए २।१२।७६-७, ७०; २।११।२२, २।१२।७८

३ हनिष्ये पितर वृद्ध कैकेय्यासक्तमानसम्। कृपण च स्थित बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥२।२१।१९

नारी के प्रति उपर्युक्त कटूक्तियो का हमे निष्पक्षता से मूल्याकन करना होगा। इनमे से अधिकाश उक्तिया ऐसे लोगो के मुख से निकली हैं, जो किसी कारण से स्त्रियो से रुष्ट, अपकृत या असंतुष्ट थे। रामायण के अधिकतर स्त्री-निदापरक स्थल कैकेयी से संबधित हैं, जिसने अपनी कुटिल महत्वाकाक्षा और स्वार्थपरायणता से उस समय के सभी विचारशील लोगो को क्रुद्ध कर दिया था।[1] इन उक्तियो का अभिप्राय समस्त नारी-जाति को कलकित करना नही है। कैकेयी की स्वार्थांधता से दु खी महाराज दशरथ स्त्री-मात्र की निदा कर बैठे थे, पर तुरत ही उन्होने अपने अमर्यादित कथन में सशोधन कर लिया—**न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातर**, अर्थात मेरा आशय यह नही है कि सभी स्त्रिया भरत की माता के समान शठ और स्वार्थी होती हैं (२।१२।१००)। सीता-जैसी नारिया इन दोपो-से सर्वथा रहित और **श्लाघ्या च व्यपदेश्या च यथा देवेष्वरुन्धती**, देवो में अरुधती के समान प्रशसनीय और पूजनीय होती हैं (३।१३।७)। स्त्रियो को वासना का पिंड तथा उनके अनुराग को क्षणिक बतानेवाले लोग प्राय तपोनिरत ऋषि-मुनि हुआ करते थे, जो सयमी जीवन के महत्व को भली भाति जानते थे तथा स्त्रियो में अनासक्ति रखने की शिक्षा देकर जनसाधारण को वैराग्य की ओर उन्मुख करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त दशरथ, कौसल्या, अगस्त्य, अनसूया, लक्ष्मण आदि का उद्देश्य निरी स्त्री-निंदा करना नही था, प्रत्युत 'निंदित आचरण के विपरीत का, अर्थात सदाचार का, पातिव्रत्य का, आग्रह करना और उसकी प्रशसा करना था।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायणकालीन समाज का नारी के प्रति दृष्टिकोण विभिन्न पहलुओ से निर्धारित होता था, और इसी कारण उसमें परस्पर विरोधी बाते देखने को मिल जाती हैं। पुरुष की मन स्थिति, उसके व्यक्तिगत अनुभव, चारित्रिक बल तथा अन्य परिस्थितियो से भी नारी के प्रति उसका व्यवहार नियंत्रित रहता है। भारत में मुख्यत दो वर्गो की नारी के प्रति तीव्र प्रतिक्रियाए हुई हैं—एक भोगी, दूसरा वैरागी। इन वर्गो ने नारी की जो क्रमश प्रभूत प्रशसा और कटु

---

१. नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।२।६६।२९

२. 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते। किं तर्हि। निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्। तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते किं त्वितरस्य विधि.।' जैमिनि २।४।२१ पर शबर-भाष्य।

निंदा की है, उनसे प्रभावित होकर समाज में नारी की स्थिति के विषय में कोई एकांगी मत नहीं बनाया जा सकता। फिर भी रामायण में निर्दिष्ट विविध प्रकार की नारी-विषयक सामग्री के समुचित मूल्यांकन से यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि कुल मिलाकर उस युग में स्त्रियों की स्थिति सामान्यत सुखद थी। कम-से-कम तत्कालीन परिस्थितियों में नारी को एक कन्या, पत्नी, माता और विधवा के रूप में समस्त संभव सुविधाएं और अधिकार प्राप्त थे, और इनके सहारे वह परिवार, समाज और राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में अमूल्य योगदान कर रही थी।

: १२ :

आर्थिक जीवन

वैदिक युग के भ्रमणशील आर्य रामायण-काल से बहुत पहले ही, एक नियमित समाज-व्यवस्था के अतर्गत सगठित होकर, अपनी जीवन-चर्या को स्थायी रूप दे चुके थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि उनका आर्थिक जीवन अधिक स्थिर, उन्नत एव व्यापक बन जाय। रामायणकालीन आर्य उन पूर्वकालिक सैनिक-कृषको की भाति नही थे, जिन्होने कृष्ण-वर्ण दस्युओ को परास्त करके सिंधु का मैदान हस्तगत किया था। अब तो सभ्यता प्रगति कर चुकी थी, समाज अधिक सभ्य एव सुसस्कृत बन चुका था तथा विद्या और कला का प्रसार हो गया था। राजागण विद्वानो को अपने दरबार में आमत्रित करते, प्रचलित विधि के अनुसार विशाल यज्ञो का आयोजन करते, रण-क्षेत्र में चतुरगिणी सेनाओ का नेतृत्व करते तथा करो की वसूली, न्याय का वितरण और शासन का प्रबध करने के लिए सुयोग्य व्यक्तियो को नियुक्त करते थे।

एक सुशासित राज्य ही आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार हो सकता है। "जहां कोई राजा नही होता, उस देश में खेतो मे बीज नही बोये जा सकते। राजहीन देश मे धन अपना नही हो सकता, मनुष्यो की कोई पचायत नही रहती, राष्ट्र को उन्नति-शील बनानेवाले उत्सव और सघ भी बढने नही पाते। कृषि और गो-रक्षा से जीविका चलानेवाले धनवान लोग सुरक्षित नही रह सकते, अपने घर का दरवाजा खोलकर सो नही सकते तथा दूर देश में जाकर व्यापार करनेवाले बेचने की वस्तुए लेकर कुशलपूर्वक मार्ग तय नही कर सकते। अराजकता फैल जाने पर अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा नही हो सकती। ..अराजक देश में कोई भी मनुष्य किसी वस्तु को अपनी नही कह सकता" (२।६७)।

वित्त-शास्त्र को प्राचीन भारत में 'वार्ता' की सज्ञा दी जाती थी। वार्ता शब्द का प्रयोग वैश्यो के तीन प्रमुख धधो--कृषि, गो-चारण और व्यापार--के लिए किया जाता था। रामायण-काल मे वार्ता-शास्त्र का इतना महत्व बढ गया प्रतीत होता है कि उसे तिस्रः विद्याः के अतर्गत त्रयी (तीनो वेद) और दंडनीति के समकक्ष

गिना जाने लगा (२।१००।६८)। इससे यह अनुमान होता है कि वार्ता का शास्त्रीय अध्ययन प्रारभ होने से पहले कृपि आदि उद्योगो का अनियमित ढग से विकास होता रहा होगा। वार्ता-विद्या के शास्त्रीय स्तर पर पहुचने के वाद कृपि, गो-पालन और व्यापार के विकास पर विशेप ध्यान दिया जाने लगा—उनकी प्रगति की एक सुनिश्चित दिशा निर्धारित हो गई।[1] चित्रकूट पर राम ने भरत से निम्नलिखित प्रश्न पूछकर इसी ओर इगित किया —

कच्चित्ते दयिता सर्वे कृपिगोरक्ष्यजीविन ।
वार्तायां साम्प्रतं तात लोकोऽय सुखमेधते ॥२।१००।४७

'कृपि और गो-रक्षा से आजीविका चलानेवाले सभी वैश्य क्या तुम्हारे प्रीति-पात्र है ? वार्ता का अनुशीलन करनेवाले ये लोग सुखी तो है ?' इस प्रकार राज्य में वार्ता के नियमो और सिद्धातो को लागू करना राजा का प्रधान कर्तव्य था।

अर्थ या धन का तात्पर्य सिक्के ही नही था, धान्य, गवादि पशु, घर-वार, खेत-खलिहान, हाथी, घोडे, ऊनी वस्त्र, मृग-चर्म आदि वे सभी वस्तुए धन के अतर्गत थी, जिनका समाज के लिए कोई आर्थिक महत्व होता था।[2] इस प्रकार उस युग में भी अर्थ से बहुत-कुछ वही आशय लिया जाता था, जो आधुनिक अर्थ-शास्त्रीय परिभाषा में लगाया जाता है—अर्थात प्रत्येक विनिमय-योग्य वस्तु अर्थ है।

राष्ट्र या व्यक्ति के जीवन मे अर्थ का महत्व भली भाति प्रकट था, जैसाकि लक्ष्मण के भाषण से स्पष्ट है—"अर्थ ही धर्म का मूल है। जैसे पर्वत से नदिया निकलती है, वैसे ही अर्थ से सब क्रियाए। अर्थहीन मनुष्य मदबुद्धि गिना जाता है, उसके सब काम बिगड जाते है, उसकी दशा ग्रीष्म-ऋतु के तालाब की-सी हो जाती है। जिसके पास सपत्ति होती है, उसीके मित्र और उसीके बधु होते है, वही पडित, पराक्रमी, बुद्धिमान और गुणी कहलाता है। धन के त्याग में दोष-ही-दोष है। जिसके पास धर्म और काम के लिए अर्थ वर्तमान है, उसके लिए सब कुछ उसके पास ही है। आनद, काम, दर्प, धर्म, क्रोध, शाति और दम, ये सब धन की ही सहायता से सिद्ध होते है" (६।८३।२१-३९)।

---

१. नरेंद्रनाथ लॉ—'स्टडीज इन इडियन हिस्ट्री एंड कल्चर', पृ० ८१
२. २।३३।१७-२१; २।७०।१९-२१

राजा की आमदनी का प्रमुख स्रोत 'बलि-षड्-भाग', प्रजा की आय का छठा हिस्सा था। उसे अपने सामतो से भी उपहार मिलते रहते थे।[1] राजाओ को खानो का भी कुछ लाभाश मिलता था। राम ने अयोध्या की खानो के बारे में जो पूछताछ की थी,[2] उससे कुछ ऐसा ही आभास मिलता है। विश्वामित्र ने राजा को 'रत्नहारी' कहकर यह सकेत दिया है कि उसका राज्य मे पाये जानेवाले रत्नो पर, अथवा प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तु पर, अथवा प्रत्येक लाभाश पर अधिकार रहता था। राजाओ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे **आयकर्मण्यपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित्** हो, अर्थात आमदनी के जरिये बढाने मे कुशल और खर्च करने की उचित मदो के जानकार हो (२।१।२६)। दशरथ के मत्री ब्राह्मणो और क्षत्रियो को कष्ट पहुचाये बिना राज्य-कोश भरा करते थे।[3] इससे प्रतीत होता है कि वैश्यो पर ही करो का अधिकतर बोझ पडता था।

राजकीय आय प्राय यज्ञादिक धार्मिक कृत्यो के सपादन मे, ब्राह्मणो और अभ्यागतो के आतिथ्य में, परिवार और मित्रो के सरक्षण मे तथा सेना को सुदृढ बनाने मे व्यय होती थी।[4] निरर्थक व्यय से राजा को बचे रहना चाहिए—**अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव** (२।१००।५४)।

भारत का शाश्वत एव चिर-अभ्यस्त उद्योग कृषि रामायण-युग में भी आजीविका का सर्वसामान्य साधन था। दशरथ की मृत्यु के बाद अयोध्या मे एकत्र होनेवाले वैश्यो को **कृषिगोरक्ष्यजीविनः** कहा गया है (२।६७।१८), अर्थात वे अपनी जीविका खेती और गो-पालन द्वारा चलाते थे। वाल्मीकि ने कोसल-राज्य की सपत्ति खेतो, लता-गुल्मो और गावो के रूप में (२।५०।८-११), तथा अयोध्या के नागरिको की समृद्धि उद्यानो, खेतो, भवनो और धन-धान्य के रूप में गिनाई है (२।३३।१७)। उत्तरकाड के अनुसार रामायण से पूर्व कृत-युग में कृषि-जैसे आजीविका के साधन हेय दृष्टि से देखे और 'अनृत' के नाम से पुकारे जाते थे;

---

१. १।५।१४; २।८२।८; ७।३६।८

२. **परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः** ।२।१००।४५

३. **ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन्** ।१।७।१३

४. **देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च। योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद् गच्छति ते व्ययः॥** २।१००।५५

किंतु त्रेता-युग में, जो रामायण का काल था, अनृत ही लोगो की प्रमुख जीविका बन गया (७।७४।१६-७)।

कृषि-उद्योग को राज्य की ओर से पर्याप्त सरक्षण प्राप्त था। राजा से कृषि-विषयक जानकारी की अपेक्षा की जाती थी। जिन आठ शासन-सबधी विषयो से राजा को परिचित रहना पडता था, उन्हे 'अष्टवर्ग' कहते थे (२।१००।६८) और इसमें कृषि का भी समावेश था। राजा का यह कर्तव्य था कि वह कृषको और गो-पालको के कष्टो का निवारण करे तथा उनकी सुख-समृद्धि के साधन जुटाये—**तेषा गुप्तिपरीहारै कच्चित्ते भरण कृतम्** (२।१००।४८)।

बालकाड में महाराज जनक के विषय में कहा गया है कि एक बार जब वह हल से यज्ञ-भूमि जोत रहे थे, तब उन्हे सीता की प्राप्ति हुई थी। इससे यह स्पष्ट है कि क्षत्रियो के लिए कृषि वर्जित नही थी और राज-समारोहो में राजा का हल चलाना एक अतिशय शोभा एव पुण्य का कार्य माना जाता था। क्योकि प्रत्येक यज्ञ-समारभ के लिए यज्ञ-भूमि का हल से शोधन करना आवश्यक था, अत कृषि का सबध यज्ञ-यागादिक से स्थापित हो गया और उसके आर्थिक महत्व में धार्मिकता का पुट जुड गया। राजाओ द्वारा हल चलाने की घटनाओ ने उन दिनो जन-मानस को बडा प्रभावित किया होगा, साथ ही, कृषि-उद्योग को भी एक असाधारण गौरव का पद मिल गया होगा।

राज्य की ओर से अन्न के सरकारी गोदाम बने रहते थे, जिन्हे 'धान्यकोश' कहा जाता था (२।३६।७)।

दशरथ और राम के शासन-काल में भारत कृषि की दृष्टि से समृद्ध और सुखी था। कोसल-राज्य के वर्णन में वाल्मीकि कहते है कि वह धन, धान्य और गौओ से परिपूर्ण तथा तालाबो, उद्यानो और आम्रवनो से युक्त था (२।४६)। सारे जनपद पूर्णकाम और दुग्ध आदि से सपन्न थे—**प्राज्यकामा जनपदा. सम्पन्नतर-गोरसा.** (३।१६।७)। वत्स-राज्य सुखी, सपन्न और धान्य की लहलहाती पक्तियों से सुशोभित था।[1] मागधी नदी हरी-भरी फसलवाले खेतो में होकर बहती थी (**सुक्षेत्रा सस्यमालिनी**, १।३२।१०)। लका का जल-वायु समुद्री हवाओ से प्रभावित होने के कारण समशीतोष्ण था और वहा की भूमि पर्याप्त वर्षा के कारण

---

१ **तत' समृद्धान् शुभसस्यमालिनः क्षणेन वत्सान् मुदितानुपागमत्** ।२।५२।१०१

बडी उपजाऊ थी।[1] भारत का दक्षिणी समुद्र-तट एक रमणीय वन-प्रदेश था, जहां 'तक्कोल' और 'जाति' नामक सुगधित फलो, तमाल के पुष्पो तथा 'मरीच' की झाडियो की बहुलता थी।[2]

कृषि की समृद्धि बहुत-कुछ जान-माल की सुरक्षा पर निर्भर करती है। एक ऐसे राज्य में जहा अराजकता फैली हुई हो, किसानो की दुर्दशा के अतिरिक्त क्या होगा? उन्हे यह विश्वास नही होता कि फसल की कटाई के समय हमें अपने परिश्रम का फल मिलेगा ही, इसलिए वे खेत की जुताई-बुवाई नही करते—**नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते** (२।६७।१०)। बिहार के मलद और करूष प्रदेश किसी समय दीर्घ काल तक बडे समृद्धिशाली और धन-धान्य से सुखी थे, किंतु राक्षसी ताटका के आतक के कारण उनकी सारी समृद्धि नष्ट हो गई और वे एक वीरान प्रदेश में परिणत हो गए।[3]

कोसल-राज्य के कृषको की सुख-सपत्ति का कारण प्रजा-पालक इक्ष्वाकु-नरेशो का उदार, न्यायपूर्ण एव धर्मपरायण शासन था। राम के पूर्वज राजा अनरण्य के समय में अयोध्या में न कभी कोई दुर्भिक्ष पडा, न अनावृष्टि हुई और न चोरो से ही कोई भय उत्पन्न हुआ।[4] राम-राज्य मे

सताता था न किसीको रोग, न होती कभी काल की मार,
प्रजा थी सुखी और संपन्न, विभव से भरे हुए भंडार।
न थी तूफानो से भीति, न होता चोरो का उत्पात,
न था दावानल का संताप, न होता बाढ़ो का आघात॥[5]

इस सुरक्षा के वातावरण के कारण कृषकगण अपने-अपने जनपदो में स्थायी

---

१. ५।३।३; ५।२।१२-४

२. तक्कोलानां च जात्यानां फलानां च सुगन्धिनाम्। पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि मरिचस्य च॥३।३५।२३

३. एतौ जनपदौ स्फीतौ दीर्घकालमरिन्दम। मलदाश्च करूषाश्च मुदिता धन-धान्यतः॥१।२४।२४-५; देशमुत्सादयत्येनम्।१।२५।१४

४. नानावृष्टिर्बभूवास्मिन्न दुर्भिक्षः सतां वरे। अनरण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन॥२।११०।१०

५. ६।१२८।९८-१००, १०२ का पद्यानुवाद।

रूप से वसे हुए थे (**सुनिविष्टजनाकुल**, २।१००।४३), और वे स्थान-परिवर्तन करने के अनिच्छुक रहे होंगे। आधुनिक अर्थ-शास्त्र की भाषा में इसे 'इमोबिलिटी आफ एग्रिकल्चरल लेवर' (कृषि-श्रमिको की अगतिशीलता) कह सकते हैं।

वाल्मीकि कहते है कि उन दिनो वर्षा समय पर और आवश्यक मात्रा में होती थी, खेत अनाज से भरे-पूरे थे, नगर धन-धान्य-पूरित थे तथा पृथ्वी पके धान से युक्त और सभी प्रकार की ओषधियो से सपन्न थी।[1] शरद-ऋतु के अत में पृथ्वी **सस्यमालिनी**, पके धान की मालाए पहनी जान पडती थी और देश की खाद्य-आवश्यकताए परिपूर्ण हो जाती थी। इस समय देहातो की छटा निराली हो जाती थी। सुख-समृद्धि का सर्वत्र प्रसार दीख पडता था। शिशिर-ऋतु में कहीं ज्वार और गेहू के कुहरे से छाये हुए खेत, सूर्योदय के समय क्रौंच और सारस पक्षियों के चहचहाने से, मनोहर प्रतीत होते थे, तो कही चावल के पौधे, जिनकी धान-भरी सुनहरी वालें खजूर के फूलो की तरह जान पडती थी, कुछ-कुछ झुके हुए वडे रमणीय लगते थे (३।१६।१६-७)। वन जाते समय राम रथ में वैठकर जिस प्रदेश में से होकर गए, उसका वर्णन इस वात का सूचक है कि उस समय देहातो की जनता कितनी सुसपन्न, सुखी और समृद्ध थी (२।४६)।

कृषि-प्रधान देहात ग्राम कहलाते थे तथा वडे शहर, जहा ग्रामो की कृषि-सपत्ति जाकर विकती थी, नगर कहलाते थे। वन जाते समय राम ऐसे ग्रामो के पास होकर निकले थे, जिनकी सीमा पर जुते हुए खेत थे (**ग्रामान् विकृष्टसीमान्तान्**, २।४६।३)। कृषि-प्रधान ग्रामो एव व्यापार-प्रधान नगरो की प्राय सन्निधि सूचित होती है, राम को वन में छोड देने के वाद सारथी सुमत्र नगरो और ग्रामो को देखते हुए लौटे थे--**पश्यन्यत्तो ययौ शीघ्र ग्रामाणि नगराणि च** (२।५७।४)। प्रतीत होता है कि अयोध्या के नागरिको के खेत नगर के वाहर या पास ही थे। तभी तो राम के वन-गमन के समय उन्होने कहा था कि हम अपने खेतो, घरो और वगीचो को छोडकर राम का अनुगमन करेंगे।[2] नगरो की इस निकटता के फलस्वरूप ग्रामो में खेती को प्रोत्साहन मिलता होगा। कृषको के लिए नगरो का सामीप्य

---

१. ७।४१।२०; ७।६६।१२; ६।१२८।१-२; ७।७०।१०; ३।१६।१५; ३।३५।२५-६; ७।५६(१)।८ इत्यादि।

२. उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च। २।३३।१७

आर्थिक दृष्टि से विशेष लाभदायक था, क्योकि अपनी उपज की विक्री के लिए उन्हे निकट ही सुलभ साधन मिल जाते थे।

यो तो राम-राज्य में भारत **दुर्भिक्षभयवर्जितः**, अकाल के भय से मुक्त था (१।१।९०), किंतु खेती के छ शत्रुओ की ओर जो सकेत हुआ है तथा राजा से उनके निवारण की जो अपेक्षा की गई है (२।१००।४४), उससे प्रतीत होता ह कि दुर्भिक्ष कोई असभव या सर्वथा अज्ञात घटना नही थी। वाल्मीकि ने अराजक स्थिति को देश में दुर्भिक्ष का एक कारण माना है। राम के पूर्ववर्ती युग के अकालो का भी वर्णन रामायण मे उपलब्ध होता है। इन दुर्भिक्षो का प्रधान कारण अनावृष्टि होता था, जिससे खेतो की फसल नष्ट हो जाती थी। दशरथ के समय मे उनके पडोसी राजा रोमपाद के अग-राज्य मे अनावृष्टि के कारण एक भयकर दुर्भिक्ष पडा था, जिससे सारी प्रजा त्रस्त एव व्यथित हो गई थी।[1] कहते है कि मुनिकुमार ऋष्यश्रृग के आगमन से इद्र ने अकस्मात वर्षा करके सर्वत्र प्रसन्नता का सचार कर दिया। ऐसे ही एक दुर्भिक्ष का वृत्तात ऋषि अत्रि ने राम को वन मे सुनाया था। यह दुर्भिक्ष अतीत के दिनो में लगातार दस वर्ष तक पडा, जिससे पृथ्वीजल गई थी।[2] उत्तरकाड के अनुसार इद्र के अतर्धान होने पर एक भीषण अकाल पडा, जिसके कारण पृथ्वी सत्वहीन हो गई, उसकी उत्पादन-शक्ति नष्ट हो गई, वन उजड गए, जलाशय सूख गए तथा समस्त प्राणी मृतप्राय हो गए। अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान से ही पृथ्वी की श्री-सपत्ति पुन लौटी थी।

खेतो की सिंचाई मुख्यत वर्षा के जल पर निर्भर करती थी, जैसाकि वर्षा की प्रतीक्षा करते हुए किसानो से सबधित अनेक उपमाओ एव उत्प्रेक्षाओ के प्रयोग से प्रकट है।[3] फिर भी अनावृष्टि और दुर्भिक्ष से बचने के लिए सिंचाई के कृत्रिम साधनो का उपयोग किया जाता था। रामायण-काल में भी आज की तरह दो फसले होती थी, एक खरीफ की फसल, जो वर्षा के जल पर निर्भर करती थी, और दूसरी

---

१. तस्य व्यतिक्रमाद्राज्ञः भविष्यति सुदारुणा। अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोक-भयावहा ॥१।९।८-९

२. दशवर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ।२।११७।९

३. त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ।२।११२।१२; २।३२।१३ भी देखिए।

रबी की फसल, जो अन्य प्रकार की सिंचाई से बढाई जाती थी। सिंचाई की दृष्टि से खेत दो भागो में विभाजित थे। जो खेत कृत्रिम साधनो से सीचे जाते थे, वे 'अदेवमातृक' या 'नदीमातृक' कहलाते थे, जबकि वर्षा पर निर्भर रहनेवाले खेत 'देवमातृक' कहलाते थे। कोसल-राज्य के खेतो को 'अदेवमातृक' कहा गया है (२।१००।४५), अर्थात उनकी पैदावार वर्षा के जल पर निर्भर नही थी। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि किसानो को सिंचाई के कृत्रिम साधन उपलब्ध थे।

सिंचाई के मुख्य साधन बडे जलाशय, छोटे तालाब, नदिया और कुए थे। कोसल-राज्य में तालाबो की अधिकता थी (**तटाकैश्चोपशोभितः**, २।१००।४३)। यदि खेत में कोई क्यारी सूखी हो और उसके पास ही दूसरी क्यारी जल से पूर्ण हो तो पहली क्यारी सन्निकटताजन्य जलीयता के प्रभाव से अपने पौधो को सीच लेती थी।[1] वर्षा में नदी की बाढें तटवर्ती प्रदेश को उपजाऊ बना देती थी।[2] गोमती नदी के किनारे अनेक जलीय स्थल थे, जो गौओ के चरागाहो के काम आते थे।[3] स्पष्टत ये स्थल नदी की वर्षाकालीन बाढो के कारण बन गए होगे और वहा गौओ के चरने-योग्य भूमि बन गई होगी। हिमालय से निकलनेवाली सरयू नदी बारहो मास बहा करती थी, और सरयू का तटवर्ती देश होने के कारण कोसल-राज्य में सिचाई एव अन्य प्रयोजनो के लिए जल की पर्याप्त उपलब्धि रहती होगी तथा वहा के किसान एक-मात्र वर्षा-जल पर निर्भर नही रहते होगे।

नहरो, जलाशयो, कुओ, पुलो, बाधो आदि के निर्माता 'यत्रक' कहलाते थे (२।८०।१)। उनका निर्माण राज्य की ओर से किया जाता था। नहर या नाली को 'प्रणाली' और बाध को 'रोधस्' कहते थे। अयोध्या से शृगवेरपुर तक के मार्ग-निर्माण के समय यत्रक कारीगरो ने भरत के आदेशानुसार थोडे ही समय में अल्प जलवाले झरनो का जल रोकने के लिए बाध बना दिये, जिससे वे विविध आकारवाले अगाध जलयुक्त तालाबो में परिणत हो गए।[4] जहा जल का अभाव था, वहा

---

१. केदारस्येव केदारः सोदकस्य निरूदक.। उपस्नेहेन जीवामि ॥६।५।११

२ तुलना कीजिए—प्रावृषीव महानद्या स्पृष्टकूलं नवाम्भसा।२।२०।४६

३ गोमतीं गोयुतानूपाम् (गोयुक्तजलप्रदेशविशिष्टाम्)। २।४६।१०

४. अचिरेण तु कालेन परीवाहान्बहूदकान्। चक्रुर्विविधाकारान्सागरप्रतिमान्बहून् ॥२।८०।११

उन्होने अनेक नये कुए और तालाव खोदे और उनके सस्ते लोगो के विश्राम के लिए चवूतरे वना दिये।[1] नदियो का जल सग्रह करने के लिए उन्हे बन्धो से रोका जाता था, जैसाकि 'टूटे हुए बाधवाली नदी के समान' (नदीं विस्रावितामिव)[2] जैसी उपमाओ से सूचित होता है। वर्षा-काल में जल के वेग से सेतुओ के टूट जाने का भी वाल्मीकि ने उल्लेख किया है—महताम्बुवेगेन भिन्नसेतुर्जलागमे (२।१०५।५)। दशवर्षीय दुर्भिक्ष के समय अनसूया ने गगा की धारा वहाकर (उसका प्रवाह बदलकर) प्रजा की प्राण-रक्षा की और फल-मूलो की उत्पत्ति कराई थी। इन सभी उल्लेखो से यह अत्यत सभव जान पड़ता है कि रामायण-कालीन आर्य जल-सग्रह के कृत्रिम साधनो से पूर्णतया अवगत थे, जिनका उपयोग वे कृषि को समृद्ध वनाने में करते थे।[3]

---

१. निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान्। उदपानान्बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान् ॥२।८०।१२

२. विस्रावितां रोधोभंगादिना अननिर्गमितजलामित्यर्थः। ५।१६।१५ पर गोविंदराज की टीका।

३. हजार बाहोवाले कार्तवीर्य अर्जुन का नर्मदा में क्रीड़ा करना कहीं अनेक स्तंभोवाले बांध के निर्माण का रूपकात्मक वर्णन तो नहीं है? सहस्रबाहु को देखकर राक्षसो ने रावण से कहा था—

वहुसालप्रतीकाशः कोऽप्यसौ राक्षसेश्वर।
नर्मदां रोगवद्रुद्ध्वा क्रीडापयति योषितः।
तेन बाहुसहस्रेण क्रीडापयति योषितः ॥७।३२।१८-९

'हे राक्षसेश्वर, अनेक साल वृक्षो के समान यह भीमकाय (पुरुष) कौन है, जो नर्मदा को बाध की तरह रोककर स्त्रियो के साथ क्रीड़ा कर रहा है?' यह भी कहा गया है कि जल के इस प्रकार अचानक रुक जाने से नदी का प्रवाह उलटा चलने लगा था और उसमें समुद्र के समान बाढ़ आ गई थी —

कार्तवीर्यभुजासक्तं तज्जलं प्राप्य निर्मलम्।
कूलोपहारं कुर्वाणं प्रतिस्रोतः प्रधावति ॥७।३२।५
तेन बाहुसहस्रेण संनिरुद्धजला नदी।
सागरोद्गारसंकाशानुद्गारान्सृजते मुहुः ॥७।३२।१९ (शेष आगे)

उपयोग की दृष्टि से भूमि चार भागो में विभाजित थी—(१) निवास-भूमि (नगरो और ग्रामो-जैसे बस्तीवाले प्रदेश जिन्हे पुर और राष्ट्र कहते थे), (२) कृषि-भूमि (क्षेत्र), (३) गोचर-भूमि या चरागाह (शाद्वल) तथा (४) वन-प्रदेश (कानन), जिसमें वजर (ईरिण या ऊषर) भूमि भी सम्मिलित थी। सारी भूमि का स्वामी राजा होता था।[1] प्रजा द्वारा राजा को 'बलि' या कर देना राजा के भूमि-स्वामित्व का सूचक है।

खेत को 'क्षेत्र' या 'केदार' कहते थे। खेत के झाड-झखाडो की सफाई (शोधन) के बाद जुताई (कर्षण) की जाती थी। आज की भाति तब भी दुरात्मा कृषक द्वारा निर्दयतापूर्वक पीटे जानेवाले तथा सूर्य की गर्मी में झुलसनेवाले दुबले बैलो की दीन दशा का मार्मिक वर्णन हुआ है।[2] बुवाई के लिए मुट्ठी में बीज भर-भर कर खेत में फेंके जाते थे (**बीजमुष्टि· प्रकीर्यते**, २।६७।१०)। हल से जुती हुई खेत की पक्ति (कूड) को 'सीता' कहा जाता था। हेमत-ऋतु में धूप के कारण श्याम-वर्ण हुई सीता कुहरे के कारण धुधली पडी चादनी की शोभा धारण कर लेती थी—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्या न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते ॥३।१६।१४

खेत की बुवाई का उपयुक्त समय वर्षा-ऋतु था। उपजाऊ खेत में वर्षा-काल मे बोया हुआ बीज अवश्य फलीभूत होता है।[3] हवा और घाम से नष्ट हुए बीज वर्षा होने पर पुन हरे-भरे हो जाते हैं।[4] सामयिक और अच्छी वर्षा (सुवर्ष)

समस्त वर्णन के आधार पर यह अनुमान निरर्थक नहीं जान पड़ता कि कार्तवीर्य अर्जुन ने नर्मदा पर कोई बाध बधवाया होगा, जिसका कवि ने रूपक-शैली में वर्णन किया है (देखिए—अखिल भारतीय प्राच्य परिषद के सप्तम अधिवेशन के विवरण में श्री विष्णु करदीकर का 'नर्मदा घाटी की सभ्यता' शीर्षक लेख)।

१. तुलना कीजिए—इक्ष्वाकूणामिय भूमि. सशैलवनकानना ।४।१८।६

२. तुलना कीजिए—एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ । बध्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण दुरात्मना ॥२।७४।३३

३. तुलना कीजिए—वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्व सम्पद्यते तव ।४।७।२०

४. तुलना कीजिए—वाततपक्लान्तमिव प्रणष्टं वर्षेण बीज प्रतिसजहर्ष । ५।२९।६

खेती के लिए विशेष लाभदायक थी (अथवा, एक पाठातर के अनुसार, वर्षा की तीन झडिया—त्रिवर्ष—खेती के लिए अनुकूल मानी जाती थी)।[1] कर्म-फल की भाति धान्य के पकने मे भी समय लगता है।[2] आधे उगे हुए धान्यवाली भूमि मे वर्षा वडी हितकर होती है।[3]

चावल के खेत को 'कलम-क्षेत्र' कहते थे। किष्किधाकाड में एक ऐसे कलम-क्षेत्र का उल्लेख किया गया है, जिसमें वर्षा के कारण कोपलें फूट रही हैं—**प्रसूतं कलमक्षेत्रं वर्षेणेव शतक्रतुः** (४।१४।१६)। चावल की दो फसले होती थी, एक तो शरद-ऋतु की व्रीही की फसल, जो लगभग कार्तिक मास मे काटी जाती थी, और दूसरी हेमत-ऋतु की फसल, जो लगभग फाल्गुन मास मे काटी जाती थी। शरद और शिशिर ऋतुओ के वर्णन में राम ने पके हुए धान की वालो और फसलो की पक्ति से युक्त पृथ्वी की ओर सकेत किया है।[4]

खेती के शत्रुओ का उल्लेख राम ने हिंसाओ के रूप में किया है (२।१००।४४)। टीकाकारो ने इन हिसाओ का अर्थ छ 'ईतिया' किया है, जिनके अतर्गत अनावृष्टि, वाढ, चूहे, पक्षी, टिड्डिया तथा शत्रुओ के आक्रमण गिने जाते है।

किसान लोग खेती में निम्नलिखित औजारो और वस्तुओ का उपयोग करते थे—

कठिनकाज (२।५५।१७)—गेदी और चमड़े का थैला।
कलश (२।६३।३८)—घडा।
कुठार (२।८०।७)—कुल्हाडी।
कुद्दाल (२।३२।२६)—कुदाल।
कुंभ (२।६४।१५)—गागर।
क्षुर (२।१२।१०)—छुरा।

---

१. तुलना कीजिए—अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष (त्रिवर्ष) इव लालयन्। २।४३।१६
२. कालोऽप्यगीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये ।३।४६।२७
३. तुलना कीजिए—त्वां दृष्ट्वा प्रियवक्तारं संप्रहृष्यामि वानर। अर्धसंजातसस्येव वृष्टिं प्राप्य वसुन्धरा ॥५।४०।२
४. विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा प्रहर्षिता सारसचारुपक्तिः ।४।३०।४७

खनित्र (२।३१।२५)—फावडा।
टक (२।८०।७)—टाकी।
दात्र (२।८०।७)—दराती।
परशु (२।३२।३२)—फरसा।
पिटक (२।३१।१५)—टोकरी।
फाल (२।३२।२९)—हल के नीचे लगा हुआ छड।
लागल (१।४०।२७)—एक प्रकार का हल।
शूल (१।३९।१९)
हल (१।३९।१९)

ऋग्वेद के समय की कृषि-व्यवस्था को देखते हुए रामायण-काल में कृषि की स्थिति पर्याप्त उन्नत हो चुकी थी। यद्यपि वाल्मीकि ने तत्कालीन खेती की प्रणाली और उत्पादन के विषय में अधिक जानकारी नही दी है, तथापि रामायण में विविध प्रकार के खाद्य-पदार्थों के उल्लेखो से तथा उनकी बहुलता के वर्णनो से प्रतीत होता है कि आर्य लोग अनेक प्रकार के अन्नो का प्रचुर मात्रा में उत्पादन करते थे। जब पार्वती ने पृथ्वी को 'नैकरूपा' (१।३६।३३), अनेक रूपोवाली हो जाने का शाप दिया, तब उन्होने प्रकारातर से पृथ्वी की विविध पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमता भी स्वीकार की। वृत्र के शासन-काल की कृषि-समृद्धि का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने पृथ्वी को 'सर्वकामदुघा' (७।८४।७) अर्थात सभी इच्छाओ को तृप्त करनेवाली बताया है। इस प्रकार उन्होने स्वीकार किया है कि राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति कृषि-उद्योग की समृद्धि पर निर्भर है।

कृषि के सहकारी धधे के रूप में फलो के बगीचे लगाने का उद्योग भी बहुत प्रचलित था। अशोकवाटिका के वर्णन से तत्कालीन उद्यान-विद्या का पर्याप्त आभास मिलता है। सुग्रीव का मधुवन एक समृद्ध फलोद्यान था, जिसकी बडे ध्यान से देखभाल की जाती थी (५।६१-२)। क्योकि उद्यानो को ऐसे वृक्षो से युक्त बताया गया है, जिनमें सभी ऋतुओ के फल-फूल लदे रहते थे,[1] अत फलोद्योग की उन्नतावस्था सूचित होती है। रामायण में इतनी विविध प्रकार की वनस्पतियो—पुष्प-वृक्षो, छाया-

---

१. सर्वकामफला वृक्षाः सर्वे फलसमन्विताः। ६।२७।३६; सर्वकामफलद्रुमाः। ६।२७।३४, नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः।६।१२८।१०२

वृक्षो, फल-वृक्षो तथा दारु-वृक्षो—के नाम आये है कि उनकी एक बड़ी लंबी सूची बन सकती है। यदि इतिहास और वनस्पति-विज्ञान की दृष्टि से उनका अध्ययन किया जाय तो प्राचीन भारत की वनस्पति-विद्या पर भरपूर प्रकाश पडेगा।[1]

कृषि और पशु-पालन दोनो परस्पर पूरक धधे थे। रामायण-काल मे पशु-प्रधान गाव को 'घोप' कहा जाता था। ग्राम-घोषो का रामायण मे प्राय सयुक्त उल्लेख हुआ है, जिससे इन दोनो प्रकार की बस्तियो की निकटता तो सूचित होती ही है, कृपि और पशु-पालन की पारस्परिक निर्भरता का भी सकेत मिलता है।

पशु-पालन मे सर्वापेक्षा अधिक महत्त्व गो-पालन का था। गो-पालन देहाती क्षेत्रो तक ही सीमित नही था, शहरी क्षेत्रो में भी गौओ की बहुतायत थी। अयोध्या नगरी हाथी, घोडो, गौओ, ऊटो तथा गधो से भरी पडी थी—**वाजिवारणसम्पूर्णा गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा** (१।५।१३)। कहा जाता है कि जिस दिन राम ने वन को प्रस्थान किया, उस दिन अयोध्या मे गौओ ने अपने बछडो तक को दूध नही पिलाया —**गावो वत्सान्न पाययन्** (२।४१।९)।

रामायण में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमे ब्राह्मण-याचको को असख्य गौए दान में दी गई है। इससे यह स्पष्ट है कि देश मे गोधन का बाहुल्य था। वन-प्रयाण करते समय राम ने मार्ग में तमसा तथा गोमती नदियो के किनारो पर गौओ के झुड-के-झुड चरते देखे थे। कोसल-प्रदेश 'पशुमान्' अर्थात ढोरो से भरा-पूरा था। लाखो और करोडो गौओ की उपस्थिति का स्थल-स्थल पर उल्लेख मिलता है। राजा स्वय गो-पालन एव गो-सवर्धन करता था। राम ने भरत से चित्रकूट पर पूछा था—**कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः**—"तुम्हारे पास विपुल गोधन है?" (२।१००।५०)।

गो-शालाओ को 'प्रत्यागार' तथा गो-समूह को 'गोकुल', 'गोयुत' अथवा 'गोव्रज' कहा जाता था। ग्वाले को 'गोपाल' और चरागाह को 'शाद्वल' कहते थे।[2] भरद्वाज के आश्रम मे भरत के सैनिको को चारो ओर पशुओ के लिए ऐसे विस्तृत चरागाह दिखाई पडे थे, जिन पर नीली वैदूर्य-मणि के समान नरम-नरम घास जमी थी—

---

१. देखिए शिवदास चौधरी—'कान्कार्डन्स आफ दि फौना इन दि रामायण' ('इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली', २८।२ से ३०।२ तक)

२. देखिए क्रमशः २।४०।४३; २।४६।१७; २।४९।१०; २।३२।३९; २।६७।२९ ३।१६।२०

नीलवैदूर्यवर्णाश्च मृदून्यवससंचयान्।
निर्वापार्थं पशूना ते ददृशुस्तत्र सर्वशः ॥२।९१।७९

आर्थिक दृष्टि से गो-पालन का विशेष महत्त्व था। बैलो को हल चलाने के काम में लिया जाता था। उन पर सवारी भी की जाती थी तथा उन्हें देहाती गाडियो (गो-रथो) में जोता जाता था। दूसरी ओर, गौए पारिवारिक एव धार्मिक क्रियाओ के लिए दूध-दही-घी सुलभ करती थी। आज की तरह तब भी ढोरो का गोवर ईंधन के रूप में जलाने के काम आता था। भरत ने चित्रकूट-स्थित राम की कुटिया में उपलो के ढेर लगे देखे थे, जो सर्दी से बचने के लिए जलाये जाते थे।[1] राष्ट्र की उन्नति में ग्वालो के योग-दान को राम ने स्वीकार किया था।

गो-सवर्धन मनोयोग से किया जाता था। समूचे कोसल-राज्य में व्यापक रूप से गौओ की नस्ल-सुधार का कार्य होता था। गो-समूहो के बीच विचरते हुए मस्त गो-वृषो (साडो) का कई जगह उल्लेख आया है।[2] प्रतीत होता है, गो-वश की वृद्धि के लिए चुने हुए साड ही नदी-तटो पर चरती हुई गौओ के साथ रखे जाते थे।

वैदिक काल की भाति रामायण के युग में भी गौओ को छीनकर भगा ले जाने की प्रथा प्रचलित थी। वसिष्ठाश्रम की कपिला गौ को राजा विश्वामित्र बलपूर्वक हर ले जाना चाहते थे, किंतु आश्रम में रहनेवाले शक, यवन, पह्लव और अन्य बर्बर लोगो ने प्रत्याक्रमण करके उन्हे मार भगाया। ये लोग सभवत आश्रम के गो-धन की रक्षा के लिए नियुक्त किराये के भृत्य थे (१।५४)।

गौ और बैल के बाद राष्ट्र के आर्थिक जीवन में घोडे का प्रमुख स्थान था। घोडो की अच्छी नस्ल तैयार करने का विशेष ध्यान रखा जाता था। राम के घोडे श्रेष्ठ नस्ल के शीघ्रगामी तुरग थे।[3] भरत के चित्रकूट आने पर उन्होने

---

१. ददर्श भवने तस्मिन् महत संचयान् कृतान्। मृगाणा महिषाणा च करीषैः शीतकारणात् ॥२।९९।७

२. मदोत्कटा सम्प्रति युद्धलुब्धा वृषा गवा मध्यगता नदन्ति। ४।३०।३८; ४।२३।२६, २।११४।९ भी देखिए।

३. वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरंगमाः।२।४५।१४

दूर से ही अपने पिता के मनोहर, वायु के समान वेगवाले तथा अच्छी नस्ल के घोड़े पहचान लिये थे।[1]

विशिष्ट कार्यों के लिए घोडों की विशेष नस्लें तैयार की जाती थीं। अश्व-सेना के घोडों को सामरिक प्रशिक्षण दिया जाता था। राम-जैसे राजकुमारों को अश्वारोहण की शिक्षा मिली हुई थी। सामरिक रथों में जोते जानेवाले घोडे 'साग्रामिक हय' कहलाते थे, उन्हें रण-भूमि के शोरगुल को सहन करने तथा निर्दिष्ट गति-विधि करने की शिक्षा दी जाती थी। इन्द्रजित के युद्ध-रथ में 'विधेय अश्व' (प्रशिक्षित घोडे) जुते थे, सारथी के मर जाने पर उन्होंने रण-क्षेत्र में चतुराई-भरी हलचलें करके सबको विस्मय में डाल दिया था।[2] रावण के महारथ को 'विनीत' (सिखाये हुए) अश्व हाकते थे। सामरिक अश्वों को सोने के आभूषणों से सजाया जाता तथा कवचादि से सुरक्षित रखा जाता था। आमोद-प्रमोद के काम में आनेवाले पुष्परथ, राजकीय रथ तथा सामान्य रथ में जोते जानेवाले घोडों को भी तदनुरूप प्रशिक्षण दिया जाता था। वेगवान पहाडी घोडे (पार्वतीय तुरगम) जमाकर पैर रखते थे और ऊबड-खाबड जमीन पर काम में लाये जाते थे। पर्वतीय प्रदेश में रथ हाकने में उपयुक्त होने के कारण उनका भरत ने, केकय से अयोध्या लौटते समय, उपयोग किया था। घोडों का सबसे इष्ट गुण उनकी त्वरित गति थी। तेज चालवाले घोडों की अलग नस्लें तैयार की जाती थीं। भरत को केकय से बुला लाने के लिए जो दूत भेजे गए थे, उनके घोडे विशेष रूप से तेज (समत) थे।[3]

घोडों की उत्तम नस्लें तैयार करने का काम विशिष्ट प्रदेशों में होता था (देशजात, कुलज)। उन दिनों की श्रेष्ठ अश्व-जातियों में कम्बोज (तारतार), बाल्हीक (बैक्ट्रिया), नदीज (सिंध) और वनायु (अरब) के नाम उल्लेखनीय हैं (१।६।२२)। सभवत ये नस्लें पडोसी देशों से आयात की जाती थीं।

---

१. एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोवन्तौ मनोरमौ। वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ ॥२।६७।२४

२. अमूतास्ते हयास्तत्र रथमूहुरविक्लवाः। मण्डलान्यभिधावन्ति तदद्भुतमिवाभवत् ॥६।६०।२८-६

३. हयानाशु समंतान्। २।६८।१० (जवनत्वेनाध्वश्रमसहत्वेन च समंतान्—गोविंदराज)।

सेना के विविध विभागो मे ऊटो की भी एक टुकडी होती थी। रावण की सेना में उष्ट्र-सवारो का एक विभाग था (६।५३।५)। रथो में भी ऊट जोते जाते थे (उष्ट्र-रथ)। ऊट किस प्रदेश के प्राणी थे, इसका उल्लेख नही किया गया है।

अश्वतरी (खच्चर) शाति और युद्ध दोनो कालो में बोझा ढोने या खीचने के काम आती थी। गधो से भी रथ हकवाये जाते थे। रावण के रथ में जुते गधो के मध्य भाग सोने के 'उरश्छद' (जिरहबख्तर) से सुरक्षित थे और उन्हे पिशाचो के-से कनटोप पहनाये गए थे—**काचनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदना खरा.** (३।६४।४६)। शीघ्रगामी गधो की नस्ल सभवत केकय देश की विशेषता थी।

केकय में शक्तिशाली, खूखार कुत्तो की नस्ल होती थी। वे राजप्रासादो की भीतरी कक्ष्याओ में परिपुष्ट किये जाते थे। वे ऊचे डीलडौलवाले, बाघो की तरह बल-वीर्य-सपन्न तथा बडे-बडे दातवाले होते थे। ऐसे कुत्तो का केकयराज ने भरत को उपहार दिया था।[1]

नागरिक और सामरिक दोनो प्रकार की आवश्यकताओ के लिए तथा राजकीय वैभव और समृद्धि के प्रदर्शन में हाथियो का अनिवार्यत उपयोग होता था। अपने उदार, सौम्य और भव्य स्वरूप के लिए हाथी मूल्यवान होते थे। अच्छी नस्ल के हाथी सावधानी से पाले जाते थे। उनके सरक्षण और सवर्धन के लिए राजाओ के पास विशाल वन होते थे, जो 'नागवन' कहलाते थे। उनकी सुरक्षा और देखभाल के लिए चित्रकूट पर राम ने भरत का ध्यान आकर्षित किया था—**कच्चिन्नागवन गुप्तम्** (२।१००।५०)।

जगली हाथियो को पकडने और उन्हे पालतू बनाने की नियमित व्यवस्था थी। इसमे पहले से पालतू बनाये गए हाथियो का सहयोग लिया जाता था। हथिनियो से भी उन्हे फसाया जाता था। रात के समय बहुत-से लोग मशालें लेकर जगली हाथियो का पीछा करते और उन्हे तिनको से ढके कुओ में खदेड देते थे। तोमरो और अकुशो से भी हाथी को घायल करके जमीन पर गिरा दिया जाता था। बंदी

---

१. **अन्तःपुरेऽतिसवृद्धान् व्याघ्रवीरवलोपमान्। दष्ट्रायुक्तान्महाकायान् शुनश्चोपायन ददौ ॥२।७०।२०**

बनाने के बाद हाथी को रस्सियो से बाध दिया जाता था।[1] रावण के चगुल में फसी सीता की तुलना उस गजराजवधू से की गई है, जो अपने यूथपति से बिछुड़ गई है, जो पकडकर खभे से बाध दी गई है तथा जो लबी-लबी उसासें भर रही है—

गृहीतां लाडितां स्तम्भे यूथपेन विनाकृताम्।
निःश्वसन्तीं सुदुःखार्तां गजराजवधूमिव ॥५।१९।१८

महावत लोग 'महामात्र', हाथियो की देखभाल करनेवाले नौकर 'कुजरग्रह' या 'हस्तिवधक' और गज के स्वामी 'हस्त्यध्यक्ष' कहलाते थे। युद्ध मे हाथियो की रक्षा के लिए चमडे की ढालें हुआ करती थी। हाथियो को विपक्षी हाथियो से टक्कर लेने की शिक्षा दी जाती थी। साठ वर्ष की आयुवाले (**षष्टिहायनाः**) हाथी बहुमूल्य और अतिशय बल के प्रतीक माने जाते थे। रावण के यहा हनुमान ने दो, तीन और चार दातोवाले हाथी देखे थे—**चतुर्विषाणैर्द्विरदैस्त्रिविषाणैस्तथैव च... परिक्षिप्तम्** (५।९।५)।

हिमालय तथा विंध्य पर्वतो की तराइया अच्छी नस्ल के हाथियो के लिए प्रसिद्ध थी। वहा के हाथी पर्वत के समान विशाल, मदोन्मत्त और अत्यत बलवान होते थे, उनके मस्तक पर से निरतर मद चूता रहता था।[2] अयोध्या नगरी में ऐरावत-कुल, महापद्म-कुल, आजन-कुल और वामन-कुल, इन नस्लो के श्रेष्ठ हाथी विद्यमान थे (१।६।२४)। ऐरावत और इद्रशिर पर्वतो की गज-जातियो को 'प्रियदर्शन' कहा गया है।[3]

पशुओ से प्राप्त होनेवाले पदार्थो से अनेक कुटीर-उद्योग चलाये जाते थे। दुग्ध-पदार्थ बनाने का कुटीर-उद्योग देहातो मे प्रचलित था। ग्वालो के घोष बडे समृद्ध थे। हेमत-ऋतु का वर्णन करते हुए लक्ष्मण ने देहातो को दुग्ध और दुग्ध-पदार्थों से भरपूर बताया था। शाकाहार के व्यापक प्रचलन के कारण दूध और दूध से बने पदार्थों की बडी माग रही होगी।

---

१. देखिए ३।५५।३१; ६।१६।६-८; ५।४७।२०; २।२१।५४; ६।१३।१९; ६।२४।३८; २।७४।३५; ५।१।६४

२. विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि। मदान्वितैरतिबलैर्मातगैः पर्वतोपमैः॥ १।६।२३

३. ऐरावतान्नैन्द्रशिरान्नागान्वै प्रियदर्शनान्।२।७०।२३

हाथी-दात का उद्योग भी काफी उन्नत था। इस काम में लगे कारीगर 'दतकार' कहलाते थे। रथो, सिंहासनो, शयनासनो तथा राजमहलो में हाथी-दात की पच्चीकारी की जाती थी। धनी वर्गों में इसकी बडी माग थी। कैकेयी का महल हाथी-दात की चौकियो तथा आसनो से सपन्न था।[1] लका के प्रासादो में हाथी-दात के खभे और झरोखे थे, जिन पर सोने की जालिया पडी थी।[2] रावण के रथ में हाथी-दात की प्रतिमाए थी।[3] उसके कमरे में स्फटिक का फर्श था, जिसके जोडो में हाथी-दात जडा था (**दन्तान्तरितरूपिकाम्**, ५।६।२३)। कुभकर्ण के महल का तोरण हाथी-दात की चित्रकारी से सज्जित था (**दान्ततोरणविन्यस्तम्**)। स्पष्ट है, हाथी-दात के उद्योग मे कई शिल्पी लगे होगे।

व्याघ्र-चर्म, सिंह-तनु और मृग-चर्म या अजिन ओढने-विछाने के बहुत काम आते थे, जिससे चमडा कमाने की कला का ज्ञान प्रमाणित होता है। शय्या, रथ और सिंहासन पर वे प्राय बिछाये जाते थे। धार्मिक क्रियाओ में मृग-चर्म का ही अधिकतर प्रयोग होता था। मृग-चर्म में कभी-कभी सोने की कशीदाकारी की जाती थी।[4] केकय देश का मृग-चर्म उत्कृष्ट माना जाता था। मुलायमियत, रग-विरगापन और सोफियानापन अच्छे मृग-चर्म के लक्षण थे। कदली, प्रियकी, प्रवेणी और आविकी की किस्में अच्छी होती थी (३।४३।३५-६)। बकरे की खाल 'अजाविक' कहलाती थी। चमर-मृग के बालो से चवर बनाये जाते थे, जिन्हें 'चामर-व्यजन' (२।३।११) या 'व्याल-व्यजन' (२।९१।३९) कहते थे। मृगो से कस्तूरी भी प्राप्त की जाती थी। 'आर्षभ चर्म' अर्थात बैलो की खाल का कई प्रकार से उपयोग किया जाता था। बैल की खाल की ढाले राक्षस और विद्याधर जाति के लोग

---

१. **दान्तराजतसौवर्णैर्वेदिकाभि समायुतम्**। २।१०।१४; **दान्तराजतसौवणः संवृत परमासनै** ।२।१०।१५

२. **दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैस्तथा। स्तम्भैर्दृष्टिमनोरमैः**।३।५५।८, **दान्तका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शना। हेमजालावृताश्चासस्तत्र प्रासादपक्तय** ॥३।५५।१०

३. **दान्तकाचनराजती. (दन्तादिमयीः प्रतिमा सन्धारयद्भि रयैरिति शेषः)**। ५।६।५

४. **तेषु कांचनचित्रेषु मृगचर्मयुतेषु च** ।७।१।१४-५

काम मे लाते थे।[1] मृग-चर्म के स्थान पर लका के राक्षस-तपस्वी 'गोजिन' (बैल का चर्म) धारण करते थे (५।४।१५)। हाथी के चमडे से बना रग-बिरगा ऊनी कालीन 'कुथा' कहलाता था। रावण के अनुचर चमडे की ढालें व्यवहार में लाते थे (**असिचर्मधरा योधाः**, ६।११।५)।

वनो (अरण्यो या काननो) की उपज से पूरा आर्थिक लाभ उठाया जाता था। वाल्मीकि के समय मे दक्षिण भारत का अधिकाश घने जगलो से व्याप्त था। वनो पर राजकीय अधिकार होता था, और समाज के लिए उनका अत्यधिक आर्थिक महत्व था। ताम्रपर्णी नदी के द्वीपो पर चदन के वन थे। गोचर-भूमि और श्मशान-भूमि के रूप में वनो का उपयोग होता ही था। ईंधन के वे अटूट स्रोत थे। कुल्हाडी से पेडो की लकडी काटने के अनेक उल्लेख मिलते है।[2] वनो से अपनी आजीविका चलानेवाले **वनजीवनाः** (२।८।३०) या **वनोपजीविनः** (२।५४।७) कहलाते थे। गृहो, रथो, शयनासनो, यज्ञ-सबधी सामग्रियो इत्यादि के निर्माण में वनो का अधिक-से-अधिक उपयोग किया जाता था। साल, औदुबर, वेणु, ताल और देवदारु वृक्ष लकडी की दृष्टिसे वि शेष उपयोगी माने जाते थे।

जगली पेडो से 'आरण्यक मधु' (जगली शहद) प्राप्त किया जाता था। उनसे 'निर्यास' नामक पदार्थ भी इकट्ठा किया जाता था। वह पेडो और पौधो का रस होता था, जो बहकर उनके तनो के पास इकट्ठा होकर गोद की तरह जम जाता था। ऐसे गोदो का भी उल्लेख मिलता है, जिनका सुगधियुक्त वस्तुओ के निर्माण मे उपयोग होता था।[3] ऋषि-मुनि अपनी जटाओ में बड का दूध (न्यग्रोध-क्षीर) लगाते थे। वनो के फल-मूलो का वनजीवियो तथा अरण्यवासी तपस्वियो के लिए आहार की दृष्टि से बडा महत्त्व था। समुद्र-वर्ती प्रदेश के वृक्षो से मरीच (काली मिर्च) और पिप्पली (पीपर)-जैसी मिर्च, तक्कोल और नारिकेल-जैसे फल, तमाल-जैसे पत्ते तथा खजूर-जैसे मेवे प्राप्त होते थे। चदन और केसर-जैसे पदार्थ, जिनका नागरिको के सौदर्य-प्रसाधनो मे उपयोग होता था, वन से ही प्राप्त होते थे। वनवासी मुनि लोग पेडो की छालो का वल्कल-वस्त्र के रूप मे उपयोग करते

---

१. ६।५४।३०, ५।१।२४

२. २।८।३०; २।२०।३२; २।७२।२२ इत्यादि।

३. **निर्यासरसमूलानां चन्दनानां सहस्रशः** ।३।५५।२१

थे। राजकीय आसनो का वर्णन करते समय उन्हे वेंत के जालो से ढका बताया गया है (**कुशान्तर्धानदत्तेषु आसनेषु**, ७।१।१५), जिससे अनुमान होता है कि वेंत का उद्योग काफी उन्नत था।

वाल्मीकि ने अनेक खनिज-पदार्थों की ओर भी सकेत किया है। राम ने कोसल-राज्य को खानो से सुशोभित बताया है (**खनिभिश्चोपशोभित**, २।१००।४७)। हिमालय और विंध्य-पर्वतमालाओ में अनेक प्रकार की धातुए पाय जाने का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार चित्रकूट, कैलास, प्रस्रवण, सह्य, मलय और उदय पर्वतो को भी 'धातु-मडित' या **धातुशतैश्चितम्** कहा गया है। जिस पर्वत से हनुमान ने लका की ओर उडान भरी थी, वह नीले, लाल, मजीठ और कमल के वर्ण के तथा सफेद-काले रग के स्वभाव-सिद्ध, विशुद्ध धातुओ से भूपित था।[1] चित्रकूट के नाना प्रकार के धातुओ में कोई चादी के तुल्य, कोई लाल, कोई पीला, कोई काला, कोई नीला और कोई मजीठ के रग का दीख पडता था (२।९४।५-६)।

कतिपय विशेष प्रकार की धातु-प्रधान चट्टानो का उल्लेख मिलता है। कडे या बलुआ प्रस्तर-खडो को 'शिला' की सज्ञा दी जाती थी। पारदर्शक शिलाए 'स्फटिक' कहलाती थी। खानो से मन शिला (मैनसिल), गैरिक (गेरू) और कालागुरु (काला अगरू)-जैसे प्रसाधन-पदार्थ भी प्राप्त किये जाते थे।

नदी के तल से भी धातु निकाले जाते थे। इस प्रकार प्राप्त होनेवाला सोना 'जाबूनद' कहलाता था (१।१४।५४)। धातुओ के परिशोधन तथा मिश्रित धातुओ के उत्पादन की कला ज्ञात थी। खर ने सोने-जैसे प्रतीत होनेवाले तावे की ओर सकेत किया था, जो अग्नि में तपाये जाने पर अपना असली रूप प्रकट कर देता है।[2] सोने को भी तपाकर उसकी अशुद्धिया अलग कर दी जाती थी।[3] आभूषणो की बनावट तथा शरीर के आदर्श वर्ण का वर्णन करने में तपाये गए सोने का प्राय उल्लेख किया जाता है।[4] पीतल और कासे के बर्तनो के उल्लेख से टीन और जस्त का प्रयोग ध्वनित होता है।

---

१. **स्वभावसिद्धैर्विमलैर्धातुभि· समलकृतम्** ।५।१।५

२. **सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना** । ३।२८।२०

३. **अग्नौ विवर्णं परितप्यमान किट्ट यथा राघव जातरूपम्** ।४।२४।१८

४. **तप्तजाम्बूनदप्रभम्** । १।३७।१८; **तप्तहाटकभूषणौ** ।४।३।१८

इस्पात बनाने के लिए लोहा ढाला जाता था। 'सूची' या सूई के उल्लेख से इस्पात और इस्पात के औजारो के निर्माण की सूचना मिलती है। तेज धारवाले क्षुर (३।४७।४१) का उल्लेख पानी चढे हुए इस्पात का प्रयोग द्योतित करता है।

घटिया धातु को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उत्कृष्ट धातु मे परिवर्तित करने की विद्या रस-विद्या कहलाती है। यह विद्या उस युग में प्रचलित थी अथवा नही, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। बालकाड के ६७वे सर्ग में इस प्रक्रिया की ओर सकेत किया गया है। किंतु कुछ विद्वान इसे प्रक्षिप्त मानते हैं।

वाल्मीकि ने निम्नलिखित धातुओ का प्रसगवश उल्लेख किया है—

अयस् (२।४०।२३) या **कालायस** (५।४१।१२)—फौलाद।

पीतल—३।२६।२० में सकेतित।

काष्णायस (१।३७।१७) या **लोह** (३।४७।४६)—लोहा।

कास्य (४।५०।३४)—कासा।

रजत (२।३४।१४) या **हिरण्य** (१।५३।२१)—चादी। सुग्रीव ने कोशकारो की भूमि में चादी की खानो का वर्णन किया था (४।४०।२३)।

सुवर्ण (२।३२।१४), **काचन** (१।३७।१६), **जातरूप** (१।३७।२२), **जांबूनद** (१।१४।५४), **महारजत** (५।१०।७) या **हेम** (४।५०।३४)—सोना।

शीश (१।३७।२०)—सीसा।

ताम्र (४।२३।२०)—तावा।

त्रपु (१।३७।२०)—टीन।

धातुओ के व्यापक प्रयोग से खनिज-उद्योगो का भी प्रचलन सूचित होता है। सोने-चादी का विविध प्रकार के पात्र और आभूषण बनाने में उपयोग होता था। इस्पात का उपयोग अर्गल, बाण की नोक, तलवार और पट्टिश बनाने में होता था। कवचादि का निर्माण उन युद्ध-बहुल दिनो मे काफी होता होगा। कवच, गदा तथा अन्य शस्त्रो मे काष्णायस या लोहे की जगह कालायस या फौलाद काम में लाया जाता था। तलवारो और बाणो का पैनापन दर्शनीय था। उनके निर्माण में कारीगर प्रशसनीय कौशल का परिचय देते थे। धनुष-बाण और खड्ग को स्वर्ण-भूषित करके वे अपनी कलाप्रियता प्रकट करते थे। घोडो और हाथियो के लिए भी उपयुक्त कवचादि बनाये जाते थे।

इस्पात के नानाविध उपकरण बनते थे। यत्रायुध, इपूपलयत्र, पुलो को उतारने-उठाने के यत्र, बडी-बडी चट्टानें उठाने-ले जाने के यत्रादिक इसके प्रमाण हैं। दुर्गों में किलेबदी और सरक्षण के लिए धातु-निर्मित मशीनो और यात्रिक औजारो का व्यापक व्यवहार यत्र-निर्माण-कला की उन्नतावस्था सूचित करता है।

एक ऐसे समाज मे, जहा स्त्री-पुरुष दोनो आभूषण-प्रिय थे, यह स्वाभाविक था कि मणिकार और स्वर्णकार के पेशे समृद्ध हो। सोने के विविध कलापूर्ण आभूषण तथा विभिन्न आकार-प्रकार के मणि-रत्न इस बात के प्रमाण हैं कि सोने और जवाहरात की कारीगरी कितनी बढी-चढी थी। समुद्र-तल से बहुमूल्य मूगे-मोती प्राप्त किये जाते थे। लका से मारीच-आश्रम की ओर जाते समय रावण ने मार्ग मे समुद्र-तट पर हजारो मूगे सूखते हुए देखे थे—**मुक्ताना च समूहानि शुष्यमाणानि तीरतः** (३।३५।२३)।

महलो के निर्माण में पारदर्शी शीशा (स्फटिक) प्रयुक्त होने के अनेक उल्लेखो से काच-उद्योग का अस्तित्व सूचित होता है।

इनके अतिरिक्त और भी कई उपयोगी उद्योग-धधे प्रचलित थे। कुशल कारीगर अपने-अपने विशिष्ट शिल्प का अनुसरण करते थे। 'टक' या टाकी से काम करनेवाले मूर्तिकारो और पत्थर का काम करनेवालो की बडी माग थी। आग लगाकर चट्टानो को तोडने की कला से वे परिचित थे। अनेक मजिलवाले भवनो, प्रासादो, देवालयो, दुर्गों आदि का निर्माण कुशल स्थपतियो की कला का नमूना था। सगीत के व्यापक प्रचलन से ज्ञात होता है कि वाद्य-यत्रो के निर्माण में अनेक शिल्पी लगे हुए होगे।

वस्त्र-उद्योग में भी कम प्रगति लक्षित नही होती। कुशल बुनकर 'सूत्र-कर्म-विशारद' कहलाते थे (२।८०।१)। कई प्रकार के ततुओ से वस्त्र बनाये जाते थे। ऊनी कपडे भी बहुतायत से बनते थे। मेढे के रोओ से 'और्ण' नामक वस्त्र निर्मित किया जाता था (६।७५।६)। भरत के साथ अनेक **कम्बलकारका** भी राम को लिवा लाने के लिए चित्रकूट गए थे (२।६३।१४)।

कपडो की रगाई-धुलाई भी की जाती थी। इस काम में लगे कारीगरो को 'रजक' की सज्ञा दी जाती थी। रग-बिरगी वस्त्रो के अनगिनत उल्लेख आये है। कपडे का रग 'वर्ण' कहलाता था। नील-पीत, रक्त, शुक्ल, नील, शुकप्रभ तथा काषाय

रगो का अधिक प्रचलन था। रगाई के लिए कृमि-राग या लाक्षा-राग का व्यवहार किया जाता था।

वाणिज्य-व्यापार वैश्यो के हाथ मे था, जो वणिक कहलाते थे। मुख्य कर-दाता होने के कारण वे राजकीय सरक्षण के अधिकारी थे। उस युग के प्रमुख नगर व्यापार के समृद्ध केद्र थे, जहा देश-देशातर के व्यवसायी और शिल्पी वास करते थे। अयोध्या वाणिज्य-उद्योग की दृष्टि से सर्वाधिक प्रमुख नगरी थी। दशरथ ने यह प्रस्ताव किया था कि राम के साथ वन जानेवाली चतुरगिणी सेना के साथ राजधानी के धनी-मानी व्यापारी भी जाय।[1] राजकीय प्रासाद से शहर को जोडनेवाले राजमार्ग पर विविध क्रय-वस्तुओ से भरी-पूरी दूकानें सजी थी (२।१७।३-५)। सेना के अनुगामी दलो में व्यापारी भी होते थे। भरत के साथ अयोध्या के सभी प्रकार के वाणिज्य-उद्योगो के प्रतिनिधि चित्रकूट गए थे। (२।८३)।

देश मे प्रचुर आतरिक व्यापार होता था। अयोध्या के समृद्धिशाली वणिक बहुत-सा माल लेकर दूर-दूर की यात्रा करते थे।[2] ऐसी व्यावसायिक यात्राए 'सार्थ' या दल बनाकर की जाती थी। चोरो और हिस्र पशुओ से सुरक्षित रहने के लिए यह आवश्यक था। सार्थ से बिछुड जानेवाले यात्री को वन्य पशुओ के आक्रमण का भय बना रहता था।[3] देश के आतरिक व्यापार-मार्गों को निरापद रखने का दायित्व राज्य पर था, जैसाकि दशरथ की मृत्यु के बाद इकट्ठे हुए 'राजकर्तार' के इस कथन से प्रकट हैं कि अराजक प्रदेश मे वणिक लोग दूर-दूर तक धन-धान्य लेकर यात्रा नही कर सकते।[4] राजा ही देश मे आतरिक सुरक्षा का ऐसा प्रबध करता था, जिससे सपन्न लोग नि शक होकर रह सकें तथा कृषक और ग्वाले दरवाजे खोलकर सो सके।[5]

---

१. वणिजश्च महाधनाः। शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः ॥२।३६।३

२ तुलना कीजिए—नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः। गच्छन्ति क्षेममध्वान बहुपण्यसमाचिताः ॥२।६७।२२

३ तुलना कीजिए—मया विरहिता बाला रक्षसा भक्षणाय वै। सार्थेनैव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥३।६०।३४; ४।६७।४८ भी देखिए।

४ ऊपर टिप्पणी २ देखिए।

५ तुलना कीजिए—नाराजके जनपदे धनवन्त. सुरक्षिताः। शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्ष्यजीविनः॥२।६७।१८

दूकानें 'आपण' के नाम से सबोधित की जाती थी। बिक्री की चीजें 'विक्रय' या 'पण्य', उनका दाम 'मूल्य' तथा व्यापार से होनेवाला मुनाफा 'पण्य-फल' कहलाता था। पण्य में चदन, अगुरु, गध, क्षौम, कौशेय, मुक्ता, स्फटिक, माला आदि विविध वस्तुए होती थी।[1]

विदेशो से भी व्यापारिक सबध होने के सकेत मिलते है, यद्यपि इस विषय में नि सदिग्ध प्रमाणो का अभाव-सा है। सुशासित भारतीय नगरो की सुविधाओ से लाभ उठाने के लिए देशातर से व्यापारी आते रहते होगे। अयोध्या के वर्णन में वाल्मीकि कहते है कि वह **नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्**, नाना देश-निवासी व्यापारियो से शोभित थी (१।५।१४)। उत्तरकाड में मधुपुरी, लवणासुर के अत्याचारो से मुक्त होने पर, नाना देशो के व्यापारियो से समृद्ध हो गई थी (७।७१।१४)। किष्किधाकाड के ४०वें सर्ग में, सीतान्वेषण के सिलसिले में, सुग्रीव ने अनेक समुद्र-पार स्थानो का उल्लेख किया है, पर यह स्थल प्रक्षिप्त माना जाने के कारण विश्वसनीय नही है।

वाल्मीकि महासागरो से सुपरिचित प्रतीत होते हैं, अन्यथा समुद्र से अपरिचित कोई कवि उनके-जैसे महाकाव्य की रचना न कर पाता। हनुमान ने भारत के तट से लका को जो छलाग मारी थी, उसमें समुद्र पर नौ-यात्रा करने की उत्प्रेक्षाए व्यवहृत हुई है।[2] समुद्र को लेकर कवि ने अनेक रूपकात्मक वर्णन किए हैं,[3] जिनसे उसका समुद्री जीवन से प्रगाढ परिचय प्रमाणित होता है। रामायण में ऐसे व्यापारियो का उल्लेख हुआ है, जो समुद्र-पार देशो से व्यापार करते और अयोध्या के सम्राट् को रत्नो के उपहार लाकर प्रदान करते थे।[4] वाल्मीकि को ऐसे बडे व्यापारी जहाजो का पता था जो माल से लदे बीच महासागर में आवागमन करते थे। ऐसे जहाज 'महानौ' और उनके मार्ग 'नौ-पथ' कहलाते थे। लका का वर्णन करते समय

---

१. देखिए—२।५७।१५; १।६१।२१, १।६१।१५, २।६७।५५, १।१।१००; २।१७।३-४; २।७१।४१

२. सागरे मारुताविष्टा नौरिवासीत्तदा कपिः।५।१।६५

३. २।५६।२८-३१; ३।२१।१२, ६।७।२०

४. कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते।२।८२।८

कहा गया है कि उसके चारो ओर कही नौ-पथ नही है।[1] रावण के अधीन, शोक-सागर मे डूबती हुई सीता की उपमा एक ऐसी नौका से दी गई है, जो भार से अत्यधिक दबी होने के कारण समुद्र में डूबी जा रही है—**शोकभारैरिव न्यस्तां भारैर्नावमिवाम्भसि** (६।१७।३)। एक अन्य स्थल पर सीता की तुलना समुद्र में हवा के थपेडो से डगमगाते हुए, माल से भरे जहाज से की गई है—**समुद्रमध्ये नौः पूर्णा वायुवेगैरिवाहता** (५।२४।१४)। इन आलकारिक उक्तियो से अनुमान होता है कि महासागरो मे बडे-बडे जहाजो का पर्याप्त आना-जाना था। समुद्री दुर्घटनाओ का वर्णन समुद्री यात्राओ का ही सूचक हो सकता है।

वस्तुओ का विनिमय-व्यापार 'निष्क्रय' कहलाता था। गौ को विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मानदड माना जाता था। किसी वस्तु-विशेष का मूल्य गौओ की सख्या में तय किया जाता था। शुन शेप के माता-पिता एक लाख गौए लेकर अपने पुत्र को बेचने लिए तैयार हो गए थे।[2] किसी श्रेष्ठ गौ का मूल्य अनेक साधारण गौओ के रूप मे गिनाया जाता था। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र ने वसिष्ठ से यह प्रस्ताव किया था कि एक लाख गौए लेकर यह मूल्यवान कपिला गौ मुझे दे दीजिए—**गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम** (१।५३।९)। रामायण के अनेक स्थलो से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि उस युग में सोने और चादी का प्रयोग होने लगा था और उपहार या पारिश्रमिक के रूप मे उनका लेन-देन भी होता रहता था, फिर भी वे गौओ का स्थान नही ले सके थे और किसी भी आदान-प्रदान की क्रिया को पूर्णत्व का आभास देने के लिए उसमें गौओ का समावेश आवश्यक था। महाराज दशरथ ने अपने पुरोहितो को सोना और चादी तो दिया ही, पर अपने दान को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए दस लाख गौए भी प्रदान की। पुत्रेष्टि-यज्ञ की समाप्ति पर दशरथ ने समस्त पृथ्वी अपने ऋत्विजो को दान कर दी थी, पर इन्होने पृथ्वी का शासन करने मे अपने को असमर्थ बताकर उसके बदले में मणि, सुवर्ण और गौए देने की प्रार्थना की थी—

निष्क्रयं किंचिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति।
मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम्॥१।१४।४८

पारिश्रमिक देने या अन्य व्यापार-क्रियाओ में मुद्राओ या सिक्को का भी उपयोग

---

१. **नौपथश्चापि नास्त्यत्र निरुद्देशश्च सर्वशः।६।३।२१**
२. **गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि।१।६१।१३**

किया जाता था। सिक्के को 'निष्क' की सज्ञा दी जाती थी। केकयराज ने भरत को दो हजार निष्क दिये थे।[1] वन-गमन के समय राम ने सुयज्ञ को एक हजार निष्क भेंट किये थे।[2] निश्चय ही ये निष्क सिक्के रहे होगे, भरत या सुयज्ञ ने उनका शायद ही आभूषणो के रूप में प्रयोग किया हो। यह सच है कि रामायण में गले के हार को भी निष्क कहा गया है, किंतु इसका कारण यह था कि हार में भी निष्क सिक्के गूथे जाते थे। सिक्को का हार पहनने का रिवाज प्राचीन काल की तरह आज भी देखने में आता है।

यह कहना कठिन है कि निष्क आधुनिक अर्थ में मुहर-लगा सिक्का था, क्योकि रामायण-काल का कोई सिक्का कही खुदाई में मिला नही है। विना मुहर-लगे सिक्के सोने और चादी के होते थे। सोने के सिक्के 'जाबूनद' या 'सौवर्ण' कहलाते थे, तथा चादी के सिक्के 'रजत'। उत्तरकाड मे लव-कुश के अनुपम रामायण-गान से प्रसन्न होकर राम ने उन्हे अठारह हजार सोने के सिक्के देने चाहे थे।[3] महाराज दशरथ ने ब्राह्मणो को एक करोड जाबूनद और चालीस करोड रजत वाटे थे (१।१४।५१,५४)। यह गणना-योग्य सख्या नियत आकार-प्रकार, नियत तोल और नियत मूल्य के सिक्को की ओर इगित करती है। यह भी अनुमान होता है कि सोने का एक सिक्का चादी के चार सिक्को के बराबर रहा होगा।

माप-तोल के निश्चित परिमाण थे। द्रव्य-पदार्थों के लिए 'द्रोण' (बत्तीस सेर) नामक माप प्रचलित था। राम को वन में द्रोण-प्रमाण के शहद के छत्ते लटकते दिखाई दिये थे।[4] धन का नियत भागो में विभाजन 'प्रविभाग' कहलाता था (१।१४।५२)। दड मापने का डडा था। लबाई धनुष से अथवा हाथ फैलाकर मापी जाती थी।[5]

---

१ रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे सत्कृत्य केकयीपुत्र केकयो धनमाविशन् ।२।७०।२१

२ त ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुंगव ।२।३२।१०

३. अष्टादशसहस्राणि सुवर्णस्य महात्मनोः। प्रयच्छ शीघ्रं काकुत्स्थ यदन्यदभिकाक्षितम् ॥७।९४।१७-८

४. पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण। मधूनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे ॥२।५६।८

५. उद्यम्य प्रक्षिपेच्चापि तरसा द्वे धनुःशते। ४।११।७२; द्वावेव तत्र विहितौ बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥१।१४।२३

'व्याम' लबाई का एक माप होता था।[1] चौबीस अगुल के माप को 'अरत्नि' कहते थे। दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में खभे इक्कीस-इक्कीस अरत्नि ऊचे थे (**एकविंशत्यरत्नयः**, १।१४।२५)। 'योजन' दूरी का माप था। सामान्यत योजन चार कोस के बराबर होता है। वाल्मीकि ने योजन का दो अर्थों में प्रयोग किया है। एक कोस 'धनु सहस्र' अर्थात हजार धनुषो के बराबर तथा एक धनुप चार हाथ या दो गज के बराबर होता है। इस प्रकार एक योजन आठ हजार गज यानी साढे चार मील के बराबर हुआ। किंतु एक अन्य स्थल पर वाल्मीकि ने योजन को सौ धनुषो (धनु शतम्) या दो सौ गज के बराबर माना है। उदाहरणार्थ, सुग्रीव ने राम से कहा था कि वाली ने दुदुभि का अस्थि-पजर एक योजन की दूरी पर फेक दिया था, यदि आप उसे उठाकर द्वे धनु:शते (दो सौ धनुष या चार सौ गज) फेक सकें तो मै आपको वाली से अधिक बलवान मान लूगा (४।११।७१-२)। इससे यह प्रतीत होता है कि वाली ने जिस योजन की दूरी तक दुदुभि का अस्थि-पजर फेका था, वह धनु शत या दो सौ गज रहा होगा, साढे चार मील नही।[2]

श्रमिक दो प्रकार के होते थे, 'विष्टि' और 'कर्मातिक' (२।८२।२०)। विष्टि-मजदूरो को पारिश्रमिक धान्य या जिन्स के रूप मे दिया जाता था, कर्मातिको को द्रव्य के रूप में नकद मजदूरी मिलती थी। नौकरो से काम कराकर उन्हे उचित वेतन न देना जघन्य पाप समझा जाता था। भरत ने कौसल्या से कहा था कि राम को वन भेजने में मेरा कुछ भी हाथ रहा हो तो मै इस पाप का भागी बनू।[3]

जिन कारीगरो का काम कुछ विशेषता या कौशल लिये हुए होता था, उन्हे शिल्पी कहा जाता था। वाल्मीकि कहते है कि अयोध्या नगरी में सब तरह के शिल्पी निवास करते थे (**उषिता सर्वशिल्पिभिः**, १।५।१०)। राज्य उन्हे विशेष सुख-सुविधाए प्रदान करता था। ऊचे दर्जे के कारीगरो का, विशेषतया उनका जो

---

१. दोनो भुजाओ को दोनो ओर फैलाने पर एक हाथ की उंगलियों के सिरे से दूसरे हाथ की उंगलियो के सिरे तक जितनी दूरी होती है, उसे 'व्याम' कहते है (६।६५।३८)।

२. देखिए श्री टी० परमशिव ऐयर-कृत 'रामायण एंड लंका', पृ० ३

३. कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम्। अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्यो-ऽनुमते गतः ॥२।७५।२३

यज्ञ-यागादिक में अपना शिल्प-कौशल दिखाने में पटु थे, समाज में समानपूर्ण स्थान था। दशरथ ने उन्हे अपने अश्वमेध-यज्ञ में आमन्त्रित किया था तथा यथोचित आदर-सत्कार, धन और भोजन द्वारा उन्हे प्रसन्न करने की समुचित व्यवस्था की थी (१।१३।६-८)। जनता के आर्थिक विकास एव राजधानी की श्री-वृद्धि में शिल्पियों का उल्लेखनीय सहयोग था। रामायण मे इन विविध प्रकार के श्रमिको का उल्लेख हुआ है—

भूमिप्रदेशज्ञ (२।८०।१)—भूमि की नमी या उसके सूखेपन का जानकार।

चर्मकृत् (२।८।३०)—चमार।

दुर्गविचारक (२।७६।१३)—दुर्गम प्रदेशो में (वनो में) विचरण करनेवाला।

धूपक (२।८३।१४)—धूप अथवा सुगधियुक्त पदार्थों का निर्माता।

दतकार (२।८३।१३)—हाथी-दात का काम करनेवाला।

दास (१।७४।५)—नौकर।

दासी (२।३२।१६)—नौकरानी।

द्रष्टार. (२।८०।३)—मार्ग दिखानेवाले।

दैवज्ञ (२।४।१८) या **दैवचिंतक** (२।४।२१)—ज्योतिषी।

गंधोपजीवी (२।८३।१३)—सुगधि बनाने या बेचनेवाला।

गणक (१।१३।७)—ज्योतिषी, गोविंदराज के अनुसार लेखक।

गायक (२।६५।२)

गणिका (१।१०।५)—नर्तकी।

कर्मांतिक (१।१३।७)—दिन में काम करनेवाला मजदूर, जिसे मजदूरी के बदले पैसा मिलता है।

कार्तांतिक (६।४८।५)—ज्योतिषी।

खनक (२।८०।१)—खोदनेवाला।

कर्षक (२।११२।१२)—किसान।

कर्णधार (२।५२।८१) या **कर्णग्राह** (२।५२।६)—मल्लाह।

कुंभकार (२।८३।१२)—कुम्हार।

काकचिक (२।८३।१३)—लकडी चीरनेवाला।

कंबलकारक (२।८३।१४)—कबल बनानेवाला।

कैवर्तक (२।८३।१५) या दाश (२।८६।७)—मछुआ।
लुब्ध (२।१२।७७)—शिकारी।
लाक्षणिक (६।४८।२)—ज्योतिषी।
मणिकार (२।८३।१२)—मोती का काम करनेवाला।
मायूरक (२।८३।१३)—मोरपख का काम करनेवाला।
मागध (२।६५।२)—स्तुति-कर्ता।
मार्गी (२।८०।२)—मार्ग-रक्षक।
मार्गशोधक (२।८२।२०)—सडक बनानेवाला।
मार्गदक्षक (२।८२।२०)—सडक का रखवाला।
नट (२।६।१४)—अभिनेता।
नर्तक (१।१३।७)—नाचनेवाला।
नाविक (२।५२।७०)—नौका खेनेवाला।
नदीरक्ष (२।८४।७)—नदी-तट का रखवाला।
परिचारक (१।४५।३४)—घरेलू नौकर।
पाणिवादक (२।६५।४)—ताली बजानेवाला।
परमनारी (६।२१।३)—सैरध्री, उबटन आदि लगानेवाली सेविका।
रोचक (२।८३।१३)—काच का सामान बनानेवाला।
रजक (२।८३।१५)—धोबी।
रूपाजीवा (२।३६।३) या वारमुख्या (१।१०।७)—वेश्या।
स्नापक (२।८३।१४) या स्नानशिक्षाज्ञ (२।६५।८)—स्नान करानेवाला, स्नान कराने की विधि में निपुण।
शस्त्रोपजीवी (२।८३।१२)—शस्त्रो से आजीविका चलानेवाला।
शैलूष (२।८३।१५)—अभिनेता।
शौनिक (२।४८।१८)—कसाई।
सूत्रकर्मविशारद (२।८०।१) या सूत्रकर्मविशेषज्ञ (२।८३।१३)—जुलाहा या तबू बनानेवाला।
स्थपति (२।८०।२)—भवन-निर्माता।
शिल्पी (१।१३।७)—दस्तकार।
शिल्पकार (१।१३।७)—कलाकार

सूत (२।४।३)—रथ चलानेवाला।
पौराणिक (१।१८।२०)—पुराण-विद्या का जानकार।
स्वस्तिक (२।१६।४६)—स्तुतिकर्ता।
सूद (३।५६।२५) या **सूपकार** (२।१२।९६)—रसोइया।
श्मश्रुवर्धक (६।१२८।१३)—नाई।
सुधाकार (२।८०।३)—सफेदी करनेवाला।
सुवर्णकार (२।८३।१४)—सुनार।
शौंडिक (२।८३।१४)—शराब बेचनेवाला।
तालापचर (२।३।१७)—ताल लगानेवाला।
तुन्नवाय (२।८३।१५)—दर्जी।
उष्णोदक (२।८३।१४)—मालिश करनेवाला।
वादिक (२।१६।४६) या **वादी** (२।३६।३)—वाद्य-यत्र बजानेवाला।
वैद्य (२।८३।१४)—चिकित्सक।
वैतालिक (६।१२७।३)—या **वदी** (२।६५।१)—भाट।
वर्धकी (२।८०।२)—बढई।
वृक्षतक्षक (२।८०।२)—पेड काटनेवाला।
व्याध (२।३६।५) या **निषाद** (१।२।१०)—बहेलिया।
वेधक (२।८३।१३)—मोती पिरोनेवाला।
विष्टि (६।१२७।६)—मजदूर, जिसे धान्य के रूप में मजदूरी मिलती है।

वणिक् ((२।६।१२)—बनिया, व्यापारी।
वशकृत् (२।८०।३)—बास का काम करनेवाला।
यंत्रक (२।८०।१)—नहर बनानेवाला।
याजक (१।१४।३)—यज्ञ करानेवाला।

एक ही प्रकार के उद्योग-धधो में लगे शिल्पियो या मजदूरो के अपने-अपने सघ होते थे। इस प्रकार के राजधानी के सघो का सामूहिक सगठन 'नैगम' कहलाता था। इसके सदस्य भी नैगम कहलाते थे। नागरिक और राजकीय क्रिया-कलापो में नैगमो का महत्त्वपूर्ण (समत) स्थान था। राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक

में समिलित होने के लिए नैगमो के प्रतिनिधि आये थे।[1] उनके राज्यारोहण के समय नैगमों ने उनका अभिषेक किया था।[2] राम को अयोध्या लौटा लाने के लिए नैगम भी भरत के साथ चित्रकूट गए थे।[3] इनमे मणिकार, हाथी-दात का काम करनेवाले, काष्ठ की खुदाई करनेवाले आदि सभी श्रमिक-वर्गों के लोग थे (२।८३।१२-५)।

टीकाकार गोविंदराज ने 'श्रेणी' (२।७९।४) का अर्थ भी नैगम ही किया है। अत 'श्रेणीमुख्या' का अर्थ 'मजदूर सघो के सभापति' हुआ। ननिहाल से अयोध्या लौटने पर भरत को सूचना दी गई कि सभी श्रेणिया अभिषेचन-सामग्री लेकर आपकी प्रतीक्षा कर रही है।[4] डा० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार श्रेणी का अर्थ एक ही पेशा करनेवाली विभिन्न जातियो के लोगो का सगठन है। रामायण मे 'गण' शब्द आधुनिक 'ट्रेड यूनियन' (व्यापार-सगठन) के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है (२।१४।४०)। इन गणो के सभापति 'गणवल्लभा' कहलाते थे। भरत के साथ गणवल्लभ भी चित्रकूट गए थे (२।८१।१२)। 'सयोघश्रेणी' सैनिको का आर्थिक सगठन था।

राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि यातायात के शीघ्रगामी साधनो पर निर्भर करती है। उन दिनो आवागमन के मार्गों में स्थल-मार्ग ही अधिक प्रयुक्त होते थे। नगरो में चौडे और व्यवस्थित मार्ग बने थे (**सुविभक्तमहापथा**), जिनकी सावधानी से देख-भाल की जाती थी। उनकी प्रतिदिन सफाई कराई जाती और धूल-मिट्टी को दबाने के लिए उन पर छिडकाव किया जाता था।[5] इससे अनुमान होता है कि ये सडकें पक्की नही थी। अयोध्या और लका के राजमार्ग दीप-वृक्षो से प्रकाशित रहते थे।

---

१. **पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह। अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ॥२।१४।४०-१**

२. **योघैश्चैवाभ्यषिंचस्ते सम्प्रहृष्टैः सनैगमैः ।६।१२८।६२**

३. **ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता ये च नैगमाः। रामं प्रति ययुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः ॥२।८३।११**

४. **आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव। प्रतीक्षन्ते त्वां स्वजनः श्रेणयश्च नृपात्मज ॥२।७९।४**

५. **सिंचन्तु पृथिवीं कृत्स्नां हिमशीतेन वारिणा ।६।१२७।७**

उत्सवो पर इन राजमार्गों पर लाज और पुष्प बिखेरे जाते, मालाओ और पताकाओ से इनकी कलापूर्ण सजावट की जाती तथा सुगधयुक्त पदार्थ डालकर इन्हे सुवासित किया जाता।[1] एक नगर को दूसरे नगरो और ग्रामो से जोडनेवाले मार्ग भी बने हुए थे। ये सडकें रथ आदि सवारियो के चलने योग्य होती थी। ऐसा एक मार्ग केकय-राज्य के गिरिव्रज नगर से अयोध्या तक बना हुआ था। इस मार्ग को रथ द्वारा तय करने में भरत को आठ दिन लगे थे। वन जाते समय राम को, तमसा पार करने पर, एक ऐसा प्रशस्त पथ दिखाई पडा था, जो सशकित लोगो को भी आश्वस्त कर देता था।[2] अयोध्या से गगा-तट तक एक मार्ग बना हुआ था, जिस पर होकर राम ने रथ में वन-प्रयाण किया था।[3] वस्तुत उन दिनो उत्तरी भारत के आवाद हिस्से सडको के जाल से परस्पर जुडे हुए थे, जिन पर खूब यातायात और वाणिज्य-व्यापार होता था। वर्षा-ऋतु में ये मार्ग आवागमन के लिए अयोग्य हो जाते थे—

अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति।४।२८।१६

अरण्यो में स्थित आश्रम भी मार्गों से परस्पर जुडे हुए थे। मारीच का आश्रम लका द्वीप के उत्तर की ओर समुद्र-तट पर स्थित था और वहा खच्चर-जुते रथ से पहुचा जा सकता था। ऋषि भरद्वाज का आश्रम चित्रकूट के तापसालय से एक रमणीय एव सुरक्षित मार्ग से जुडा हुआ था। पचवटी भी किसी मार्गहीन जगल में नही बसी थी। अगस्त्य के आश्रम से वहा को एक रास्ता जाता था। सीता को खोने के बाद राम पचवटी से दक्षिण की ओर जिस मार्ग से गए थे, वह पपासर और मतगाश्रम होता हुआ किष्किधा तक चला गया था।

सडको और पुलो के निर्माण, उनकी मरम्मत में लगे मजदूरो तथा उनकी कार्य-प्रणाली का वाल्मीकि ने तीन स्थलो पर विस्तृत वर्णन किया है। जब भरत ने राम को लौटा लाने के लिए अपनी सेना-सहित चित्रकूट को प्रस्थान किया, तब उन्होने शिल्पियो और वनचरो को आदेश दिया कि आगे जाकर विषम वन-प्रदेश में सेना

---

१ ततोऽभ्यकिरन्त्वन्ये लाजै· पुष्पैश्च सर्वत· । समुच्छ्रितपताकासु रथ्याः पुरवरोत्तमे ॥६।१२७।८; २।१७।३ भी देखिए।

२. प्रापद्यत महामार्गमभय भयदर्शिनाम् ।२।४६।२९

३. प्रचोदयामास ततस्तुरगमान्स सारथिर्येन पथा तपोवनम् ।२।४६।३३

के लिए समतल मार्ग का निर्माण करे।[1] अयोध्याकाड के ८०वे सर्ग मे इस निर्माण-कार्य का जो वर्णन किया गया है, वह तत्कालीन शिल्पि-वर्ग के कौशल का अच्छा परिचय देता है। इन शिल्पियो मे जमीन की तरी और सूखेपन को जाननेवाले (भूमि-प्रदेशज्ञ), खुदाई करनेवाले (खनक), निर्माता (स्थपति) तथा नहरो और जल-प्रवाहो के निर्माण मे प्रवीण कारीगर थे। उन्होने मार्ग की बाधाओ, डालियो, झाड-झखाड, घास-पात, पेड-पौधो, ककड-पत्थर आदि को टाकी और कुल्हाडी से साफ करते हुए मार्ग बनाना शुरू किया। अपने सगठित कार्य द्वारा उन्होने वृक्षहीन प्रदेशों मे वृक्ष लगाये तथा अनावश्यक एव अवरोधक पेडो और 'वीरण' नामक पौधो के झुरमुटो को काटकर साफ कर दिया। ऊची-नीची भूमि समतल कर दी गई, कुएं तथा गड्ढे मिट्टी से भर दिये गए, चट्टानो को काटा गया, जलीय स्थलो पर पुल बनाये गए, मिट्टी को कूट-पीटकर बराबर कर दिया गया, तथा जहा खोदने की आवश्यकता थी, वहा खनन-क्रिया भी की गई (२।८०।६-१०)। इस मार्ग को भारी यातायात के योग्य बनाया गया था, क्योकि इस पर असख्य सवारियो और पशुओ से युक्त भरत की चतुरगिणी सेना का आवागमन होना था।

भारत और लका के बीच जिस नल-सेतु का निर्माण किया गया, उसका वर्णन और भी विलक्षण है। उससे वानर-शिल्पियो के निर्माण-कौशल एव यत्र-चातुरी पर अच्छा प्रकाश पडता है। वे लोग चट्टानो को उखाडकर यत्रो की सहायता से जल के समीप ले जाते थे, चट्टानो को सीधी पक्ति मे डालने के लिए वे 'सूत्रो' अर्थात रस्सियो का प्रयोग करते थे। दडो अर्थात मापने की लकडियो का भी व्यवहार किया गया था। छोटे-छोटे पत्थर, घास-पात, लता-पौधे तथा लकडियो का उस पुल के निर्माण में उपयोग किया गया। वानर-मजदूर पहले विशाल वृक्षो को जल में फेंकते, फिर उन पर चट्टानो को सतुलित करते और छोटे-मोटे खड्डो को ककडो, लकडियो, घास-पात आदि से पाट देते। ये विभिन्न कार्य वानर-मजदूरो के पृथक-पृथक दलो को सौंपे गए थे, किंतु उनके बीच इतना सुचारु सहयोग था कि पाच ही दिनो के अल्प समय मे वह अद्भुत पुल सर्वांगपूर्ण बनकर तैयार हो गया (६।२२।६४-७६)।

जब राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में राम का नदिग्राम से अयोध्या तक जुलूस

---

१. क्रियन्तां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च। रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः ॥२।७६।१३

निकलनेवाला था, तब शत्रुघ्न ने कई हजार विष्टियो (कुली-कबाडियो और कारीगरो) को आज्ञा दी कि नदिग्राम से अयोध्या तक का मार्ग ठीक कर दें—जहा कही मार्ग ऊबड-खाबड हो, उसे मिट्टी से भरकर और छीलकर समतल कर दें, फिर हिम-शीतल जल से उस पर छिडकाव करें (६।१२७।६-७)।

प्राचीन भारत मे यातायात के साधन 'यान' कहलाते थे (२।९२।३५)। वे मनुष्यो, पशुओ और धन-धान्य को ढोने के काम आते थे। थल पर पुरुपो के सबसे अधिक उपयोग में आनेवाला यान रथ था। नागरिक और सामरिक आवश्यकताओ में उसका अनिवार्य स्थान था। नागरिको के दैनिक कार्य-कलाप रथो पर ही निर्भर रहते थे। नगरो के मार्ग रथो की घरघराहट से गूजते रहते थे। रामायण में तीन प्रकार के रथो का उल्लेख है—(१) 'औपवाह्य रथ' (२।३९।१०), जो प्रतिदिन की सवारी के काम आनेवाला सामान्य रथ था। इसमें प्राय दो घोडे जोते जाते थे। भरत ने ऐसे ही रथ में राजगृह से अयोध्या की यात्रा की थी। मार्ग में घोडो को पर्याप्त भोजन और विश्राम दिया जाता तथा समय-समय पर बदल भी दिया जाता था।[1] (२) 'साग्रामिक रथ' (३।६५।६), जो युद्ध-क्षेत्र में प्रयुक्त होता था। (३) 'पुष्परथ' (२।२६।१५), जो उत्सवो के अवसर पर उपयोग मे आनेवाला सुसज्जित रथ था। इसमें चार शीघ्रगामी और सोने के आभूषणो से सजे घोडे जुतते थे।

साग्रामिक रथ में दो पहिये होते थे। इसकी धुरी पर रथ का समूचा ढाचा सतुलित रहता था। रथ के सामनेवाले भाग में सारथी और रथी (रथ का स्वामी) रहते, जबकि पीछे के हिस्से में युद्ध की सामग्री भरी रहती थी और कभी-कभी कोई परिचारक उपस्थित रहता था। प्राचीन शिल्पो के आधार पर यह अनुमान होता है कि इन रथो के ऊपर छत नही होती थी। इनमें प्राय चार घोडे जोते

चित्र १२—साग्रामिक रथ (अमरावती, दूसरी शताब्दी ई०)

१. शीतीकृत्वा तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः। तत. स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥२।७१।७

जाते थे। सारथी रथ का सचालन करता और रथी युद्ध में सलग्न रहता। रथ के ऊपर ध्वजा फहराती थी, जिस पर रथी का विशेष चिह्न अकित रहता था।

रथ के पिछले भाग को 'रथोपस्थ' कहते थे, जहा सारथी या रथी घायल हो जाने पर गिर जाया करते थे। रावण के रथ में दो चवर डुलानेवाले भृत्य भी थे (**चामरग्राहिणौ**)। अतिकाय राक्षस के रथ में चार सारथी थे। रावण-पुत्र अक्ष-कुमार के महारथ में आठ घोडे जुते थे, उसमें पताकाए फहरा रही थी और उसकी ध्वजा में रत्न जुडे थे। राजाओ के रथ में छत्र भी होता था।

रथो मे गधो और ऊटो के जोते जाने का उल्लेख किया जा चुका है। भरत के साथ अयोध्या के कई नागरिक उष्ट्र-रथो पर सवार होकर राम को लिवा लाने चित्रकूट गए थे।

सारथी का पेशा वश-परपरागत होता था। सुमत्र इक्ष्वाकु-राजाओ के वशगत सारथी थे। वह केवल सारथी नही, अपितु राजा के सखा, हितचिंतक और परा-मर्शदाता भी थे। सारथी से यह अपेक्षा की जाती थी कि स्थान और समय, शकुन और अपशकुन, रथी के हर्ष और विपाद, उत्साह और अनुत्साह, युद्ध-भूमि की समानता और असमानता, शत्रु का बलाबल आदि का ध्यान रखते हुए रथ का सचा-लन करे। शत्रु के पास जाने, दूर हटने, युद्ध मे स्थिर रहने तथा युद्ध-भूमि से हट जाने का उपयुक्त अवसर कब आता है, इन बातो का निर्णय सारथी के विवेक पर ही निर्भर रहता था (६।१०४।१८-२०), क्योकि रथी तो युद्ध करने में दत्तचित्त रहता था और इन बातो की ओर ध्यान नही दे सकता था। राम ने रावण के रथ को सामने से आता हुआ देखकर सारथी मातलि से कहा कि तुम साव-धान हो जाओ, मन तथा दृष्टि को स्थिर कर लो और घोडो की रासो को खीचने और ढीली करने मे सावधानी रखते हुए शीघ्रतापूर्वक रथ हाककर शत्रु के रथ के सामने ले चलो। मातलि ने रथ ऐसा हाका कि रावण का रथ बाईं ओर पड गया और राम के रथ के पहियो से उडी हुई धूल से रावण ढक गया (६।१०६।९-१५)।

रथ-निर्माण का उद्योग उन दिनो काफी प्रचलित एव उन्नत रहा होगा।

'शिविका' या पालकी पर्वतीय स्थानो की मुख्य सवारी थी। वानरो मे उसका अधिक प्रचलन दीख पडता है। वानरराज सुग्रीव अनेक अनुचरो द्वारा ढोई जानेवाली पालकी में सवार होकर राम के दर्शनार्थ गए थे। राक्षसो में भद्र महिलाए पालकी मे सवारी करती थी। इसीलिए विभीषण सीता को पालकी में सवार करा-

कर राम के समीप लाये थे—आरोप्य शिविका सीता राक्षसैर्वहनोचितैः (६।११४।१४)।

माल ढोने के काम आनेवाली गाडिया 'शकट' कहलाती थी। बैलो से खीची जाने के कारण उन्हें 'गो-रथ' भी कहते थे। सिद्धाश्रम से मिथिला रवाना होने पर विश्वामित्र के पीछे-पीछे कई तपस्वी सौ शकटो में सवार होकर चले थे।[1] (इससे यह भी सूचित होता है कि सिद्धाश्रम से मिथिला तक गाडियो के चलने लायक रास्ता रहा होगा।) बैलो और घोडो पर भी सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे। भरत अपनी उपमा ऐसे किशोर अश्व और वृषभ से देते है, जो भार ढोने में असमर्थ हैं।[2] जनक का प्रसिद्ध धनुष आठ पहियोवाली मजूषा पर रखा हुआ था, जिसे कई आदमी मिलकर ढोते थे।[3]

देश में भीतरी यातायात के लिए नावें भी प्रयोग में लाई जाती थी। ये नावें पालो और पतवारो के सहारे चलाई जाती थी, जैसाकि हतकर्णेव नौर्जले (टूटी पतवारवाली नौका के समान), मूढवातेव नौर्जले (प्रतिकूल हवा से विमूढ हुई नौका के समान)-जैसी उक्तियो से ध्वनित होता है।[4] जहा स्थल-मार्ग के बीच से कोई नदी बहती, वहा नाव द्वारा उसे पारकर यात्रा की अविच्छिन्नता स्थिर रखी जाती थी। विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण ने गगा नदी एक ऐसी नौका पर बैठकर पार की थी, जिसमें एक सुखद दरी बिछी हुई थी और जो ऊपर से ढकी हुई थी (सुखास्तीर्णा, १।४५।६)। इस नाव के स्वामी वनवासी मुनि लोग थे। सरयू और गगा के अशात और तेज प्रवाहवाले सगम-स्थल को इन लोगो ने कामाश्रम की एक नाव में पार किया था। अपनी वन-यात्रा में राम, सीता और लक्ष्मण जिस नौका में गगा-पार हुए थे, वह सुदृढ, सुदर और सुखपूर्वक पार

---

१. तं व्रजन्त मुनिवरमन्वगादनुसारिणाम्। शकटीशतमात्र तु प्रयाणे ब्रह्मवादिनाम् ॥१।३१।१७

२. धुरमेकाकिना न्यस्ता वृषभेण बलीयसा। किशोरवद्गुरु भार न वोढुमहमुत्सहे ॥६।१२८।३

३. नृणा शतानि पचाशद्व्यायताना महात्मनाम्। मजूषामष्टचक्रा तां समूहुस्ते कथचन ॥१।६७।४

४. ६।४८।२६, ६।५०।१

उतारनेवाली तथा मल्लाहो (कर्णग्राह) और पतवारो से युक्त थी—

अस्य वाहनसयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् ।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ २।५२।६

क्योकि रामायण मे अधिकतर राम के क्रिया-कलाप का वर्णन है और क्योकि तत्कालीन आर्य-नरेश हिमालय और विध्य के बीच के उत्तरी भारत मे राज्य करते थे, इसलिए उनके द्वारा नौ-सेना रखे जाने की कोई सूचना नही मिलती। शृगवेरपुर के राजा गुह ही एक ऐसे नरेश है, जिनके पास उल्लेखनीय नौ-पोत थे। गुह गगा-तट के निवासी थे। उनके पास पाच सौ नौकाए, तट-रक्षक और सुसज्जित सेना भी थी। जब भरत, दल-बल-सहित राम के पास चित्रकूट जाते समय, शृगवेरपुर से गुजर रहे थे, तब गुह ने उन्हें किसी दुष्ट भाव से प्रेरित समझा और सैकड़ो कैवर्त-युवको को आज्ञा दी कि पाच सौ नावे लेकर शत्रु का मार्ग अवरुद्ध कर दे। प्रत्येक नाव सौ सशस्त्र कैवर्तों को ले जा सकती थी।[1] ये नावें सभवत 'अग्र-मदिरा' श्रेणी की रही होगी, जिनमे 'मदिर' (जहाज का मार्ग देखने के लिए बनी केबिन) नाव के आगे के भाग की ओर बना होता है। ये नौकाए वर्षा-ऋतु के समाप्त हो जाने पर प्रयोग में लाई जाती थी। लबी यात्राओ या जल-युद्ध के लिए ये विशेष उपयुक्त होती थी।[2] यात्री और माल ढोने मे भी ये प्रयुक्त होती थी। भरत का शुद्ध भाव जानकर निषादराज ने उनकी सारी सेना को गगा पार कराने के लिए ऐसी पाच सौ नावो की व्यवस्था कर दी। इन नावो में पुरुष, स्त्रिया, हाथी, घोडे, रथ और अन्य भारी सामान ले जाया गया था, अत ये अवश्य ही नौ-पोतो के समान विशाल रही होगी। राज-परिवार के बैठने के लिए गुह ने विशेष नौकाए मगाई थी। इन सुसज्जित नावो के अग्र भाग की ओर ध्वजाए फहरा रही थी तथा बडे-बडे घटे लटक रहे थे। इनमे पतवारे लगी थी, कुशल नाविक इनका सचालन कर रहे थे और इनके जोड बडी मजबूती से बनाये गए थे। ये नावें सामान्य नौकाओ से बडी और स्वस्तिक के आकार-प्रकार की थी, इसलिए इन्हें 'स्वस्तिक' की सज्ञा दी गई थी।[3] एक श्वेत

---

१. नावां शताना पचाना कैवर्तानां शतं शतम् । सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत् ॥२।८४।८

२. राधाकुमुद मुखर्जी—'हिस्ट्री आफ इडियन शिपिंग', पृ० २६

३. अन्या स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधराधराः । शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः ॥२।८९।११

कवल इनमें विछा हुआ था (पाण्डुकम्बलसंवृता)। यात्रियो को पार उतारने के वाद गुह के मल्लाहो ने लौटते समय अपनी नावो के चित्र-विचित्र पैतरे, नौका-चालन की अनेक विधिया प्रदर्शित की थी—निवृत्ता काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः (२।८९।१८)। उन दिनो नौकानयन निषाद और दाश-जैसी अनार्य जातियो के हाथ मे था। उत्तरकाड मे अपने वनवास के समय सीता ने लक्ष्मण के साथ जिस नौका में वैठकर गगा पार की थी, उसे भी इन्ही जातियो के नाविको ने खेया था।

कुछ लोग इस वात पर आश्चर्य प्रकट करते है कि राम ने अपनी सेना को लका पहुचाने के लिए वडे जल-पोतो का उपयोग न कर एक कष्टसाध्य महान सेतु का निर्माण क्यो किया। सभवत इसका कारण यह था कि एक छिछले और अशात सागर में जल-पोतो का प्रयोग नही किया जा सकता था और फिर सामने के तट से एक प्रवल शत्रु के प्रतिरोध का भी तो भय था।[1]

नौकाओ के अतिरिक्त वेडो (पोतो और प्लवो) और घडो द्वारा भी नदिया पार की जाती थी। नदियो में पहरा देनेवाले 'नदीरक्ष' कहलाते थे। 'तीर्थ' नावो के ठहरने का स्थान था। 'स्फ्य' डाड को कहते थे और पतवार को 'कर्ण' या 'वाहन'।[2]

हवाई यातायात की भी सूचना मिलती है। आकाशगामी यान को 'खग' या 'विमान' कहते थे। सीता ने पति के चरणो की छाया के सामने 'वैहायस-गत' (२।२७।७) अर्थात आकाश-भ्रमण को भी तुच्छ समझा था। सीता की खोज करने के वाद हनुमान, अगद आदि वानर आकाश-मार्ग से सुग्रीव के पास लौटे थे (५।६४।२३-६)। लका-युद्ध में आकाश-युद्ध के अनेक वर्णन आये है। सहस्रो वर्षों के पश्चात आज हम यह कहने में असमर्थ है कि इस आकाश-युद्ध और आकाश-मार्ग का यथातथ्य स्वरूप क्या रहा होगा। रावण का सुप्रसिद्ध पुष्पक विमान एक अद्भुत आकाशचारी यान था, जो उडते समय महाघोष करता था (महानादमुत्पपात विहायसम् ६।१२३।१)। उसके निर्माण, उसकी सचालन-क्रिया आदि पर कवि ने प्रकाश नही डाला है।

सक्षेप मे, वाल्मीकि के समय मे भारत आर्थिक दृष्टि से एक सुखी, समृद्ध और

---

१. चिंतामण विनायक वैद्य—'दि रिडिल आफ दि रामायण', पृ० १६५

२. क्रमश. देखिए—५।१०।३७; २।५५।१४, २।८९।२०; २।८४।७; २।५२।६; २।५२।८१, २।५२।८१, २।५२।६

वैभवशाली देश था। दशरथ के राज्य-काल में अयोध्या तथा उसके जनपदो की आर्थिक स्थिति अत्यत उन्नत हो चुकी थी—वे धन, धान्य, पशु आदि जीवन की सुख-सुविधाओ से सपन्न थे। प्रजा के जीवन का स्तर बहुत ऊचा था, वह बहुमूल्य वेश-भूषा धारण करती और उत्तम अन्न-पान का सेवन करती थी। साक्षरता का व्यापक प्रचार था। लोग पुण्यशाली, दीर्घजीवी, नीरोग और प्रसन्न थे। वे अपनी ही अर्जित सपत्ति से सतुष्ट रहते तथा लोभ-वश अधिक की प्राप्ति के लिए लालायित नही होते थे। कोसल-राज्य के देहाती क्षेत्र में घनी आबादी थी, वह उद्यान और आम के बगीचो, निर्मल जल से भरे विपुल जलाशयो, हृष्ट-पुष्ट अधिवासियो, गौओ के झुडो तथा चैत्य और यूपो से सुशोभित था। कोसल की आर्थिक समृद्धि का आभास इन प्रश्नो से भी होता है, जो चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछे थे—"उन्नतिशील और समृद्धिशालिनी अयोध्या की तुम भली भाति रक्षा तो करते हो ? जहा नाना प्रकार के यज्ञ होते रहते है, जिसमें प्रतिष्ठित लोग बडी सख्या मे निवास करते हैं, अनेक देव-स्थान, पौसले और तालाब जिसकी शोभा बढाते है, जहा के स्त्री-पुरुष सदा प्रसन्न रहते है, जो सामयिक उत्सवो से सदा शोभा-सपन्न दिखाई देता है, जहा खेत जोतने मे समर्थ पशुओ की अधिकता है, जहा किसी प्रकार की हिसा नही होती, जहा खेती के लिए वर्षा के जल पर निर्भर नही रहना पडता, जो बहुत सुदर है और हिसक पशुओ से रहित है, जहा किसी तरह का भय नही है, नाना प्रकार की खाने जिसकी शोभा बढाती है, जहा पापी मनुष्यो का सर्वथा अभाव है, तथा हमारे पूर्वजो ने जिसकी भली भाति रक्षा की है, वह कोसल देश धन-धान्य से सपन्न एव सुखी तो है ? कृषि और गोरक्षा से आजीविका चलानेवाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीति-पात्र तो है ? व्यापार आदि में लगे हुए लोग सुखी तो है ? इष्ट की प्राप्ति कराकर तथा अनिष्टो का निवारण करके तुम इन सब लोगो का पालन करते हो ? राजा को अपने राज्य मे रहनेवाले सब लोगो का धर्मानुसार पालन करना चाहिए" (२।१००।४३-८)।

राम ने भरत से एक प्रश्न यह भी पूछा था कि **आयस्ते विपुलः कश्चित्कश्चिदल्पतरो व्ययः**, क्या तुम्हारी आमदनी बढी हुई और तुम्हारे खर्च घटे हुए है ? (२।१००।५४)। अमरीकी विद्वान ई० डब्ल्यू० हाप्किस[1] ने इससे यह निष्कर्ष

१. देखिए 'जर्नल आफ अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी' (भाग १३) में श्री हाप्किस का लेख।

निकाला है कि राजागण अत्यधिक करो के बोझ से प्रजा को लादकर अपना खजाना भरने में ही सलग्न रहते थे। किंतु रामायण में अनुचित करो का विरोध ही किया गया है। राम की विशाल सपत्ति धर्मानुसार उपार्जित की गई थी (**महाधन धर्मबलैरुपार्जितम्**, २।३२।४५)। राजा को कर-वसूली में उदार और नरम नीति बरतनी चाहिए, उग्रता का आश्रय लेकर प्रजा को विक्षुब्ध करना श्रेयस्कर नही है।[1] जो राजा प्रजा की आय का छठा भाग लेकर उसका पुत्रवत परिपालन नही करता, वह पाप का भागी बनता है।[2] उत्तरकाड में यह स्पष्ट कहा गया है कि जो राजा प्रजा की रक्षा नही करता, वह प्रजा की आय के छठे भाग का उपभोक्ता नही बन सकता—**षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजा कथम्** (७।७४।३१)। राम द्वारा पूछे गए उक्त प्रश्न की व्याख्या इन कथनो को दृष्टि मे रखकर करनी चाहिए। निश्चय ही राम ने इस बात पर बल दिया है कि राजा को अपनी आय खर्च से बढाकर रखनी चाहिए, किंतु प्रजा को सुशासन के वरदानो से वचित रखकर नही। 'बलि-षड्-भाग' राजा को प्रजा का सरक्षण करने के पारिश्रमिक के रूप में ही दिया जाता था।

---

१. तुलना कीजिए—कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिता प्रजा. ।२।१००।२७

२ तुलना कीजिए—बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितु प्रजाः। अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गत। २।७५।२५; अधर्म सुमहान्नाथ भवेत्तस्य तु भूपते। यो हरेद्बलिषड्भाग न च रक्षति पुत्रवत् ॥३।६।११

: १३ :

प्रशासन

रामायणकालीन भारत में कोई एकच्छत्र साम्राज्य नही था। हिमालय और विंध्य पर्वतमालाओ का मध्यवर्ती आर्यावर्त देश अग, काशी, कोसल, केकय, मगध, मत्स्य, मिथिला, वग, विशाला, सिधु, सौवीर, सौराष्ट्र, साकाश्या आदि स्वतत्र राज्यो में विभक्त था।[१] दशरथ ने कैकेयी के समक्ष अपने को सारी वसुधरा का स्वामी बताया था,[२] और राम ने, वाली से विवाद करते समय, समस्त भारत पर अयोध्यापति भरत की प्रभु-सत्ता का दावा किया था,[३] पर वस्तुत कोसल-नरेश का प्रभाव पडोस के कुछ सामत राजाओ तक ही सीमित था।[४] रोमन या ब्रिटिश साम्राज्य की तरह अयोध्या का साम्राज्य सशक्त या केंद्र-सचालित नही था। दशरथ की सत्ता की तुलना परवर्ती मुगल-सम्राटो की सत्ता से की जा सकती है। हा, राम के शासन-काल में कोसल-राज्य के प्रभाव में अतिशय वृद्धि हुई।

कोसल-राज्य का क्षेत्रफल बहुत बडा नही था। स्यदिका (आधुनिक सई) नदी का तटवर्ती प्रदेश कोसल की दक्षिणी सीमा था। वन जाते समय राम ने, अयोध्या से रथ में चलकर, लगभग एक ही दिन में यह सीमा पार कर ली थी (**रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत**, २।५०।१०)। इसीके साथ कुछ छोटे-छोटे राज्य थे और फिर निषादराज गुह का राज्य आरभ होता था।

---

१. १।१३।२३-८; १।४७।१२; १।७०।७; २।१०।३७

२. यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा। २।१०।३६-८

३. इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना। ४।१८।६

४. अयोध्या की सड़कें उपहार लेकर आनेवाले सामंत राजाओ से भरी पड़ी थीं—'सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम्' (१।५।१४)। दशरथ को 'नतसामन्तः' (जिसने सामंतो को वश में कर रखा है) कहा गया है (१।७।२२)। विश्वामित्र ने भी दशरथ से पूछा था कि सामंत राजाओ को तुमने वश में तो कर रखा है—'अपि ते सन्नताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः' (१।१८।४६)।

रामायण में किसी गणतत्र का उल्लेख नही है। तत्कालीन शासन का स्वरूप मर्यादित राज्यतत्र था। एक वैधानिक शासक द्वारा स्थापित सुदृढ शासन-व्यवस्था में जनता का परम विश्वास था। स्थायी सरकार के अभाव में होनेवाली अराजकता के दोषो से प्रजा सुपरिचित थी (२।६७)।

राजा का पद कुल-परपरागत था। इक्ष्वाकु-वश की वशावली से ज्ञात होता है कि राम से कई पीढिया पहले और वाद भी राजपद आनुवशिक था। नये राजा की नियुक्ति के लिए सभा (लोक-सभा) की अनुमति आवश्यक होती थी। भावी राजा पहले वर्तमान राजा तथा मत्रिमडल द्वारा प्रस्तावित किया जाता और तत्पश्चात सभा द्वारा निर्वाचित किया जाता। सामत राजाओ की भी सहमति ली जाती थी।[1] राम को युवराज वनाने से पहले दशरथ ने अपनी सभा की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।[2] वाली की अनुपस्थिति में मत्रियो ने मिलकर सुग्रीव का राज्याभिषेक किया था।[3] उत्तरकाड में राजा नृग ने प्रजाजनो, नैगमो, मत्रियो तथा पुरोहित को बुलाकर उनके समक्ष अपने पुत्र को उत्तराधिकारी वनाने का प्रस्ताव किया था।[4] चित्रकूट पर राम से भरत ने निवेदन किया था कि आप यही प्रजाजनो, ऋत्विजो तथा पुरोहित के हाथो अपना अभिषेक करा लीजिए।[5] इन उदाहरणो से तत्कालीन राज्यतत्र में लोकतत्र का भी पुट लक्षित होता है।

---

१ दशरथ की सभा में अन्य प्रतिनिधियो के साथ जिन 'राजान' का उल्लेख आया है, वे सभवत ये ही सामंत राजा थे। इन्हें दशरथ ने, राम को युवराज वनाने के प्रस्ताव पर विचार-विनिमय के लिए, शीघ्रता से बुला भेजा था (२।१।४६)। ब्राह्मणो आदि के साथ राजागण भी राम के अभिषेक की प्रतीक्षा करते हुए बताये गए है (२।१४।४०-१)।

२ यदिद मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्। भवन्तो मेऽनुमन्यन्ता कथ वा करवाण्यहम्॥ २।२।१५ (अपनी सभा के समक्ष महाराज दशरथ के उद्गार)।

३ ततोऽहं तै (मन्त्रिभि) समागम्य समेतैरभिषेचितै। ४।६।२१

४. आहूय मन्त्रिण सर्वान्नैगमान्सपुरोधस। तानुवाच नृगो राजा सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा।. कुमारोऽय वसुर्नाम स चेहाद्याभिषिच्यताम्॥ ७।५४।५-८

५ इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वा प्रकृतय सह। ऋत्विज. सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः॥ २।१०६।२६

प्राय ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज-पद का अधिकारी होता था, किंतु साथ ही, उसका गुणी और धर्मात्मा होना भी आवश्यक था। अयोग्य और दुष्ट होने पर ज्येष्ठ पुत्र अपने अधिकार से वचित कर दिया जाता था। प्रजा के आग्रह पर राजा सगर ने अपने अत्याचारी ज्येष्ठ पुत्र असमज का राज्याधिकार छीनकर उसे देश से निर्वासित कर दिया था। राजा ययाति ने ज्येष्ठ यदु को राज्य न देकर अपने आज्ञाकारी कनिष्ठ पुत्र पुरु को ही राज्य दिया। पुत्र के अभाव मे राजा का भाई युवराज बनाया जाता था। राम के राज्याभिषेक के समय भरत को युवराज बनाया गया, क्योकि उस समय तक राम के कोई पुत्र नही था। राजा की मृत्यु पर युवराज-पद पर अभिषिक्त किया गया राजकुमार ही राज्यारूढ होता था। जीवित राजा के सामने उसका यौवराज्याभिषेक इसलिए कर दिया जाता था कि बाद मे उत्तराधिकार-विषयक विवाद न हो और राजगद्दी खाली न रहे। शासक की मृत्यु होने पर युवराज के राज्याभिषेक के लिए सभा की पुन अनुमति नही लेनी पडती थी।

पुत्र ज्येष्ठ हो और किसी अपराध के कारण अयोग्य न ठहरा दिया गया हो, फिर भी यदि उसे राज्याधिकार से वचित किया जा रहा हो तो वह इन तीन उपायो का आश्रय ले सकता था—(१) पहला उपाय, जिसे लक्ष्मण ने राम को सुझाया था, राजा को मारकर या कैद कर राज्य पर बलपूर्वक अधिकार कर लेना था।[1] कौसल्या ने इस प्रस्ताव से असहमति नही प्रकट की थी और इसके प्रति राम का ध्यान आकर्षित किया था, किंतु राम ने इस प्रकार क्षात्र-परपरा का आश्रय लेने के बजाय धर्म का ही पालन करने, पिता की ही आज्ञा शिरोधार्य करने का सकल्प प्रकट किया।[2] ध्यान देने की बात है कि राम ने लक्ष्मण के सुझाव को क्षात्र-परपरा के विरुद्ध नही बताया। (२) दूसरा उपाय स्वय दशरथ ने सुझाया था। उन्होने राम से कहा कि कैकेयी को वर देकर मेरी मति मारी गई है, अत तुम मुझे बदी बनाकर अयोध्या के राजा बन जाओ।[3] (३) तीसरा उपाय प्रजा के सहयोग पर निर्भर था।

---

१. प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या सन्तुष्टो यदि नः पिता। अमित्रभूतो निःसंगं बध्यतां वध्यतामपि॥ २।२१।१२-३

२. तदेता विसृजानार्या क्षत्रधर्माश्रिता मतिम्। धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्य ॥ २।२१।४४

३. अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः। अयोध्याया त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम॥ २।३४।२६

राजकुमार की लोकप्रियता के कारण मन्त्रिगण, सेना तथा नागरिक राजधानी छोड़कर उसके साथ अन्यत्र जा सकते थे और नया राज्य बसाकर रह सकते थे।[1]

ये सभी उपाय अज्ञात या अप्रचलित नही रहे होगे।

कभी-कभी अपने किसी पुत्र को युवराज नियुक्त किये बिना ही राजा की मृत्यु हो जाती थी। ऐसे अतर्वर्ती काल में नये राजा के निर्वाचन का प्रबध 'राजकर्तार' (२।६७।२) करते थे। मत्रि-परिषद के वे सदस्य, जो नये राजा की नियुक्ति का प्रस्ताव रखते थे, इसी नाम से सबोधित किये जाते थे। दशरथ की मृत्यु हो जाने पर, जबकि राम-लक्ष्मण वन-प्रस्थान कर चुके थे तथा भरत और शत्रुघ्न सुदूर केकय देश में थे, राजकर्तार (जिसमें विशिष्ट मन्त्रिगण तथा राजपुरोहित की गणना की जाती थी) ने मिलकर विचार-विमर्श किया और भरत को तुरत बुलाने का निश्चय किया। यदि किसी कारणवश नये राजा की नियुक्ति सभव न होती, तो राज्य का शासन-सूत्र एक प्रबधक को सौंप दिया जाता था। इस व्यवस्था के अनुसार भरत ने चौदह वर्ष तक अयोध्या के राज्य को एक न्यास (ट्रस्ट) मानकर उसका शासन-प्रबध किया था। वनवास की अवधि समाप्त होने पर जब राम अयोध्या लौटे, तब भरत ने उन्हे राज्य की बागडोर सौंपते हुए कहा था कि आप खजाना, कोठार, सेना आदि का निरीक्षण कर लें —

एतत्ते सकल राज्य न्यास निर्यातित मया।
अवेक्षता भवान्कोश कोष्ठागार गृह बलम् ॥६।१२७।५४-६

आर्य-राष्ट्र-नीति में राजा प्रजावर्ग की समष्टि-आत्मा का प्रतिनिधि है, विश्व के अतर्यामी नियता का प्रत्यक्ष विग्रह-रूप है। राम ने वाली से कहा था कि 'राजा लोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदय के दाता होते है, अत उनकी निंदा, हिसा तथा उनके प्रति आक्षेप नही करना चाहिए। वे वास्तव मे देवता है, जो मनुष्य-रूप से इस पृथ्वी पर विचरते है। मनुष्य पाप करके यदि राजा के दिये हुए दड को भोग लेते हैं, तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा पुरुषो की भाति स्वर्गलोक में जाते

---

१ अस्माभिश्च परित्यक्त पुर सम्पद्यता वनम्। २।३३।१६-२५; नहि तद्भविता राष्ट्र यत्र रामो न भूपति। तद्वन भविता राष्ट्र यत्र रामो निवत्स्यति ॥ २।३७।२५-६

है।'[1] रावण के मतानुसार तेजस्वी राजा अग्नि, इद्र, सोम, यम और वरुण इन पाचो देवताओ के स्वरूप को धारण किये रहते है, उनमे इन पाचो के गुण—प्रताप, पराक्रम, सौम्य स्वभाव, दड और प्रसन्नता—विद्यमान रहते है, अत सभी अवस्थाओ में राजाओ का समान और पूजन करना चाहिए (३।४०।१२-४)।

जहा प्रजागण राजा को अपने हृदय के आराध्य देवता के रूप में पूजते थे, वहा उसमे सभी सद्गुणो और सभी सत्शक्तियो को प्रतिबिंबित देखने की भी आशा रखते थे। वाल्मीकि के अनुसार, आदर्श राजा गुणवान, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता, दृढप्रतिज्ञ, सदाचारी, समस्त प्राणियो का हित-साधक, विद्वान, सामर्थ्यशाली, प्रियदर्शन, मन पर अधिकार रखनेवाला, क्रोध को जीतनेवाला, कातिमान, अनिदक और सग्राम मे अजेय योद्धा होता है (१।१।२-४)।

नारद के अनुसार, आदर्श राजा का व्यक्तित्व आकर्षक एव प्रभावोत्पादक होता है। उसके कधे मोटे, भुजाए बडी-बडी, ग्रीवा शख के समान, ठोडी भरी हुई, छाती चौडी, गले के नीचे की हड्डी मास से छिपी हुई, भुजाए घुटनो तक लबी, मस्तक सुदर, ललाट भव्य, चाल मनोहर, शरीर मध्यम और सुडौल, देह का रग स्निग्ध, वक्ष स्थल भरा हुआ और आखें बडी होती है। मानसिक दृष्टि से वह बुद्धि-मान, नीतिज्ञ, वक्ता, ज्ञानी, वेद-वेदाग के तत्व को जाननेवाला, धनुर्वेद मे प्रवीण, धर्म का ज्ञाता, अखिल शास्त्रो का मर्मज्ञ, स्मरण-शक्ति से युक्त तथा प्रतिभासपन्न होता है। नैतिक दृष्टि से वह धैर्यवान, जितेंद्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, पवित्र, यशस्वी, श्री-सपन्न तथा अच्छे विचार और उदार हृदयवाला होता है (१।१।८-१९)।

हनुमान के अनुसार, आदर्श राजा पूर्ण चद्र के समान मनोहर मुखवाला, पद्म-पत्र के समान विशाल नेत्रो से युक्त, रूप और औदार्य से सपन्न, तेज, क्षमा, बुद्धि और यश से युक्त, सदाचार, धर्म और चातुर्वर्ण्य का रक्षक, परम प्रकाश-स्वरूप, राज-नीति में पूर्ण शिक्षित, ब्राह्मणो का उपासक, ज्ञानी, शीलवान, विनम्र, वेद-वेदाग

---

१. दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च। राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न सशयः। तान्न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत्। देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले ॥ ४।१८।४१-२; राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ४।१८।३१

का परिनिष्ठित विद्वान, और सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार शुभ अग-प्रत्यगो से युक्त होता है (५।३५।८-११)।

अयोध्या की जनता के अनुसार, आदर्श राजा वीर्यवान, स्थिरप्रज्ञ, विद्वान, सभी विद्याओ और वेद-वेदागो को भली भाति जाननेवाला, मधुर-भाषी, सज्जन, ईर्ष्या, असूया और मात्सर्य से दूर, वृद्धो और ब्राह्मणो का प्रतिपूजक, सदैव शात, कृतज्ञ, सदाचारी, शील-सपन्न, मार्दव और कोमलता से युक्त, क्षमावान, प्रजाप्रिय, दूसरो के अतर्गत विचारो को तुरत ताडनेवाला, दयालु, आलस्य और अभिमान से शून्य, धर्म, अर्थ और काम का ज्ञाता, गभीर मत्र को गुप्त रखनेवाला, भाषा-ज्ञान में निपुण, सगीत, वाद्य और चित्रकारी का विशेषज्ञ, शत्रु पर आक्रमण और प्रहार करने में कुशल, सेना-सचालन में निपुण, दोष-दृष्टि से रहित, अमित तेजस्वी, रूपवान, पराक्रमी, बाहर और भीतर से शुद्ध, युक्तिया देने में बृहस्पति के समान, नीरोग, तरुण, असाधारण वक्ता, सुदर विग्रह से सुशोभित, देश-काल के तत्व को समझनेवाला और दीनता से रहित होता है (२।२।२८-४७)।

राजा को व्यक्तिगत हितो की अपेक्षा जन-हित का विशेष ध्यान रखना पडता था। जन-मत के सामने उसे झुकना पडता था। सगर-पुत्र असमज का निर्वासन तथा सीता का परित्याग जन-मत की प्रबलता के ही परिणाम थे। राजा समस्त प्रजा का सरक्षक होता था, धर्मानुसार न्याय-वितरण करना उसका कर्तव्य था। चारो वर्णों को 'स्वकर्मनिरत' रखना उसका एक लक्ष्य था। बलिषड्भाग (प्रजा की आय का छठा भाग) कर-रूप में पाने के बदले राजा पर दुष्टो के दमन और साधुओ के सरक्षण का भार आ पडता था। 'राज्य के भीतर कही पाप की प्रबलता होने पर, कही दुर्भिक्ष या महामारी होने पर, कही सघर्ष, अशाति या अकाल मृत्यु होने पर तथा कही प्रजागण के मानव-जीवन के आध्यात्मिक आदर्श से च्युत होने पर सत्पुरुष रांजा को ही उत्तरदायी मानते थे। वे ऐसा निश्चय करते थे कि राजा के जीवन में अवश्य कही अधर्म को आश्रय मिला है। जिस प्रकार राजा प्रजा का निर्णायक था, वैसे ही प्रजा भी राजा की निर्णायिका थी। राजा के पारिवारिक तथा राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक व्यापार पर प्रजा की तीव्र दृष्टि रहती थी, क्योकि उसकी जीवन-धारा पर ही सारे राष्ट्र का हिताहित अवलबित था। प्रजागण राजा के जीवन के सबध में कैसी आलोचना करते हैं—गुप्तचरो द्वारा इसका सवाद प्राप्त करना, तथा उसके अनुसार अपने आचरण का सशोधन करना या अपने को दड देना राजा का विशेष

कर्तव्य माना जाता था। राजा का जीवन आदर्श होने पर तथा राजा और प्रजा के बीच सुमधुर सबध प्रतिष्ठित होने पर ही राष्ट्र का अभ्युदय हो सकता है।'[1]

वाली के अनुसार इद्रियो का सयम, मन का निग्रह, क्षमा, धर्म, धैर्य, पराक्रम और अपराधियो को दड देना ये राजा के गुण है, राजाओ को स्वेच्छाचारी नही होना चाहिए, नीति और विनय, दड और अनुग्रह, इनका अविवेकपूर्वक उपयोग करना उनके लिए उचित नही।[2] उन्हे अनावश्यक हिसा से बचना चाहिए। जैसाकि लक्ष्मण ने राम से निवेदन किया था, एक के अपराध के लिए अनेक का सहार करना अनुचित है—**नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि** (३।६५।९)। धर्म की उपेक्षा करके अर्थ और काम के सेवन में ही निरत रहना राजा के पथ-भ्रष्ट होने का लक्षण है। उसे न्यायपरायण और लोकप्रिय बनने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। राज-काज में राजा को सक्रिय योग देना चाहिए।[3] जब सुग्रीव ने राज्य का कार्य मत्रियो को सौप दिया और उनके कार्यों की स्वय देखभाल तक नही करने लगे, तब हनुमान ने उलाहना देकर उन्हे सचेष्ट किया था।

राजा का दैनिक कार्यक्रम क्या होना चाहिए, इसका उदाहरण उत्तरकाड में वर्णित राम की दिनचर्या से प्राप्त होता है। प्रतिदिन सूर्योदय से पूर्व बदिगण आकर स्तुति और सगीत द्वारा राजा राम को जगाते थे। उठने के पश्चात राम स्नान करते, वस्त्राभूषण धारण करते तथा कुल-देवता, पितरो और विप्रो की पूजा करते थे। तदनतर वह बाह्य कक्ष्या में जाकर सार्वजनिक कार्यों को निपटाते थे। यहा वह अमात्यो, पुरोहितो, सैनिक अधिकारियो, जानपदो, सामत राजाओ, ऋषियो तथा पौरवर्गो के साथ सभा का सचालन करते थे। पौरकार्य मे व्यस्त न होने पर वह मुनियो के धर्म-प्रवचन का श्रवण करते थे। अपराह्ण का समय राम अपने अत पुर के

---

१. अक्षयकुमार वंद्योपाध्याय—'रामायण की मर्म-वाणी', 'कल्याण' का 'संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणाक', पृ० १०

२. साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ। पार्थिवानां गुणा राज दण्डश्चाप्यपकारिषु॥ नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि। राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः॥ ४।१७।२९-३२

३. पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने। संवृत्ते नरके घोरे पतितो नात्र सशयः॥ ७।५३।६

अशोक-वन में सीता के साथ व्यतीत करते थे। दिन के शेष समय में वह मध्य कक्ष्या में गुप्तचरो आदि के साथ महत्वपूर्ण मत्रणा करते थे।[1]

राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसके दर्शनार्थी सभी वर्ग उससे सरलतापूर्वक मिल सके। स्त्री-पुरुष सभीको अपनी शिकायतें कहने के लिए राजा के पास प्रात काल आने का अवसर मिलना चाहिए।[2] प्रतिदिन राजा को राजोचित वेश-भूषा में सभा-भवन में बैठकर जनता को दर्शन देना चाहिए।[3]

शिक्षा-दीक्षा, मत्रियो, पुरोहितो तथा गुरुजनो का नियत्रण, धर्म-निष्ठा, परलोक में यातना पाने का भय, परपराओ और सस्कारो का समादर तथा लोकापवाद का डर राजाओ को मर्यादा में रहने को प्रेरित करते थे। राजा का व्यक्तित्व आदरणीय होते हुए भी इतना पवित्र या अलौकिक नही था कि अनाचार करने पर भी वह लोक-निंदा से वचा रहे। राम के साथ वन-प्रस्थान करने से पूर्व जव सीता को भी वल्कल-वेश धारण करना पडा, तव प्रजाजन धिक् त्वा दशरथम् कहकर दशरथ को धिक्कारने लगे थे।[4] उन्होने अयोध्या छोडकर अन्यत्र जाने का भी निश्चय प्रकट किया था (गच्छन्तमनुच्चाछामो यत्र गच्छति राघव', २।३३।१५)। नगर-त्याग प्रजा की ओर से राजा को दिया जानेवाला कठोरतम दड होता था। रावण भी लोक-निंदा से वचा रहना चाहता था। जव उसने हनुमान को मौत के घाट उतारने का आदेश दिया, तव विभीषण ने उसे स्मरण दिलाया था कि दूत का वध करना लोक-दृष्टि में एक निंदित कार्य है (लोकवृत्तेश्च गर्हितम्, ५।५२।६)।

शासन-सचालन की समुचित व्यवस्था किये विना राजा राज्य छोडकर नही जा सकता था। गगावतरण के आख्यान में कहा गया है कि तपस्या-हेतु वन-प्रस्थान

---

१. ७।३७; ७।५३।४-६,१८; ७।४२।२७,३६, ७।४३।१

२. आहूयन्ता प्रकृतय' पुरोधा मन्त्रिणस्तथा। कार्यार्थिनश्च पुरुषा स्त्रियो वा पुरुषर्षभ॥ ७।५३।६

३. तत प्रभाते विमल कृतपूर्वाह्णिकक्रिय.। अभिचक्राम काकुत्स्थो दर्शन पौर-कार्यवित्॥ ७।६०।२, कच्चिद्दृश्यसे नित्य मानुषाणा विभूषितम्। उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे॥ २।१००।५१

४. तस्या चीर वसानाया नाथवत्यामनाथवत्। प्रचुक्रोश जन सर्वो धिक्त्वा दशरथ त्विति॥ २।३८।१

करने से पूर्व राजा भगीरथ ने राज्य का प्रबध मत्रियो के सुपुर्द कर दिया था (**मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यम्**)। गगावतरण होने पर जब वह पितरो का यथाविधि श्राद्ध सपन्न कर चुके, तब उन्होने लौटकर राज्य की बागडोर सम्हाल ली थी।[1] इसी प्रकार उत्तरकाड में, शंबूक की खोज में जाने से पहले, राम ने लक्ष्मण और भरत को अयोध्या का राज्य-भार सौप दिया था। राजा की आज्ञा बिना युवराज को नगर छोडने का अधिकार नही था। भरत के चित्रकूट आने पर राम ने (जो तब तक दशरथ की मृत्यु से अनभिज्ञ थे) पूछा था कि पिता के जीवित रहते (उनकी आज्ञा बिना) तुम यहा वन में कैसे आ गए।[2] पुत्र को राज्य सौपकर अवकाश-ग्रहण की अनुमति सभा से प्राप्त करनी पडती थी।

अयोध्याकाड के १००वें (कच्चित्) सर्ग मे राम ने भरत से जो राजनीति-विषयक प्रश्न पूछे है, उनसे ज्ञात होता है कि राजाओ से कैसे आचार-व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी। उन्होने पूछा—"तुम समय पर जाग जाते हो? रात के पिछले पहर में अर्थ-सिद्धि के उपायो पर विचार करते हो? तुम अकेले या अधिक आदमियो के साथ किसी गुप्त विषय पर विचार नही करते? तुम्हारा विचारा हुआ गुप्त मत्र समूचे राष्ट्र मे फैल तो नही जाता? जिसका साधन बहुत छोटा और फल बहुत बडा हो (**लघुमूल महोदयम्**), ऐसे कार्य का निश्चय करने के बाद तुम उसे शीघ्र प्रारभ कर देते हो? उसमे विलब तो नही करते? तुम्हारे सब कार्य पूर्ण हो जाने पर अथवा पूरे होने के समीप पहुचने पर ही दूसरे राजाओ को ज्ञात होते है? कही ऐसा तो नही होता कि तुम्हारे भावी कार्यक्रम को वे पहले ही जान जाते हो? तुम्हारे निश्चित किये हुए विचारो को, तुम्हारे या मत्रियो के प्रकट न करने पर भी, दूसरे लोग तर्क और युक्तियो के द्वारा तो नही जान लेते? तुम्हे और तुम्हारे अमात्यो को दूसरे के गुप्त विचारो का पता लगता रहता है? जिन शत्रुओ को तुमने राज्य से निकाल दिया है, वे यदि फिर लौटकर आते है तो तुम उन्हे दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नही करते? काम-काज मे लगे सभी लोग निडर होकर तुम्हारे सामने तो नही आते अथवा सदा तुमसे दूर तो नही रहते? मध्यम स्थिति का अवलबन

---

१. १।४२।१२; १।४४।१८

२. **क्व नु ते भूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः। न हि त्वं जीवितस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि॥** २।१००।४

करना ही अर्थ-सिद्धि का कारण होता है। नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषो का सग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाचो इद्रियो के वशीभूत होना, राज्य-कार्यों के विषय में अकेले ही विचार करना, विपरीत बुद्धि-वाले मूर्खों से सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्यों को शीघ्र प्रारभ न करना, गुप्त मत्रणा को प्रकट कर देना, मागलिक कार्यों का अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओ पर एक ही साथ चढाई कर देना, ये राजाओ के चौदह दोष है। तुम इनसे दूर रहते हो ? दशवर्ग, पचवर्ग, चतुर्वर्ग, सप्तवर्ग, अष्टवर्ग, त्रिवर्ग, तीन विद्या, छ गुण, इद्रिय-निग्रह, दैवी और मानुषी बाधाए, राजा के नीतिपूर्ण कार्य, विंशतिवर्ग, प्रकृति-मडल, यात्रा (शत्रु पर आक्रमण), दड-विधान (व्यूह-रचना), तथा सधि और विग्रह, इन सबकी ओर तुम यथार्थ रूप से ध्यान देते हो ?"[1]

---

१. देखिए २।१००।१७-२१, ३७, ५२, ६५-७०। काम से उत्पन्न होनेवाले दस दोषो को 'दशवर्ग' कहते है। ये राजा के लिए त्याज्य है। मनु ने इनके नाम इस प्रकार गिनाये है—आखेट, जुआ, दिन में सोना, दूसरो की निंदा करना, स्त्री में आसक्त होना, मद्य-पान, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना। जल-दुर्ग, पर्वत-दुर्ग, वृक्ष-दुर्ग, ईरिण-दुर्ग और धन्व-दुर्ग, ये पाच प्रकार के दुर्ग 'पचवर्ग' कहलाते है। इनमें आरभ के तीन प्रसिद्ध ही है। जहा किसी प्रकार की खेती नहीं होती, ऐसे प्रदेश को 'ईरिण' कहते है। बालू से भरी मरु-भमि को 'धन्व' कहते है। गरमी के दिनो में वह शत्रुओ के लिए दुर्गम होती है। इन सब दुर्गों का यथासमय उपयोग करके राजा को आत्मरक्षा करनी चाहिए। साम, दान, भेद और दड की चार प्रकार की नीति को 'चतुर्वर्ग' कहते है। राजा, मत्री, राष्ट्र, किला, खजाना, सेना और मित्रवर्ग, ये परस्पर उपकार करनेवाले राज्य के सात अग है, जिन्हें 'सप्त-वर्ग' कहते है। चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोष-दर्शन, अर्थ-दूषण, तथा वाणी और दड की कठोरता, ये क्रोध से उत्पन्न होनेवाले आठ दोष 'अष्टवर्ग' माने गए है। किसी-किसीके मत से खेती की उन्नति करना, व्यापार को बढाना, दुर्ग बनाना, पुल-निर्माण कराना, जगल से हाथी पकडकर मगवाना, खानों पर अधिकार प्राप्त करना, अधीन राजाओ से कर लेना और निर्जन प्रदेश को आबाद करना, राजा के लिए उपादेय ये आठ गुण ही 'अष्टवर्ग' है। धर्म,

रामायण में राम, सुग्रीव और विभीषण तथा (उत्तरकाड मे) राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के पुत्रो के राज्याभिषेक का उल्लेख आया है। इनमें केवल राम और सुग्रीव के राज्याभिषेको का ही अपेक्षाकृत विस्तार से वर्णन मिलता है।

अर्थ और काम को अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभु-शक्ति तथा मंत्र-शक्ति को 'त्रिवर्ग' कहते है। त्रयी, वार्ता और दंडनीति, ये तीन विद्याएं है। इनमें तीनो वेदो को 'त्रयी' कहते है, कृषि और गो-रक्षा वार्ता के अंतर्गत है तथा नीति-शास्त्र का नाम दंडनीति है। सधि, विग्रह, दान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय, ये छः गुण है। इनमें शत्रु से मेल रखना 'संधि', उससे लड़ाई छेड़ना 'विग्रह', आक्रमण करना 'यान', अवसर की प्रतीक्षा में बैठे रहना 'आसन', दुरंगी नीति बरतना द्वैधीभाव और अपने से बलवान राजा की शरण लेना 'समाश्रय' कहलाता है। आग लगना, बाढ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारी का प्रकोप होना, ये पांच दैवी बाधाए है। राज्य के अधिकारियों, चोरों, शत्रुओ और राजा के प्रिय व्यक्तियो से तथा स्वयं राजा के लोभ से जो भय प्राप्त होता है, उसे मानवी बाधा कहते है। शत्रु राजाओ के सेवकों में से जिनका वेतन न मिला हो, जो अपमानित किये गए हो, जो अपने स्वामी के किसी व्यवहार से कुपित हो तथा जिन्हें भय दिखाकर डराया गया हो, ऐसे लोगो को इच्छित वस्तु देकर फोड़ लेना राजा का 'कृत्य' (नीतिपूर्ण कार्य) माना गया है। बालक, वृद्ध, दीर्घ काल का रोगी, जातिच्युत, डरपोक, भीरु मनुष्यो को साथ रखनेवाला, लोभी, लालची लोगो को आश्रय देनेवाला, मंत्री-सेनापति आदि प्रकृतियो को असतुष्ट रखनेवाला, विषयों में आसक्त, चंचल-चित्त मनुष्यो से सलाह लेनेवाला, देवता और ब्राह्मणो की निंदा करनेवाला, दैव का मारा हुआ, भाग्य के भरोसे पुरुषार्थ न करनेवाला, दुर्भिक्ष से पीड़ित, सैनिक कष्ट से युक्त (सेना-रहित), स्वदेश में न रहनेवाला, अधिक शत्रुओवाला, अकाल (क्रूर ग्रह-दशा आदि से युक्त) और सत्य-धर्म से रहित, ये बीस प्रकार के राजा सधि के योग्य नहीं माने गए है; इन्हींको 'विंशतिवर्ग' का नाम दिया गया है। राज्य के स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना, राज्य के इन सात अंगों को 'प्रकृति-मडल' कहते है। किसी-किसीके मत में मंत्री,

राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी के विवरण, राम के वन-प्रस्थान से अनभिज्ञ सीता के उद्‌गार तथा युद्धकाड में राम के राज्याभिषेक के वर्णन, इन तीनो को एक सूत्र में पिरोने पर रामायणकालीन राज्याभिषेक-प्रणाली की रूपरेखा प्राप्त की जा सकती है।[1]

राज्याभिषेक का समस्त प्रवध राजपुरोहित के सुपुर्द रहता था। हवन, अभिषेक तथा अन्य कृत्यो के लिए इन आवश्यक वस्तुओ का पहले से सग्रह कर लिया जाता था—चारो समुद्रो, (गगा आदि) पवित्र नदियो, सरोवरो और तीर्थों का जल, सुवर्ण, रत्न, देव-पूजन की सामग्री, सब प्रकार की ओषधिया, श्वेत पुष्पो की मालाए, लावा, घी, मधु, नये वस्त्र, सुसज्जित राजकीय रथ, शस्त्रास्त्र, चतुरगिणी सेना, उत्तम लक्षणो से युक्त हाथी, दो चवर, ध्वजा, सुवर्ण-भूषित श्वेत छत्र, साड के सीग, अनुलेपन, अगराग, चदन, अक्षत, प्रियगु, मधु, घी, दही, सुदर एव बहुमूल्य जूते, अग्नि के समान देदीप्यमान सोने के सौ कलश, सोने से मढे हुए सीगोवाला एक साड, व्याघ्रचर्म, अभिषेक के लिए सोने का पीढा (भद्रपीठ), तथा अन्य उपयोगी वस्तुए। इनमें से आवश्यक वस्तुए अग्निशाला में इकट्ठी करके रख दी जाती थी। स्वस्तिवाचन करनेवाले ब्राह्मणो के लिए आसन, दक्षिणा आदि का प्रवध रहता था। अलकृत कन्याए एव गणिकाए भी उपस्थित रहती थी। अभिषेक से एक दिन पहले, राजकुमार और उनकी पत्नी को उपवास-व्रत की दीक्षा दी जाती थी और वे दोनो ब्रह्मचर्यपूर्वक भगवान नारायण का पूजन और हवन करते थे। राज्याभिषेक के प्रात काल ब्राह्मणो को मदिरो तथा अन्य सार्वजनिक स्थानो में दही-दूध-घी आदि से सयुक्त उत्तम भोजन कराया जाता और प्रचुर दान-दक्षिणा दी जाती थी। नगर में सब ओर पताकाए फहराई जाती और राज-मार्गों पर छिडकाव कराया जाता था।

सभा के सदस्य, प्रमुख व्यापारी और नागरिक, श्रमिक सघो के प्रधान, सामत

राष्ट्र, किला, खजाना और दड, ये पाच प्रकृतिया अलग हैं और बारह राजाओ के समूह को 'मडल' कहते हैं। (देखिए 'कल्याण' का 'सक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणाक', पृ० १६६)

१. देखिए २।३।८-२०; २।१४।३४-४१, २।१५।१-१२, २।२६।१९-१८, ६।१२८।६८

राजा, मत्रिगण, सैनिक अधिकारी तथा राजकीय कर्मचारी—इन सबसे अपेक्षा की जाती थी कि वे सस्कार आरभ होने से पूर्व ही राजप्रासाद मे आकर अपना-अपना आसन ग्रहण कर ले। अभिषेक-सस्कार प्रासाद की अग्निशाला मे सपन्न होता था। पहले द्विजगण स्वस्तिवाचन-पूर्वक सपत्नीक राजकुमार को आशीर्वाद प्रदान करते, फिर वे दोनो दर्भयुक्त वेदी पर स्थापित अग्नि मे हवन करते। तत्पश्चात उन्हे भद्रासन पर बैठाया जाता और सर्वप्रथम ब्राह्मण और ऋत्विज उनका मत्रोच्चारण-पूर्वक पवित्र जल से अभिषेक करते, फिर क्रमश कन्याए, मत्री, सैनिक अधिकारी और वैश्य उनका अभिषेचन करते थे।

इसके बाद राजकुमार नवीन कौशेय वस्त्र धारण करते, शरीर पर चदन, गोरोचन और मन शिला का अनुलेपन करते और पत्नी-सहित रत्नो से सुशोभित सुवर्णमय सभा-भवन मे आकर दर्शन देते थे। यहा उन्हे समारोहपूर्वक राजपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था। सपत्नीक राजकुमार को रत्ननिर्मित सिहासन पर विराजमान किया जाता, पुरोहित द्वारा उनके सिर पर रत्नमय किरीट रखा जाता, उन पर श्वेत छत्र ताना जाता और चवर डुलाये जाते थे। सामतगण उन्हे विविध उपहार लाकर भेट करते। राजा भी उपस्थित लोगो को पुरस्कार आदि देकर सतुष्ट करते थे।

तदनतर नवाभिषिक्त राजा को पुष्परथ पर सवार करके नगर में उनका जुलूस निकाला जाता था। रथ मे सोने की साज-सज्जा से युक्त चार श्वेत अश्व जुडे रहते थे। राजा के बैठने के स्थान पर व्याघ्र-चर्म बिछा रहता था। अयोध्या-नरेशो के रथ का कोविदार-ध्वज दूर से ही लक्षित हो जाता था। सौ शलाकाओवाले श्वेत राजकीय छत्र से उन पर छाया की जाती, और दोनो ओर से चवर डुलाये जाते थे। इनके डडे सोने के बने तथा मणि-जटित रहते थे। राज्याभिषेक के समय उपस्थित रहनेवाले सभी अधिकारी जुलूस में राजा के साथ रहते थे।

आदर्श शासन-प्रबध के अतर्गत देश की समृद्धि होनी स्वाभाविक थी। राजा दशरथ के शासन-काल मे सारे अयोध्यावासी प्रसन्न, धर्मात्मा, धन-धान्य-सपन्न तथा निर्लोभ थे। वे नाना प्रकार के वस्त्राभूषणो से सुसज्जित रहते, मालाए और अगराग धारण करते तथा बहुमूल्य खाद्य और पेय पदार्थों का सेवन करते थे। अपवित्र अन्न का भोजन करनेवाला, दान न देनेवाला तथा मन का निग्रह न करनेवाला मनुष्य वहा कोई

दिखाई नही देता था। अयोध्यापुरी में एक भी मनुष्य ऐसा नही था, जो अग्निहोत्र और यज्ञ न करता हो। क्षुद्र, चोर, दुराचारी अथवा वर्णसकर का वहा नाम भी नहीं था। सभी मनुष्य स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि परिवार के साथ सुख से रहते थे (१।६)।

राम-राज्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय विधवाओ का विलाप नही सुनाई पडता था, सर्पादि दुष्ट जतुओ का भय नही था, रोगो की आशका नही थी, कोई चोर नही था, पाप का कोई स्पर्श भी नही करता था तथा बूढो को बालको के अत्येष्टि-सस्कार नही करने पडते थे। सभी लोग प्रसन्न थे, धर्मपरायण थे तथा राम को देखते हुए एक-दूसरे को कष्ट नही पहुचाते थे। उस समय लोग दीर्घ-जीवी और पुत्र-पौत्र-सपन्न थे, तथा उन्हे किसी प्रकार का रोग या शोक नही होता था। वृक्षो की जडें मजबूत होती थी और वे फल-फूलो से लदे रहते थे। मेघ यथेष्ट वर्षा करते थे और वायु सुखकारी होकर प्रवाहित होता था। सब लोग अपने-अपने कर्मों से सतुष्ट रहकर उन्हीका आचरण करते थे। सारी प्रजा सुखी, सतुष्ट और पुष्ट थी। दुर्भिक्ष का भय नही था। स्त्रिया सदा-सुहागिनी और पतिव्रता थी। आग लगने का भय नही था। कोई प्राणी जल में नही डूबता था। वात, ज्वर या क्षुधा का डर नही था। सभी नगर और जनपद धन-धान्य से सपन्न थे (१।१।९०-३, ६।१२८।९८-१०४)।

तत्कालीन शासन-तत्र के तीन मुख्य अग सभा, मत्रि-परिषद तथा शासनाधिकारी (तीर्थ) थे। इन तीनो की सहायता से राजा शासन-सचालन करता था।

राम और दशरथ के युग की राज्य-सभा, लोक-सभा या धारा-सभा 'परिषद', 'समिति', 'ससद' या केवल 'सभा' कहलाती थी।[1] आज के युग में 'पार्लमेंट' या 'असेंबली' का जो महत्व है, कुछ-कुछ वैसा ही उस समय सभा या परिषद

---

१ सामान्य जन-समूह के लिए भी 'सभा' और 'परिषद' शब्द आये है—'समेत्य सघश. सर्वे चत्वरेषु सभासु च' (२।६।२०)। जहा सभा का अधिवेशन होता था, उस भवन को भी 'सभा', कहते थे—'समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातय (२।६७।२)।

का था। सभा के सदस्य 'प्रकृति', 'सभासद' अथवा 'आर्यमिश्र' कहलाते थे। उन्हे 'आर्य' अर्थात माननीय कहकर सबोधित किया जाता था। सामूहिक रूप से उन्हे 'आर्यगण' कहते थे।

सभा के सदस्य सरकारी और गैर-सरकारी दोनो होते थे। सरकारी सदस्यो मे अमात्य-गण (क्षत्रिय), मत्रिगण (ब्राह्मण ऋषि-मुनि) और सेनापति तथा गैर-सरकारी सदस्यो में राजागण (सामत) और नगर-ग्राम के प्रतिनिधि होते थे। राजधानी के प्रतिनिधि 'पौर' और शेष राष्ट्र के प्रतिनिधि 'जानपद' कहलाते थे। सभा का यह 'पौर-जानपद' अग ही सबसे अधिक शक्तिशाली था, क्योकि देश के बहुमत का यही प्रतिनिधित्व करता था। पौर-जानपदो मे राजधानी के नगम और गणवल्लभ तथा देहात के ग्रामघोपमहत्तर (किसानो और ग्वालो के प्रतिनिधि) समाविष्ट होते थे। ये वैश्य वर्ण और व्यापारी वर्गो के प्रतिनिधि थे। इस प्रकार सभा मे वर्णों, हितो और प्रदेशो को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। ये प्रतिनिधि सरकार द्वारा नियुक्त अथवा जनता द्वारा निर्वाचित होते थे, यह स्पष्ट नही है, फिर भी नैगमा, ग्रामघोपमहत्तरा, श्रेणीमुख्या, गणवल्लभा, जनमुख्या जैसे नामो से किसी-न-किसी प्रकार का चुनाव ध्वनित होता है।

सभा के अधिवेशन में बाहर से विशिष्ट व्यक्तियो को आमत्रित करने की प्रथा प्रचलित थी। जब वसिष्ठ ने दशरथ का उत्तराधिकारी चुनने के लिए अयोध्या की सभा का विशेष अधिवेशन बुलाया, तब उसमे भरत के मामा राजकुमार युधाजित भी आमत्रित किये गए थे (२।८१।१३)। भरत से सबधित होने के कारण युधाजित की इस अधिवेशन में विशेष रुचि रही होगी।

सामान्यत शासन-सबधी सभी महत्वपूर्ण प्रश्नो पर सभा का परामर्श लिया जाता था। राजा या युवराज के निर्वाचन, युद्ध की घोषणा, राजा के राज-त्याग या अवसर-ग्रहण-जैसे विषयो मे सभा की स्वीकृति आवश्यक होती थी। जब दशरथ ने वृद्धावस्था के कारण राम को राज्य-भार सौंपना चाहा, तब उन्होने अपनी सभा का एक विशेष अधिवेशन बुलाया था। इसी प्रकार उनकी मृत्यु के बाद नया राजा चुनने के लिए अयोध्या की सभा जुटी थी। भरत के हाथो दशरथ की अत्येष्टि समाप्त हो जाने पर राजपुरोहित वसिष्ठ ने सभा का पुन एक विशेष अधिवेशन बुलाया, जिसमे सभा तथा प्रजा की ओर से उन्होने, कैकेयी-दशरथ की इच्छानुसार, भरत को अयोध्या की राजगद्दी स्वीकार करने को कहा था।

रामायण में लोक-सभा की गति-विधि पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। एक ओर हमें दशरथ-जैसे वैधानिक शासक की सभा के शांतिकालीन अधिवेशन का वर्णन मिलता है, तो दूसरी ओर रावण-जैसे एकच्छत्र और निरकुश सम्राट की परिषद के युद्धकालीन अधिवेशन का भी रोचक वृत्तात प्राप्त होता है। इन अधिवेशनो की तुलना यदि आधुनिक ससद की कार्रवाई से की जाय, तो दोनो में बहुत-कुछ समानता दिखाई देगी।

सभासदो को उपस्थित होने की सूचना दूतो या सदेशवाहको द्वारा पहुचाई जाती थी।[1] राजा की अनुपस्थिति में सभा का अधिवेशन पुरोहित या अमात्यगण भी बुला सकते थे।[2] बाहर के सदस्यो के लिए राजधानी में निवासस्थान का प्रबध होता था।[3]

अयोध्या का ससद-भवन राजप्रासाद का ही एक अग था। राजा दशरथ अपने महल से निकलते ही ससद-भवन में पहुच गए थे और अधिवेशन की समाप्ति पर भवन से निकलकर राजमहल में चले गए थे।[4] इसके अतिरिक्त अयोध्या का सभा-भवन[5] तीनो ओर से खुला भी रहा होगा, तभी तो दशरथ ने सभा में बैठे-बैठे ही राम को राज-मार्ग से आते हुए देख लिया था (**प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम्**, २।३।२७)। किंतु लका में सभा-भवन राजप्रासाद से दूर एक

---

१. २।८१।११, २।११।४६, ६।११।१७

२. २।८१।१२, २।६७।२

३. जनपद से आनेवाले प्रतिनिधियो को 'पुरालय' अर्थात राजधानी में निवास करनेवाले कहा गया है (२।१।५१)। एक अन्य स्थल पर राजा द्वारा बाहर से आनेवाले प्रतिनिधियो का निवास-स्थान आदि से सत्कार किये जाने की बात कही गई है—'तान्वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान्' (२।१।४७)।

४. २।४।१,३, २।१०।६-१०

५. सभा-भवन के गलियारे अथवा दर्शन-कक्ष प्रजा के लिए खुले रहते होगे। यहीं से राम के मित्रो ने सभा की कार्रवाई देखी होगी और राम के यौवराज्याभिषेक का निश्चय होते ही वे कौसल्या को यह शुभ सवाद सुनाने दौडे गए, 'तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिण। त्वरिता· शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन्॥' २।३।४६-७

अतिरिक्त भवन रहा होगा, क्योंकि रावण अपने महल से रथ पर सवार होकर एक राजकीय जुलूस मे वहा पहुचा था।[1]

सभा का अध्यक्ष राजा होता था और उसकी अनुपस्थिति में राजपुरोहित। सबसे पहले सुसज्जित वेश-भूषा में राजा प्रवेश कर आसन ग्रहण करता था। रावण के सभासद सुवर्ण, मुक्ता और मणियो से अलकृत तथा उत्तम वस्त्रो, पुष्पमालाओ तथा अगराग से सज्जित थे।[2] अयोध्या की सभा के सभासद सुदर वस्त्रो तथा चदन के लेप से प्रकाशमान थे—**वस्त्रागरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा** (२।८२।२)।

सभा-भवन मे समुचित शिष्टाचार का पालन किया जाता था। राजा अथवा सभापति के सिंहासन पर आसीन होने के पश्चात अन्य सभासद अपना आसन ग्रहण करते थे। बैठने के स्थान सभापति की दिशा मे न्यायानुसार लगे रहते थे। राजा का आसन सभा-भवन के एक ओर बीच में लगा रहता था और उन्हीके पास युवराज बैठते थे (२।३।३४-५)। सामत राजाओ, क्षत्रिय और वैश्य प्रतिनिधियो तथा ब्राह्मणो के लिए विशेष स्थान नियत थे। सभी अपने पद के अनुसार आसन ग्रहण करते थे। दशरथ की सभा में सारे सभासद समानपूर्वक राजा की ओर मुह करके बैठते थे (**राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः**, २।१।५०)। भाषण की अनुमति मिलने पर ही वे सभा को सबोधित करते थे।[3]

सभासदो के कर्तव्य के विषय में राम कहते हैं—"वह सभा सभा नही जहा वृद्ध न हो, वे वृद्ध वृद्ध नही जो धर्मयुक्त बात न कहते हो, वह धर्म धर्म नही जो सत्य न हो और वह सत्य सत्य नही जो निश्छल और स्वत प्रेरित न हो। अर्ध-सत्य बाते कहना निदनीय है। जो सभासद सत्य बात जानते हुए भी मौन रहते हैं, उन्हे असत्य-वादी ही समझना चाहिए। जो सभासद स्वार्थ, क्रोध या भयवश सत्य बात नही कहते, जबकि ऐसा करना उनका परम कर्तव्य है, वे नरक में दड के भागी बनते है।

---

१. तमास्थाय रथश्रेष्ठं महामेघसमस्वनम। प्रययौ रक्षसां श्रेष्ठो दशग्रीवः सभा प्रति॥ ६।११।४

२. सुवर्णनानामणिभूषणानां सुवाससां संसदि राक्षसानाम्। तेषां परार्घ्यागुरु-चन्दनानां स्रजां च गन्धा· प्रववु· समन्तात्॥ ६।११।२६

३. ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम्॥ २।२।२०; अथ रामेण सम्पृष्टाः सर्व एव सभासदः। ७।५९(२)।३१

प्रत्येक सभासद का यह कर्तव्य है कि वह लोभ, भय अथवा पक्षपात किये बिना नि स्वार्थ भाव से सभा की कार्रवाई में अपनी योग्यता के अनुसार पूर्ण सहयोग दे।"[1]

तत्कालीन ससद की कार्य-प्रणाली का विस्तृत परिचय वाल्मीकि-कृत दशरथ की सभा के वर्णन से मिलता है (२।२-३)। सभापति के नाते दशरथ ने सभासदो के समुख खडे होकर उन्हे गभीर उच्च स्वर से सबोधित किया और अधिवेशन बुलाने का कारण बतलाया। उन्होने कहा कि मैंने राज्य के शासन का दीर्घ समय तक अपनी पूरी योग्यता और शक्ति के साथ सचालन किया है, किंतु अब मैं वृद्धावस्था के कारण शासन-भार से मुक्त होना चाहता हू। तत्पश्चात दशरथ ने यह प्रस्ताव रखा कि मेरे पुत्र राम को, जो युवक है तथा मुझसे योग्यता और सामर्थ्य में बढे-चढे हैं, युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया जाय, यदि यह प्रस्ताव आप लोगो को रुचिकर, बुद्धि-मत्तापूर्ण तथा कल्याणकारी प्रतीत होता हो। अपने प्रस्ताव का समर्थन करते हुए दशरथ ने राम की विशेषताओ पर प्रकाश डाला और सभा से निवेदन किया कि या तो आर्यगण मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करें अथवा उससे अधिक उपयुक्त कोई और प्रस्ताव रखें—

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥२।२।१६

इस प्रकार राजा को प्रस्ताव रखने मात्र का अधिकार था। अतिम चुनाव या निर्णय का अधिकार केवल सभा को प्राप्त था। दशरथ ने अतिम निर्णय का भार सभासदो पर ही छोड दिया, अन्यथा वह स्वय राम के चुनाव के पक्षपाती समझ लिये जाते। उन्होने इस बात का आग्रह किया कि योग्य व्यक्ति को चुनने के लिए परिषद का सर्वथा पक्षपातहीन निर्णय परम आवश्यक है।

सभा के समुख किसी प्रस्ताव को रखने से पूर्व यह आवश्यक था कि राजा

---

१. **न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्। नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्य यच्छलेनानुविद्धम् ॥ य तु सभ्याः सदा ज्ञात्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते। यथा प्राप्त न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतवादिन। जानन्न वाब्रवीत्प्रश्नान्कामात्क्रोधाद्भयात्तथा। सहस्र वारुणान्पाशानात्मनि प्रतिमुचति ॥ ७।५६(२)।३३-५**

उसके विषय मे अपनी मत्रि-परिषद के साथ विचार-विनिमय कर ले। दशरथ ने उक्त प्रस्ताव पर अपने मत्रियो के साथ परामर्श करके यह पता लगा लिया था कि प्रजा उनके प्रस्ताव से कितनी सहमत होगी—**निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्य-ममन्यत** (२।१।४२)

दशरथ के भाषण का सभा ने तुमुल जयजयकार-ध्वनि से स्वागत किया।

यह दर्शनीय है कि दशरथ ने सभा पर अपना निर्णय लादने की चेष्टा नही की, अपितु अपने प्रस्ताव पर विचारपूर्वक निर्णय कर एक सर्व-समत निश्चय प्रकट करने की प्रार्थना-भर की थी। एक वैधानिक शासक की मर्यादाओ को वह जानते थे।

राजा के आदेशानुसार सभा ने विचार-विनिमय के बाद सर्व-समति से यह निर्णय किया कि राम ही दशरथ के उत्तराधिकारी बनने के योग्य है। प्रस्ताव उपस्थित किये जाने के बाद सभासदो का उस पर विचार करना उस आधुनिक परिपाटी का ही पूर्व-रूप है, जिसके अनुसार किसी प्रस्ताव-विशेष पर ऊहापोह करने के लिए ससद के सभी या कुछ विशेष सदस्य एक प्रवर-समिति बना लेते है और फिर ससद के समक्ष अपना सुविचारित एव परिपक्व निर्णय प्रकट करते है। वाल्मीकि ने यह नही बताया है कि अपने प्रस्ताव पर बहस होते समय दशरथ ने सभापति का स्थान छोड दिया था अथवा नही। सभा के निर्णय की सूचना राजा को सभा के किसी एक प्रतिनिधि या प्रवक्ता ने आकर दी होगी, क्योकि सभी सदस्यो का एक साथ चिल्ला-कर निर्णय सूचित करना तो सगत नही जान पडता।

राम के पक्ष में सभासदो की समति जान लेने पर दशरथ ने यह शका प्रकट की कि मेरे धर्मपूर्वक शासन करते रहने पर भी आप राम को युवराज क्यो बनाना चाहते है। इस पर सभा ने राम के गुणो का उल्लेख किया और यह सिद्ध किया कि राजा को प्रसन्न करने के लिए नही, अपितु सर्वोत्तम शासक चुनने की इच्छा से प्रेरित होकर ही यह निर्णय किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि सभा का यह कर्तव्य था कि वह अपने निर्णय की सकारण पुष्टि भी करे। राम को चुनने का कारण स्पष्ट करने के बाद सभा ने दशरथ से निवेदन किया कि सारे राज्य के ग्रामीण एव नागरिक प्रजागण राम को युवराज के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते है।

राजा दशरथ ने सभा का निर्णय सुना और अपने पुत्र को अयोध्या का भावी राजा चुनने के उपलक्ष्य मे प्रसन्नता प्रकट की तथा सभा के प्रति आभार प्रदर्शित किया। इसके बाद उन्होने अपने मत्रियो को आदेश दिया कि सभा के निर्णय को

कार्यान्वित करने के लिए शीघ्र कार्रवाई करें। राजा की इस तत्परता से प्रसन्न हो सभासदो ने उनका जयघोष किया।

आश्चर्य की बात है कि महाराज दशरथ ने सभा के इस निर्णय को क्रियान्वित नही किया—राम युवराज नही बनाये गए और उन्हे अत पुर के षड्यत्र का शिकार हो वन चले जाना पडा। प्रजा ऐसा नही चाहती थी, राज्य के वरिष्ठ अधिकारी भी यह नही चाहते थे, पर एक रानी की मागें अधिक प्रबल सिद्ध हुई। राजा के निजी वचन की रक्षा के लिए जनता की माग ठुकरा दी गई। इससे यह प्रमाणित होता है कि सभा की अनुमति बहुत-कुछ औपचारिक होती थी तथा असाधारण परिस्थितियो में राजा का निर्णय ही अतिम होता था।

अब रावण की सभा के अधिवेशन की भी एक झाकी कर ली जाय। रावण यह भली भाति जानता था कि सफलता का मूल सत्परामर्श है—**मन्त्रमूल हि विजय प्रवदन्ति मनस्विन** (६।६।५)। एतदर्थ उसने भी एक परामर्शदात्री सभा या परिषद बना रखी थी, जिससे वह सकट-काल में मत्रणा किया करता था। रावण की सभा में उसके सैन्य-अधिकारियो, मत्रियो और बधु-बाधवो का बाहुल्य था। वह स्वय उसका अध्यक्ष था।

रामायण में रावण द्वारा अपनी सभा के दो अधिवेशन बुलाने का उल्लेख मिलता है—एक तो हनुमान द्वारा लका के अग्निकाड के पश्चात और दूसरा लका पर राम का आक्रमण होने के समय।

प्रथम अधिवेशन (६।६) में रावण ने सभासदो को पहले यह सूचना दी कि हनुमान ने दुर्गम लकापुरी का विध्वस कर दिया है, और फिर उनकी समति मागी कि राम के विरुद्ध क्या कदम उठाया जाय—**तस्माद्वै रोचये मत्र राम प्रति महाबलाः** (६।६।५)। रावण ने राजाओ को तीन श्रेणियो मे विभाजित करते हुए कहा कि जो राजा अपने हितकारियो के साथ परामर्श करके कार्यारभ करता है, वह उत्तम श्रेणी का है, जो अकेला ही अपने कर्तव्य का विचार करता है, वह मध्यम है, तथा जो गुण-दोप का विचार न करके अहकारवश कार्य आरभ करता है, वह अधम है। इसी प्रकार निश्चयो को भी रावण ने तीन श्रेणियो में विभाजित किया। जिसमें शास्त्रोक्त दृष्टि से सब मत्री एकमत होकर प्रवृत्त होते हैं, उसे उत्तम निश्चय कहते हैं, जहा प्रारभ में अनेक प्रकार के मत-भेद होने पर भी अत में सबका एकमत हो जाय, वह निश्चय मध्यम होता है, तथा जहा अपनी-अपनी बुद्धि की प्रधानता रख-

कर स्पर्धापूर्वक भाषण किया जाय, और ऐसे परस्पर-विरोधी मत प्रकट किये जाय, जिनमें कल्याण की सभावना न हो, वह निश्चय अधम कहा जाता है।

रावण की सभा के अधिकाश सदस्यो को न नीति का ज्ञान था और न वे शत्रु की शक्ति के सबध मे ही कुछ जानते थे। उनमें चाटुकारिता और युद्ध के प्रति मोह था। उन्होने रावण के पराक्रम की प्रशसा करके उसे परामर्श दिया कि हनुमान द्वारा किये गए अपमान का बदला अवश्य लिया जाय और प्रतिशोध-स्वरूप सीता को न लौटाया जाय। प्रहस्त, दुर्मुख, वज्रहनु आदि राक्षसो ने तमक-तमककर अपनी शेखी बघारी। केवल विभीषण ने विपरीत परामर्श दिया और कहा—"आप मेरे भाई है। मै आपसे विनय करता हू और आपके हित के लिए सच्ची बात कहता हू कि राम को उनकी पत्नी लौटा दीजिए।" विभीषण की बात सुनकर रावण ने सभा भग कर दी और वह अपने महल मे चला गया।

राक्षसी सभा के राजकीय वैभव और विशेषाधिवेशन का परिचय उसकी दूसरी बैठक के वर्णन में मिलता है (६।११-२)। प्रात काल होने पर रावण सोने की जाली और मणि-मुक्ताओ से विभूषित रथ पर चढकर सभा-भवन में गया। रथ मे प्रशिक्षित घोडे जुते हुए थे। उसके साथ-साथ ढाल-तलवार आदि सब प्रकार के शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित राक्षस चले। वे चित्र-विचित्र वेश में आभूषणो से सज-धजकर उसके आगे, पीछे और दायें-बाये चल रहे थे। इनमे कुछ रथो पर, कुछ मत-वाले हाथियो पर और कुछ उछलते-कूदते घोडो पर सवार थे। रावण के सिर पर शुभ्र छत्र तना हुआ था। दोनो ओर से चवर और पखे झूल रहे थे। राजपथ पर चलने-वाले राक्षसो के रथो से और सहस्रो शखो और तुरहियो की ध्वनि से समस्त वाता-वरण गूज रहा था। मार्ग मे खडे लोग हाथ जोडकर और सिर झुकाकर उसका अभिवादन कर रहे थे। राक्षसो की जयकार के साथ रावण अपनी राज्य-सभा मे पहुचा।

सभा-भवन के फर्श मे सोने-चादी का काम किया हुआ था। बीच-बीच मे स्फटिक जडा था। उस पर सुनहला कालीन बिछा था। छ सौ राक्षस योद्धा सभा-भवन की रक्षा के लिए तैनात थे। रावण का सिहासन वैदूर्य-मणियो का बना हुआ था। उस पर अत्यत कोमल मृग-चर्म बिछा था। सभासदो के लिए सुदर चौकिया रखी थी। भूमि पर भी बैठने का प्रबध था। सभा मे सदस्यो को बैठाने का प्रबध शुक्र और प्रहस्त नामक राक्षसो के अधीन था। अयोध्या की लोक-सभा की भाति लका

की सभा में भी सदस्यगण चाहे जहा नही बैठ सकते थे। उन्ही आसनो पर उन्हे बैठना पडता था, जो उनके लिए नियत थे।

रावण ने अध्यक्ष-स्थान ग्रहण करके समस्त सभासदो को तुरत बुला लाने के लिए दूतो को आदेश दिया, क्योकि अधिवेशन में महत्व की मत्रणा होनेवाली थी। दूतो ने घर-घर जाकर सभासदो को रावण के आदेश से अवगत किया। आदेश पाते ही कोई रथ पर, कोई घोडे पर, कोई हाथी पर तो कोई पैदल ही सभा-भवन की ओर चल पडा। अपने वाहन बाहर छोडकर सदस्यो ने पैदल ही भवन मे प्रवेश किया। भीतर आने पर उन्होने राजा का चरण-स्पर्श किया। राजा ने उनका समान करके उन्हे आसन ग्रहण करने को कहा। थोडी ही देर में भवन बुद्धिमान अमात्यो, नीति-निपुण मत्रियो तथा सैकडो सैन्य-अधिकारियो से खचाखच भर गया। सबसे अत में विभीषण ने आकर अपने अग्रज को प्रणाम किया। सभासदो मे से कोई भी शोरगुल नही करता था, कोई जोर से नही बोलता था, न कोई असत्य-भाषण ही करता था, सभी राजा की ओर उन्मुख होकर बैठे थे—

न चुक्रुशुर्नानृतमाह कश्चित्सभासदो नापि जजल्पुरुच्चै ।
ससिद्धार्था सर्व एवोग्रवीर्या भर्तु. सव. ददृशुश्चानन ते ॥६।११।३०

युद्धकालीन अधिवेशन होने के कारण रावण ने विशेष सावधानी बरती थी। उसने सभा-भवन और नगर-दुर्ग की रक्षा का प्रबध करने के लिए प्रहस्त को आज्ञा दी। प्रहस्त के लौट आने तक सभा उसकी प्रतीक्षा करती रही। प्रहस्त ने भवन के रक्षको की सख्या दुगुनी कर दी और लौटकर रावण से निवेदन किया कि अब निश्चित होकर अधिवेशन प्रारभ कीजिए—**कुरुष्वाविमना क्षिप्र यदभिप्रेतमस्ति ते** (६।१२।५)।

रावण ने अपने अध्यक्षीय भाषण में सर्वप्रथम सभासदो की पूर्व-सेवाओ के लिए उन्हें धन्यवाद दिया—"आप सबकी सहायता से ही मैंने देवासुर-सग्राम मे विजय प्राप्त की थी।" सीता का हरण कर लेने की सूचना रावण ने अपने सभासदो को नही दी थी, पर अब याचना-भरे स्वर में उसने कहा—"वे दोनो राजकुमार सीता का पता पाकर सुग्रीव आदि वानरो को साथ लिये समुद्र के उस तट पर आ पहुचे हैं। आप लोग ऐसी युक्ति बताय कि जिससे वे मारे जाय और सीता को न लौटाना पडे। मेरी दृष्टि में सीता के समान तीनो लोको में कोई स्त्री नही है। उसके मनोहर सौदर्य और गुणो पर मै मुग्ध हू।"

रावण का प्रलाप सुनकर कुभकर्ण को क्रोध आ गया और उसने कहा—"महाराज, आपको चाहिए था कि सीता को हर लेने से पहले हमसे परामर्श करते। आपने बिना विचार किये एक अनुचित काम कर डाला।" पर बाद में कुभकर्ण को, सरकारी सदस्य होने के कारण, राजा का समर्थन करना ही पडा। उसने आगे कहा—"यद्यपि आपने यह काम अपनी योग्यता से बढकर कर डाला है, फिर भी आपके शत्रुओ का सहार करके मै सब ठीक कर दूगा।"

विभीषण ने रावण को उसके सर्वनाश से सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझा। उसने भाई को सलाह दी कि आप क्षमा-याचना के साथ राम के पास सीता को पहुचा दें। विभीषण के बाद प्रहस्त, इद्रजित आदि अन्य सभासदो ने राम के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करने का समर्थन किया और विभीषण को कायर बताया। रावण ने विभीषण को देशद्रोही और कुलकलक-जैसे विशेषणो से सबोधित किया और उन पर यह आरोप लगाया कि शत्रु ने तुम्हे रिश्वत दी है। इन आरोपो को सुनकर विभीषण ने अपने को अपमानित अनुभव किया और वह सभा-भवन छोडकर चले गए।

इस प्रकार रावण की सभा में कोई विरोधी दल नही था, फिर भी कुभकर्ण और विभीषण के विरोधी भाषण एक निरकुश शासन में प्रजातात्रिक पद्धति का आभास देते है। रावण के सभा-भवन की सुरक्षा के लिए जो सैनिक प्रबध होता था, वह आज भी देखा जा सकता है।

राजागण देश का शासन एक मत्रि-परिषद की सहायता से चलाया करते थे। अश्वमेध करने के समय, युवराज को कार्यवश बाहर भेजने के समय, युवराज के योग्य वधू का चुनाव करते समय, सभा के समक्ष किसी प्रस्ताव को रखने से पूर्व, युद्ध-घोषणा करने से पूर्व तथा अन्य कठिन समस्याओ का हल करने के लिए राजा मत्रि-परिषद से परामर्श करता था। इसमें दो प्रकार के सदस्य होते थे—(१) गुरुजन (**गुरवः**), जो एक परामर्शदात्री समिति के रूप मे काम करते थे। इनसे राजा महत्त्वपूर्ण कार्य आरभ करने से पूर्व, परामर्श लिया करता था। ये सभी ब्राह्मण वर्ण के होते थे और 'मत्रिण' भी कहलाते थे। (२) अमात्य या सचिव, जिन्हे आज की भाषा मे 'कैबिनेट' या मत्रिमडल कहा जा सकता है। प्रत्येक सचिव को एक विभाग सौपा जाता था।

गुरुजनो अथवा मत्रियो तथा अमात्यो अथवा सचिवो का यह अतर राम के एक कथन से प्रकट होता है। चित्रकूट पर उन्होने भरत से पूछा था—"तुम अपने

अमात्यो और मन्त्रियो से परामर्श तो करते रहते हो ?"[1] यहा मन्त्रियो से राम का अभिप्राय परामर्शदाता गुरुजनो से ही है। वानर और राक्षसो में भी मन्त्रि-परिषद के ये दोनो विभाग स्पष्ट प्रकट होते है। हनुमान को सुग्रीव का सचिव (४।३।२२) और उन परामर्शदाताओ को, जिन्होने वाली को मृत समझकर सुग्रीव के राज्याभिषेक का आग्रह किया था, मन्त्री कहा गया है (४।६।२०-१)। विभीषण अपने जिन चार साथियो को लेकर राम की शरण में आये थे, वे उनके अमात्य थे। रावण के साथ उसके सचिव भी दिग्विजय के लिए गए थे, जबकि उसकी सभा के परामर्शदाता मन्त्र-तत्वज्ञ मन्त्री थे।

महाराज दशरथ की मन्त्रि-परिषद (अमात्य और गुरुजन दोनो) महर्षि वसिष्ठ के नेतृत्व में काम करती थी, जो राजपुरोहित और वास्तविक प्रधान मन्त्री थे। अमात्यो के साथ उनका निकट सपर्क था। सभी राजकीय मामलो में दशरथ अपने पुरोहित, अमात्यो और मन्त्रियो के साथ परामर्श करते थे।

परामर्शदाता गुरुजन ये आठ व्यक्ति थे—सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम, मार्कंडेय, कात्यायन, वसिष्ठ और वामदेव। इनमें से वसिष्ठ और वामदेव ऋत्विज भी थे (१।७।४-५)। ये सभी ब्रह्मर्षि और 'वेदपारग' थे। कुल-परपरा से ये राजा के सलाहकार बने हुए थे और अपनी आयु, बुद्धिमत्ता तथा शास्त्र और परपरा के ज्ञान के कारण सुविख्यात थे।

जहा अमात्यगण सदैव राजा के सान्निध्य में रहा करते थे, वहा गुरुजन आवश्यकतानुसार परामर्श के लिए बुलाये जाते थे। जब महाराज दशरथ अश्वमेधयज्ञ करने के औचित्य पर विचार कर रहे थे, जब महाराज राम पर एक ब्राह्मण ने कुशासक होने का आरोप लगाया था, तथा जब सीता की पवित्रता की सार्वजनिक परीक्षा लेने का प्रश्न उठा था, तब गुरुजन परामर्श के लिए आमत्रित किये गए थे। अपने अगाध धर्मशास्त्रीय ज्ञान और अनुभव, तथा नीति, इतिहास और परपराओ से विस्तृत परिचय के कारण वे राजा के बडे सहायक सिद्ध होते थे। साधारण और असाधारण धर्मों के निर्णय में उनकी समति प्रमाण-स्वरूप होती थी। सकट-कालीन स्थिति में जब राजा का पद रिक्त होता था, वे 'राजकर्तार' के रूप में

---

१. अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभि.। सर्वकार्याणि समन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय॥ २।११२।१७

नूतन राजा की नियुक्ति करते थे। कोई स्वार्थ न रहने के कारण यह कार्य उनके विशेष उपयुक्त था।

महाराज दशरथ के निधन के तुरत बाद ही उनके परामर्शदाता गुरुजन समिलित होकर सभा-भवन में गए और अमात्यो-सहित प्रधान मत्री महर्षि वसिष्ठ को सबोधित करके बोले कि अराजकता के अनेक दोष हैं, इसलिए इक्ष्वाकु-वश के राजकुमारो में से जिसे आप उपयुक्त समझे, राजा बना दें।[1] इस प्रकार गुरुजनो ने राजा नियुक्त करने का अपना अधिकार मुनिवर वसिष्ठ को सौप दिया। ऐसा करना तत्कालीन परिस्थिति में वाछनीय भी था, क्योकि दशरथ उत्तराधिकारी नियुक्त किये बिना परलोक जा चुके थे तथा राम और भरत भी राजधानी मे नही थे। इसलिए राजा किसे बनाया जाय, इसका तुरत निर्णय करना आवश्यक था। आपसी मत-भेद के कारण कही इसमें विलब न हो, इसलिए समस्त गुरुजनो ने प्रधान मत्री को यह अधिकार सौप देने की बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की, क्योकि वही सबसे अधिक नीतिज्ञ, निष्पक्ष एव सार्वजनीन आदर के पात्र थे। जब वसिष्ठ ने राजकुमार भरत को उनके ननिहाल से बुला भेजने का प्रस्ताव किया, तब उसका सभी ने अनुमोदन किया। दशरथ की अत्येष्टि सपन्न हो जाने के बाद इन्ही गुरुजनो ने राजकर्ता की हैसियत से भरत को राज-पद प्रदान किया था। अमात्यो को ऐसा करने का अधिकार नही था।

दशरथ के आठ अमात्य या सचिव थे (१।७।३)—धृष्टि, जयत, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मत्रपाल और सुमत्र। अमात्यो में क्या-क्या गुण होने चाहिए, इसका पता हमें राम के उस उपदेश से चलता है, जो उन्होने भरत को चित्रकूट पर दिया था। उन्होने कहा—"क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेंद्रिय, कुलीन और बाहरी चेष्टाओ से मन की बात समझ लेनेवाले सुयोग्य व्यक्तियो को ही अमात्य बनाया है? अच्छी मत्रणा ही राजाओ की विजय का साधन है। नीति-शास्त्र के ज्ञाता एव मत्र को गुप्त रखनेवालो मे श्रेष्ठ अमात्यो द्वारा ही राजा भली भाति सुरक्षित रहता है। मेधावी, शूरवीर, चतुर एव नीतिज्ञ अमात्य यदि एक भी हो तो वह राजा या राजकुमार को बहुत बडी सपत्ति प्राप्त करा सकता

---

१. इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्। अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्॥ २।६७।८

...। क्या तुम्हारे मन्त्री शास्त्रों के प्रधान, मध्यम श्रेणी के मनुष्यों को मध्यम और छोटे लोगों को छोटे काम में ही नियुक्त किया है न? जिनको भली भाँति परीक्षा कर लिया है, जो पुरुषों के समय से ही काम करते आ रहे हों, तथा जो बाहर-भीतर से पवित्र और शुद्ध हैं, ऐसे अमात्यों को तुम उत्तम कार्यों में नियुक्त करते हो? (२।१००।१५-६,२४-६)।

अयोध्या की मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों के विषय में कहा गया है कि वे सभी-के-सब विद्वान, विनयशील, सदाचारी, चतुर, जितेन्द्रिय, श्री-सम्पन्न, महात्मा, शास्त्रों के ज्ञाता, पराक्रमी, यशस्वी, राज्य-कार्य में सावधान, राजा की आज्ञा के अनुसार काम करनेवाले, नेतृत्वी, क्षमावान और हँसकर बात करनेवाले थे। उनमें कोई ऐसा न था, जो काम, क्रोध या लोभ के वशीभूत होकर कभी झूठ बोलता हो। अपने या शत्रु-पक्ष के राजाओं की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती थी। दूसरे राजा क्या करते थे, क्या कर चुके हैं और क्या करना चाहते हैं—ये सभी बातें उन्हें मुखाग्र याद रहती थीं। वे सभी व्यवहार में कुशल थे। उनके सहायक भी अच्छे चरित्र पर प्रतिष्ठित हो चुके थे। वे सौंपा पड़ने पर अपने पुत्र को भी उचित दण्ड देने में नहीं हिचकते थे और अपराध न होने पर शत्रु को भी क्षमा नहीं करते थे। वे शूर थे और उदार थे। सभी राजनीति के अनुसार कार्य करते और अपने राज्य के लोगों को सन्तुष्ट रखते हुए शत्रु के छिद्रों को देखा करते थे। वे ब्राह्मण और अन्य प्रजा को कष्ट न पहुँचाकर न्यायोचित रूप से राजा का खजाना भरते थे। वे ब्राह्मण अपने राज्य में सदा सजग रहते थे और अपने गुप्तचरों के द्वारा शत्रु के छिद्रों को देखा करते थे। उन्हें सभी ओर विप्रों के उपयोग और अपने राज्य के हित का ज्ञान था। वे सामरिक सेना को युद्ध करने में सम थे और सेना-विभाग के संचालन में कुशल थे (१।७)।

...के अनुसार,[1] दशरथ के लिए सभ्य वेष-भूषा, सजावट और शृंगार का अत्यधिक महत्व था। वे सदैव सुन्दर और स्वच्छ वस्त्र पहनते थे। आठों समय में ... वे ... का ध्यान रखते थे। रामायण में विभिन्न प्रकार के ... का उल्लेख है। इससे यह पता चलता है कि दशरथ के समय में ... उनके ... वस्त्र पहनते थे। मुकुट, कवच और विजय—

1. पी० सी० भण्डारी— रामायण पार्टीज़, पृ० ४१-२

इन तीन नामो का अर्थ क्रमश साहस, इद्र का विजयी पुत्र तथा युद्ध में सफलता है। इसलिए इन तीनो को सैन्य-विभाग का सचिव माना जा सकता है। सिद्धार्थ का शाब्दिक अर्थ सफल व्यक्ति है। अर्थ या धन-सग्रह करने मे सफलता-प्राप्त व्यक्ति भी उसका अर्थ हो सकता है। अर्थ-साधक से तात्पर्य अर्थ अथवा व्यवहार मे निपुण व्यक्ति है। इस प्रकार सिद्धार्थ और अर्थ-साधक वित्त-सचिव माने जा सकते है। छठे अमात्य का नाम अशोक अर्थात शोक-रहित था। कोई मत्री प्रजा को शोकग्रस्त तभी करेगा, जब वह कानून और न्याय के दुरुपयोग से उसे कष्ट पहुचाय। इसलिए अशोक नामक अमात्य के अधीन न्याय-विभाग रहा होगा। मत्रपाल का काम मत्रो अर्थात ऋक्-यजु -साम-जैसे पवित्र मत्र-शास्त्रो का सरक्षण रहा होगा, इसलिए उसे धर्म-विभाग का सचालक माना जा सकता है। राजा राष्ट्र का धार्मिक अध्यक्ष होता था, और उसे व्यावहारिक एव धार्मिक नियमो को सुचारु रूप से क्रियान्वित करना पडता था, इस-लिए बहुत सभव है कि धर्म का विभाग एक विशिष्ट अमात्य के जिम्मे कर दिया गया हो। आठवें अमात्य सुमत्र के अधीन विविध विभाग रखे गए होगे। सुमत्र दशरथ और राम दोनो के स्तुतिपाठक, सारथी और प्रिय निजी सचिव थे। रामायण के कथानक मे सुमत्र ने वसिष्ठ के ही समान महत्वपूर्ण योग दिया है।

अमात्यो के कर्तव्य विविध थे। समूचे राष्ट्र और नगर मे पूर्ण शाति बनाये रखने का उत्तरदायित्व उनका था। मिथ्यावादी, दुष्ट और परस्त्रीलपट मनुष्यो की उन्हे जानकारी रखनी पडती थी। लोगो मे कानून का भय बनाये रखना, उन्हे सत्य, नीति, धर्म और सदाचार के नियमो का उल्लघन करने से रोकना, अमात्यो का काम था। आज की तरह अमात्यो का काम अपने-अपने विभाग की नीति का सचालन करना था। दैनदिन कार्यों का वहन विभागीय अधिकारी करते थे, जो 'तीर्थ' कहलाते थे। रावण की सभा के वर्णन में उसके अमात्यो को **सर्वज्ञा बुद्धिदर्शनाः** तथा गुरुओ (परामर्शदाता मत्रियो) को **निश्चितार्थेषु पण्डिता** कहा गया है (६।११।२५)।

राम के समय मे व्यावहारिक धर्म और शास्त्रीय धर्म के विभाग दो अमात्यो के अधीन थे, जो क्रमश 'व्यवहारज्ञ' और 'धर्मपारग नीतिज्ञ' कहलाते थे। जब राजा धर्मासन पर विराजमान होकर न्याय-वितरण करता था, तब ये दोनो अमात्य उसके साथ रहते थे। शासन-व्यवस्था मे अमात्यगण राजा के निकट सपर्क में रहते थे। अपने-अपने विभागो का उत्तरदायित्व होने पर भी उन्हे राजा से बराबर

आदेश लेते रहना पडता था। शासकीय मामलो में राजा को कम-से-कम तीन-चार अमात्यो से विचार-विमर्श अवश्य करना पडता था। राम ने भरत को यह राय दी थी कि एक साथ कई लोगो से परामर्श करना ठीक नही।[1] अमात्यो से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे प्रस्तुत समस्या पर सभी दृष्टियो से विचार करके अपना निश्चय राजा को वतायें (६।६।७-८)।

अमात्यगण तथा गुरुजन (मत्रिगण) सभा के 'पदेन' सदस्य हुआ करते थे और उसकी कार्रवाई मे सक्रिय भाग लेते थे। राजा अथवा सभा के निर्देशो को कार्यान्वित करने का भार अमात्यो पर होता था। मुनिकुमार ऋष्य-शृग को अपने राज्य में वुलाने के विषय पर राजा रोमपाद ने पहले अपने मत्रिगण से चर्चा की और निर्धारित योजना को पूरा करने का काम अमात्यो को करना पडा। यात्राओ, जलूसो, अभियानो आदि में अमात्य राजा के साथ रहा करते थे।

जैसाकि मारीच ने रावण से कहा, सचिवो को यह अधिकार था कि वे राजा को दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त होने से रोकें।[2] जवर्दस्ती और अधिक कर वसूल करने तथा प्रजाजनो को अत्यधिक कठोर दड देने से राजा को रोकना मत्रियो का काम था।[3] जव सुग्रीव राम को दिये गए अपने वचन को भूल गए और सुरा-पान में लीन रहने लगे, तव उनके सचिव हनुमान ने उन्हें सावधान किया था। इसी प्रकार जव रावण सीता का वध करने को उतारू हो गया, तव उसके अमात्य सुपार्श्व ने उसे इस पाप से वचाना अपना कर्तव्य समझा था (६।९२।५८)।

मत्रियो के आचरण के विषय में रावण की वडी विचित्र धारणा थी। मारीच के हितकर किंतु अप्रिय उपदेश पर रावण ने उसे मार डालने की धमकी दी थी। शुक और सारण को भी, कटु सत्य कहने के कारण, रावण के कोप का भाजन वनना पडा था।

---

१ कच्चिन्मन्त्रयसे नैक कच्चिन्न वहुभि सह। मन्त्रिभिस्त्व ययोद्दिष्ट चतुर्भि-स्त्रिभिरेव च। कच्चितसमस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्र मन्त्रयसे वुध॥ २।१००।७१

२ तुलना कीजिए--वध्या खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण। ये त्वामुत्पथ-मारूढ न निगृह्णन्ति सर्वश॥ देखिए ३।४१।६-८

३ तुलना कीजिए—कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिता प्रजा। राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिण कैकयीसुत॥ २।१००।२७

अमात्यो को कार्य-सचालन करते समय सुदर वेश-भूषा धारण करनी पडती थी (**सुवाससः सुवेषाश्च**, १।७।१६) । अमात्यो की बैठक राजप्रासाद में हुआ करती थी। अमात्यो को राजधानी छोडने का अधिकार नही था, क्योकि उन्हे दैनिक शासन-प्रबध की देखरेख करनी पडती थी। राम के विवाहोत्सव में समिलित होने जब दशरथ मिथिला गए, तब वह प्रधान मत्री (पुरोहित) तथा गुरुजनो (मत्रियो) को अपने साथ लेते गए थे (१।६९।४-५), अमात्यगण स्पष्टत शासन सम्हालने के लिए अयोध्या मे ही रह गए थे। नदिग्राम से शासन-सचालन करते समय भरत के साथ केवल उनके पुरोहित एव मत्रिगण थे (**वृतो मत्रिपुरोहितैः**, २।११५।९) । अमात्य अथवा सचिव राजधानी में ही रहकर अपने विभागो का काम करते थे। वनवास से लौटने पर राम के स्वागत एव राज्याभिषेक का प्रबध इन्ही सचिवो न किया था (६।१२८।२३-४) ।

तीर्थों (शासनाधिकारियों) के अस्तित्व का सकेत चित्रकूट पर राम-भरत-सवाद मे हुआ है (२।१००।३६), पर इन विभिन्न अधिकारियो के नामो का कोई उल्लेख नही है। टीकाकारो के अनुसार ये अधिकारी सख्या में अठारह होते थे, जिनके नाम ये थे—मत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, दौवारिक (द्वारपाल), आतरवशिक (राजप्रासाद का प्रबधक), कारागाराधिकृत (जेल-अधिकारी), अर्थसचयकृत्, कार्य-नियोजक (मुख्य सचिव), प्राड्विवाक (न्यायाधीश), सेनानायक, नगराध्यक्ष, कर्मातिक (जायसवाल के अनुसार खानो और कारखानो का अधिकारी), सभ्य (सभा-सचिव), धर्माध्यक्ष (मुख्य न्यायाधीश), दडपालक (मजिस्ट्रेट या पुलिस कमिश्नर), दुर्गपाल (किले का प्रबधक) और राष्ट्रातरपाल (सीमात प्रदेश का राज्यपाल)।

न्याय-वितरण की पद्धति बडी सरल, सस्ती और तात्कालिक थी। उन दिनो न पेशेवर वकील थे और न अदालती खर्च का ही कोई झमेला था। न्याय-तत्र में कोई जटिलता नही थी, क्योकि मुकदमे का फैसला राजा स्वय करता था और वादी-प्रतिवादी उसके पास बेरोकटोक पहुच सकते थे। न्याय निष्पक्ष था तथा मुकदमे का निर्णय शीघ्र किया जाता था। मुकदमेबाजी भी कम होती थी, क्योकि प्रजा निष्पक्षता और शीघ्रता से फैसला करनेवाले कठोर शासक से भय खाती थी और कानन के उल्लघन से बचे रहने मे ही अपना कल्याण समझती थी।

प्राचीन भारत के राजा परपरा से स्थापित राजधर्म के अनुसार न्याय-शासन

करते थे। तत्कालीन न्याय का एक स्पष्ट सिद्धात यह था कि योग्य न्यायाधीशो द्वारा जाच-पडताल कराये विना अभियुक्त को दड नही मिलना चाहिए, क्योकि यह मान्यता प्रचलित थी कि निरपराध होने पर भी जिन लोगो को मिथ्या दोष लगाकर दड दिया जाता है, उनकी आखो से जो आसू निकलते हैं, वे पक्षपातपूर्ण शासन करनेवाले राजा के पुत्र और धन-धान्य का नाश कर डालते हैं।[1] साथ ही, राजा का यह भी कर्तव्य था कि भ्रष्ट न्यायाधीशो के कारण या अन्य किसी कारणवश अपराधी व्यक्ति दड पाने से कही वच न जाय। असहाय दरिद्र और साधन-सपन्न धनी के वीच मुकदमो का फैसला निष्पक्षता से कराने का दायित्व राजा पर ही था।

न्याय के उक्त सिद्धात निम्नलिखित प्रश्नो से स्पष्ट हो जाते हैं, जो राम ने भरत से चित्रकूट पर पूछे थे—

कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा ।
अदृष्ट· शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचि· ॥
गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्ट· सकारण ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥
व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव ।
अर्थं विरागा पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुता ॥ २।१००।५६-८

अर्थात कभी ऐसा तो नही होता कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ, निर्दोष और शुद्धात्मा पुरुष पर भी दोष लगा दे और, शास्त्र-ज्ञान में कुशल विद्वानो से उसके विषय में विचार कराये विना ही, लोभ आदि के कारण उसे दड दे दिया जाय ? जो चोरी में पकडा गया हो, जिसे किसीने चोरी करते समय देखा हो, पूछताछ से भी जिसके चोर होने का प्रमाण मिल गया हो तथा जिसके विरुद्ध चोरी का माल वरामद होने-जैसे वहुत-से सवूत हो, ऐसे चोरो को भी तुम्हारे राज्य में धन के लालच से छोड तो नही दिया जाता ? यदि धनी और गरीव में कोई विवाद छिडा हो और वह राज्य के न्यायालय में निर्णय के लिए आया हो तो तुम्हारे अमात्य धन आदि के लोभ से तो उस मामले पर विचार नही करते ?

न्यायाधीशो के लिए उत्तरकाड में 'धर्मपालक' शव्द आया है। कानून और

---

१ यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव । तानि पुत्रपशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थ-मनुशासत ॥ २।१००।५९

राजनीति के विशिष्ट ज्ञान के कारण ही वे इस पद पर नियुक्त किये जाते थे। पक्षपात और रिश्वत से बचे रहने की उनसे अपेक्षा की जाती थी। भरत ने माता कौसल्या से कहा था कि राम को वन भेजनेवाले को वही पाप लगे जो पक्षपात करनेवाले न्यायाधीश (मध्यस्थ) को लगता है।[1]

राम-राज्य के सर्वोच्च न्यायालय की गति-विधि का परिचय उत्तरकाड से प्राप्त होता है।[2] न्यायालय की बैठक सभा-भवन में प्रतिदिन प्रात काल हुआ करती थी जबकि राजा और न्यायाधीश अपने नित्य-कर्म से निवृत्त हो चुकते थे। प्रजा के सभी वर्गों को—चाहे वे नर हो या नारी—राजा के समुख उपस्थित होकर अपनी शिकायतें रखने का अधिकार था। जिस आसन पर बैठकर राजा मुकदमो का फैसला करता था, वह 'धर्मासन' कहलाता था।

सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष स्वय राजा हुआ करता था। उसके अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश भी होते थे, यथा, पुरोहित वसिष्ठ, 'धर्मपारग' और 'व्यवहारज्ञ' ब्राह्मण मत्रिगण, परपरा और लोकाचार के ज्ञाता अनुभवी ऋषिवृद, क्षत्रिय अमात्य, सभा के अर्थशास्त्र-पारगत सदस्य, प्रमुख व्यापारी (नैगम) तथा राजा के भाई। इनमें ऋषि-मुनि राजा को धर्म और सदाचार-सबधी वादो मे परामर्श देते थे। मत्रि-गण अपने शासन-अनुभव के आधार पर यह बतलाते थे कि अमुक फैसला कार्य-रूप में परिणत किया जा सकता है अथवा नही और उसकी राजनीतिक प्रतिक्रिया क्या होगी। क्षत्रिय अमात्य कूटनीति मे अभ्यस्त थे तथा सामरिक मामलो और विदेश-नीति से सबधित प्रश्नो पर अपनी राय देते थे। साथ ही, वे क्षत्रिय-जाति के अधिकारो की रक्षा का भी ध्यान रखते थे। प्रमुख व्यापारी वाणिज्य-व्यवसाय के मामलो में राजा को परामर्श देते थे तथा वैश्यवर्ग के हितो को सुरक्षित रखते थे। राजा के भाई सभवत राजकीय विशेषाधिकारो की रक्षा के लिए नियत रहते थे।

राजा का यह कर्तव्य था कि वह ऐसा प्रबध करे कि जिससे प्रत्येक कार्यार्थी (शिकायत लेकर आनेवाला व्यक्ति) न्यायालय में तुरत प्रवेश पा सके। राजा नृग ने अपने द्वार पर दो ब्राह्मण कार्यार्थियो को बहुत देर तक ठहराये रखा था। इस

---

१. भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः। तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २।७५।५८, टीका देखिए।

२. देखिए सर्ग ५९ के बाद के प्रक्षिप्त सर्ग।

अपराध के लिए नृग को शाप का भागी वनना पडा (७।५३।१६-८)। महाराज राम के पूर्वज राजा निमि ने भी ऐसा ही अपराध किया था। जब वसिष्ठ अपनी शिकायत सुनाने उनके यहा आये, तब निमि सो रहे थे, तुरत सुनवाई न होने के कारण वसिष्ठ ने उनको शाप दे दिया (७।५५।१५-७)। इसके विपरीत राम-राज्य के न्यायालय इस वात के लिए प्रसिद्ध थे कि वहा निष्पक्ष और तात्कालिक न्याय प्राप्त होता था, राजा या न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित होने की तुरत अनुमति मिलती थी और स्टाप, फीस या वकीलो का कोई वखेडा नही था। राजा का त्वरित एव कठोर न्याय-शासन लोगो को एक-दूसरे के अधिकारो का समान करने को प्रेरित करता था (**राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यर्हिसन् परस्परम्** ६।१२८।१००), इसलिए लोग मुकदमेवाजी का कम ही आश्रय लेते थे और परिणामत राम-राज्य की अदालतो में अधिक काम नही था—**दृश्यते न च कार्यार्थी रामे राज्य प्रशासति** (७।५९(१)।१०)।

वाल्मीकि ने इन कृत्यो को अपराधो की श्रेणी में गिना है—राजद्रोह, झूठी गवाही, कुमारिकाओ पर वलात्कार, पराई स्त्रियो का अपहरण, न्यास (ट्रस्ट)-सपत्ति का दुरुपयोग, चोरी, डकैती, ब्रह्महत्या, सैनिको को निर्धारित वेतन न देना, युद्ध में पीठ दिखाना, वालको, स्त्रियो, वृद्धो और राजाओ की हत्या, आग लगाना, जलाशय में विप मिला देना और गुरु-स्त्री-गमन।

इन अपराधो का दड यातना-मात्र देने से लेकर प्राण-दड तक होता था। फासी के लिए सवेरे का समय नियत रहता था। लका में विलाप करते हुए सीता ने कहा था कि दो मास की अवधि पूरी होने पर राक्षसाधम रावण मुझे वैसे ही मृत्यु के घाट उतार देगा जैसे रात्रि के अत में चोर का वध कर दिया जाता है—

बद्धस्य वध्यस्य यथा निशान्ते
राजोपरोधादिव तस्करस्य ।५।२८।७

राजमार्गों पर व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस-कर्मचारियो की नियुक्ति का भी सकेत मिलता है। पुलिस के सिपाही 'दडायुधधरा' (लाठी से लैस) रहते थे। लका के रास्ते में हनुमान ने विभिन्न शस्त्रास्त्र धारण किये हुए अनेक सैनिको को देखा था। क्योकि कवि ने कुछ सैनिको को खूख्वार शस्त्रो से सज्जित बताया है और दूसरो को दडो अर्थात लाठियो से लैस बताया है (५।४।१६), अत यह ध्वनित होता है कि ये लाठीधारी (दडायुधधर) सैनिक लका के मार्गों पर पुलिस का काम

करन के लिए राज्य की ओर से नियुक्त थे। रावण-वध के बाद जब विभीषण जानकी को पालकी में बैठाकर राम के पास लाये, तब अगा और पगडी पहने इन्ही पुलिस-वालो ने अपने हाथो के डडो से वानरो और राक्षसो की भीड को हटाया था।[1] उधर राम के अयोध्या लौटने की घडी में भरत ने यह आदेश जारी किया था कि राजमार्ग पर भीड-भाड न होने देने के लिए सैकडो व्यक्ति तैनात किये जाय—**राजमार्गमसम्बाधं किरन्तु शतशो नरा** (६।१२७।१०)। स्पष्टत ये व्यक्ति सडको पर व्यवस्था बनाये रखने के लिए नियुक्त पुलिस-कर्मचारी थे।

'बधन' (४।५५।१०) और 'बद्ध' (५।२८।७)-जैसे शब्दो का प्रयोग कारागृहो की ओर सकेत करता है। अगद ने भयभीत होकर कहा था कि मेरे चाचा सुग्रीव क्रूर और निर्दयी है, यदि मै अवधि बीतने के बाद सीता को ढूढे बिना किष्किधा लौटा तो वह या तो मुझे तीव्र यातना देगे अथवा कैद में डाल देंगे—**उपाशु-दण्डेन हि मां बन्धनेनोपपादयेत्** (४।५५।१०)।

जब अगद-जैसा युवराज भी यातनाओ के आतक से भयभीत था, तब कोई आश्चर्य नही यदि सामान्य कैदियो पर उनका व्यापक प्रयोग किया जाता हो। अशोक-वाटिका मे विलाप करते हुए सीता ने यातना देने की पद्धतियो का उल्लेख किया था और निश्चय किया था कि मुझे ऐसी कितनी ही यातनाए क्यो न दी जाय, मै रावण के वशीभूत न हूगी—

छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता।
रावणे नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम् ॥५।२६।१०

यहा सीता ने शरीर को शूल से छेद डालना या तलवार से दो भागो मे काट डालना, कुल्हाडी से उसके टुकडे-टुकडे कर डालना, कैदी को आग पर सेकना या जला डालना आदि यातनाओ की ओर सकेत किया है। गला घोटकर कैदियो को मार डालने का भी तरीका प्रचलित था। सीता की राक्षसी पहरेदारनियो ने सीता का गला घोटकर उनका काम तमाम कर डालने का विचार कर लिया था—**कण्ठस्थया नृशंसाया पीडयाम किमास्यते** (५।२४।४१)।

गुप्तचरो को 'चर', 'चार', 'प्रणिधि', 'चारक' अथवा 'चारण' कहा जाता

---

१. **कचुकोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः। उत्सारयन्तस्तान् योधान् समन्ता-त्परिचक्रमुः॥ ६।११४।२१**

था। भारत के प्राचीन राजनीतिकारो ने चारो को राजतन्त्र के लिए अनिवार्य बताया है। अयोध्या में एक नियमित गुप्तचर-विभाग था, जो आधुनिक समय के सी० आई० डी० विभाग का समकक्ष माना जा सकता है। दशरथ के मन्त्रिगण चारो द्वारा शत्रुओ की गति-विधि से अपने को अवगत रखते थे।[1] राम ने भरत से चित्रकूट पर पूछा था कि तुम चारणो द्वारा अपने मन्त्रियो और अधिकारियो की गति-विधि से सुपरिचित रहते हो?—वेत्सि तीर्थानि चारणैं (२।१००।३६)।

गुप्तचर दो प्रकार के होते थे—नागरिक-गुप्तचर और सैनिक-गुप्तचर। उत्तरकाड में जिन जासूसो से राम को सीता-विषयक लोकापवाद की सूचना मिली थी, वे नागरिक-गुप्तचर थे। सुग्रीव ने भी हनुमान को ऐसा ही गुप्तचर बनाकर राम-लक्ष्मण का मनोभाव जानने के लिए भेजा था। सैनिक-गुप्तचरो का दायित्व अधिक कठिन था। उन्हें सदा राजभक्त, वीर और निर्भय बने रहना पडता था।[2] शत्रु-सेना का बलाबल जानने के लिए राजा और सेनापति उन्ही पर निर्भर रहते थे। लका के सुरक्षा-साधनो का पता लगाने के लिए राम ने विभीषण के अमात्यो से जासूसी करवाई थी।

नगरो का स्वायत्त-शासन नागरिको की स्थानीय समितियो के सुपुर्द रहता था, जैसे गण और उनके सभापति गणवल्लभा, नैगम-जैसे व्यापार-सघ और उनके सभापति नैगमवल्लभ, तथा पौर और श्रेणीमुख्य-जैसी स्वायत्त-समितिया। राज-धानी की व्यवस्था 'पौर' समिति के अधीन थी। नगर-व्यवस्था को 'पौरकार्य' कहते थे। राजा या युवराज नगर-प्रबध-समिति का अध्यक्ष होता था। क्षत्रिय सैनिक-अधिकारी, वैश्य व्यापारी, विभिन्न उद्योग-धधो में लगे कारीगर, राजा की उदारता पर निर्वाह करनेवाले कतिपय ब्राह्मण, सेवा-कार्य में सलग्न शूद्र तथा दास लोग अयोध्या की जनसख्या के मुख्य अग थे। नगर-प्रबध-समिति के कार्य ये थे—नगर-सनिवेश, राजमार्ग की देखरेख, मरमत और छिडकाव, नगर में जल की व्यवस्था (अयोध्या में शुद्ध, मधुर और स्वच्छ जल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था, जल-प्राप्ति के स्रोत सरित, नदी, नद, प्रस्रवण, निर्झर, वापी, कूप, तटाक, पल्वल, सरस्,

---

१. तेषामविदित किंचित्स्वेषु नास्ति परेषु वा। क्रियमाण कृत वापि चारेणापि चिकीर्षितम्॥ १।७।६

२. चरान्प्रत्यायिकान् शूरान् धीरान् विगतसाध्वसान्। ६।२६।१८

उद्‌भेद और नलिनी थे), नगर मे प्रकाश के लिए दीपो और दीप-वृक्षो की व्यवस्था, यातायात का नियत्रण, उत्सवो के अवसर पर नगर की सजावट, उद्यान और उनकी व्यवस्था आदि। ग्रामो और घोषो की स्वायत्त-समितियो के अध्यक्ष 'ग्राम-महत्तर' और 'घोष-महत्तर' कहलाते थे। गाव के मुखिया के अर्थ में 'ग्रामणी' शब्द रामायण में नही आया है।

: १४ :

युद्ध

प्राचीन अथवा प्रागैतिहासिक भारत में आर्यों और अनार्यों के निरतर सपर्क से अतरराष्ट्रीय सवधो के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश था। उत्तरी भारत का आर्य-साम्राज्य तथा लका का राक्षस-साम्राज्य दोनो अपने-अपने प्रभाव का विस्तार करने में लगे थे और इस प्रसग में आर्यों और राक्षसो के वीच अनेक भयकर युद्ध लडे गए। जहा आर्यावर्त में राक्षसो ने लवणासुर, ताटका तथा खर-दूषण को तैनात कर अपने प्रभाव-क्षेत्र की वृद्धि की, वहा आर्यों ने भी वानर-जाति से मित्रता कर दक्षिण में अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। इस प्रकार तत्कालीन राजनीति में सधि-विग्रह के अनेक अवसर उपस्थित थे, जिनके अध्ययन से सैन्य-सचालन, युद्ध-प्रणाली, कूटनीतिक सवध, सैनिक शिष्टाचार आदि की अनेक सूचनाए प्राप्त की जा सकती है।

सैन्य-विभाग का निर्देशन स्वय राजा अपने अमात्यो की सहायता से करता था। दशरथ के अमात्य **दृढविक्रमा, युक्ता वलस्य च परिग्रहे** और **वीरा** थे (१।७।६-११)। युद्ध या सधि की घोषणा करने का अतिम अधिकार राजा को ही था।

लका में सैन्य-विभाग एक मत्रि-विशेष के अधीन रहा होगा। रावण की युद्ध-परिषद में विभीषण ने ऐसे मत्री की विशेषताए वताते हुए कहा था कि उसे स्वपक्ष और शत्रु-पक्ष के वलावल का पता होना चाहिए, अपने राज्य तथा शत्रु-राज्य की स्थिति, वृद्धि और क्षय की जानकारी होनी चाहिए तथा उसे विचारपूर्वक अपने राजा को हितकर परामर्श देना चाहिए।[1]

तत्कालीन नगर दुर्गों के रूप में बनाये जाते थे। ये दुर्ग सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रो, आक्रमण-प्रत्याक्रमण के साधनो तथा कूटागारो (तहखानो, तिलस्मो) से युक्त

---

१ **परस्य वीर्यं स्वबल च बुद्ध्या स्थानं क्षय चैव तथैव वृद्धिम्। तथा स्वपक्षेऽप्यनुमृश्य बुद्ध्या वदेत्क्षम स्वामिहितं स मन्त्री ॥६।१४।२२**

थे। दुर्ग चार प्रकार के होते थे—नादेय (समुद्र या नदी से घिरा हुआ, जैसे लका), पार्वत (पहाडियो से घिरा हुआ, जैसे किष्किधा), वन्य (घने जगलो में घिरा हुआ, जैसे लका) और कृत्रिम (चहारदीवारी तथा खाई से घिरा हुआ, जैसे अयोध्या, लका और साकाश्या)।

सेना के चार भाग होते थे—पैदल (पदाति), घुडसवार (सादी), रथी और गजारोह। इसीलिए वह 'चतुरगबल' कहलाती थी। सैनिको की श्रेणिया भी चार प्रकार की थी (६।१७।२४)—मित्र-बल (मित्र राजाओ के सैनिक), आटवि-बल (जगली जातियो के सैनिक), भृत्य-बल (वैतनिक सैनिक, जिन्हें आजकल 'स्टैडिंग आर्मी' कहा जाता है) और द्विषद्बल (शत्रु को छोडकर आये हुए सैनिक)। पैदल सेना दो भागो मे बटी थी—तलवार-भाले से लडनेवाले सैनिक तथा धनुष-बाण से लडनेवाले सैनिक। सैनिको के हाथी-घोडो की देखभाल करने के लिए 'अश्वबध' और 'कुजरग्रह' नियत रहते थे (२।६१।५७)। लका-युद्ध में त्रिशिरा राक्षस साड पर बैठकर रण-भूमि की ओर गया था।[1] आवागमन का मार्ग, तबू, पुल आदि बनानेवाले खनको और परिसारको का दल सेना के आगे जाया करता था। खाद्य-सामग्री तथा अन्य आवश्यक सामान एक और दल के सुपुर्द रहते थे। सेना के पीछे व्यापारी, सैनिको की स्त्रिया तथा दास-वर्ग रहते थे।

सेनाध्यक्ष को सेनानी, सेनापति या सेनानायक कहते थे। उसे राजा से आदेश लेने पडते थे और उसके अधीन कई बलाध्यक्ष और यूथपति होते थे। राजा और सेनापति युद्ध-परिषद की राय से कार्य करते थे। भारतीय महासागर के तट पर राम और सुग्रीव ने परामर्श करने के लिए अपनी युद्ध-परिषद की बैठक बुलाई थी। प्रमुख सैन्य-अधिकारियो का निर्वाचन उनकी योग्यता, राज्य-भक्ति, साहस एव चातुर्य के आधार पर किया जाता था।[2] सेना का सबसे विश्वसनीय अग वह था, जिसमें 'कुल-पुत्र' (प्रतिष्ठित कुलोत्पन्न व्यक्ति) होते थे (६।३।२७)। दशरथ, सुग्रीव और रावण की सेना में महत्वपूर्ण सैन्य-पदो पर ऐसे ही विश्वस्त व्यक्ति

---

१. वृषेन्द्रमास्थाय शशिप्रकाशमायाति योऽसौ त्रिशिरा यशस्वी।६।५९।१९

२. कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान्मतिमाञ्छुचिः। कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः॥ बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः। दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः॥२।१००।३०-१

नियुक्त थे, जिन्हें कुल-परपरा से अच्छे सस्कार प्राप्त हुए थे तथा जो द्रव्य के लिए नही, वरन राष्ट्र, धर्म और सस्कृति की रक्षा के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर देने को कटिवद्ध रहते थे।

अयोध्या में सैनिको का अपना अलग वर्ग था। वे 'भट' (१।५४।८) या 'योध' (२।८२।२५) कहलाते थे। यह सज्ञा उन सभी क्षत्रियो के लिए प्रयुक्त होती थी, जिनका पेशा केवल लडना होता था। लका और किष्किधा में सैनिको का कोई अलग वर्ग नही था, वहा तो प्रत्येक पुरुष सैनिक था।

राम-राज्य के आदर्श सैनिक से वेदो और शस्त्रास्त्रो का ज्ञान अपेक्षित था। हाथी, रथ और घोडे पर से युद्ध करने की उसे शिक्षा दी जाती थी। साम, दाम, भेद और दड से उसे अभ्यस्त रहना पडता था (६।७१।२८-९)। अयोध्या, किष्किधा और लका के सैनिक प्राय विवाहित थे। विवाहित सैनिको से सेना की स्थिरता बनी रहती थी, क्योकि गृहस्थ सैनिक देश और राजा के लिए ही नही, अपने परिवार के लिए भी शत्रु का सामना करने के लिए उद्यत रहेंगे। सैनिको को पुरस्कार और प्रीति-पूर्ण व्यवहार से सतुष्ट रखा जाता था।[1] राम ने भरत से पूछा था कि 'सैनिको को देने के लिए नियत किया हुआ समुचित वेतन और भत्ता तुम समय पर दे देते हो? देने में विलब तो नही करते? यदि समय बिताकर भत्ता और वेतन दिये जाते हैं तो सैनिक अपने स्वामी पर बहुत असतुष्ट रहते है और इसके कारण बहुत अनर्थ हो जाता है।'[2] युद्ध की समाप्ति पर सैनिको को उपहार तथा युद्ध की लूट का हिस्सा दिया जाता था। लका-विजय के बाद राम ने विभीषण से कहा था कि इन वानरो ने प्राणो का मोह त्याग कर मुझे विजय दिलाई है, इसलिए मेरी ओर से कृतज्ञता-रूप में इन्हें रत्न तथा विविध प्रकार का धन प्रदान कर इनका समान करो, जो राजा सेना को दान-मान से प्रसन्न नही रखता, उसे वह छोड देती है (६।१२२।४-९)।

---

१. बल च सुभृत वीर हृष्टतुष्टमनुद्धतम्। सभाषासप्रदानेन रजयस्व नरोत्तम॥ ७।६४।५

२. कच्चिद्वलस्य भक्तं च वेतन च ययोचितम्। सप्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विलम्बसे॥ कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृता.। भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान्कृतः॥२।१००।३२-३

उस युग के सैनिको को सुदर और भडकीले वस्त्राभूषण पहनन तथा अपने वाहनो को अलकृत करने का बडा शौक था। सुरा-पान भी उनमें प्रचलित था। वे अपने साथ पालतू पशु-पक्षी ले जाया करते थे। लका के सैनिको के घर बडे वैभवशाली, गवाक्षो से युक्त, मुक्ता-प्रवाल से सुशोभित, चदन-अगुरु से सुवासित, सोने-चादी के पात्रो, बहुमूल्य शयनासनो और मणि-रत्नो से सज्जित तथा कबल, चवर, कस्तूरी, व्याघ्र-चर्म, नाना प्रकार से वस्त्रो, अस्त्र-शस्त्रो तथा कवचो से सपन्न थे (६।७५।७-२७)। अयोध्या के सैनिक विलासी जीवन के अभ्यस्त थे। उनके स्नान-प्रसाधन के लिए दासिया नियुक्त रहती थी। अगराग, चदन, दत-धावन, अजन, दर्पण, कघा आदि सामग्री का वे प्रतिदिन उपयोग करते थे। इसीलिए महर्षि भरद्वाज ने भरत के साथ उनका आतिथ्य करते समय उन्हें ये सब वस्तुए भेंट की थी (२।९१।५२-८१)।

अपने साथियो से भेंट होने पर सैनिक अपने वस्त्रो को हिलाकर उनका स्वागत करते थे। जब हनुमान आकाश-मार्ग द्वारा लका से लौट रहे थे, तब सारे वानर वृक्षो पर चढकर उनके स्वागत मे उत्साह से अपने वस्त्रो को रह-रहकर हिलाने लगे थे।[1]

सैनिको मे 'सौभ्रातृमिलन' की प्रथा प्रचलित थी, जिसके अनुसार युद्ध समाप्त होने पर दोनो पक्ष के सैनिक पूर्व-वर भुलाकर नई मित्रता स्थापित करते थे। एकता, सौहार्द और आत्मीयता की स्वस्थ भावनाओ के सचार के लिए यह प्रथा बडी उपादेय थी। राम-रावण-युद्ध के बाद दोनो पक्षो के सैनिको ने एक-साथ मिलकर जयघोष किया और सारा वैर भुलाकर परस्पर आलिगन किया था। वालि-वध के बाद भी राम और वाली के अनुयायियो में प्रेम और मित्रता का ऐसा ही सबध स्थापित हुआ था।

सैनिक अनुशासन बडा कठोर था। अपने बिखरे हुए सैनिको को शीघ्र इकट्ठा होन का आदेश भेजते समय सुग्रीव ने यह स्पष्ट कह दिया था कि जो सैनिक मेरी आज्ञा पाने के दस दिन के अदर उपस्थित नही होगा, उसका वध कर दिया जायगा।[2]

---

१. ते प्रीताः पादपाग्रेषु गृह्य शाखामवस्थिताः। वासासि च प्रकाशानि समाविध्यन्त वानराः ॥५।५७।२६

२. अहोभिर्दशभिर्ये च नागच्छन्ति ममाज्ञया। हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासन-दूषकाः ॥४।३७।१२

लका की चढाई में भी सुग्रीव ने यह चेतावनी दे दी थी कि जो सैनिक पीठ दिखायगा अथवा आदेश के अनुसार नही लडेगा, उसे मार डाला जायगा।[1]

राम स्वय कठोर अनुशासक थे। लकाभियान करते समय उन्होने वानरो को मार्ग में पडनेवाले नगरो और ग्रामो को बचाकर चलने का आदेश दिया था, क्योकि उन्हे भय था कि सैनिकगण नागरिको को त्रस्त करेगे और उनकी सपत्ति को हानि पहुचा देंगे। राम को 'भीमकोप' कहा गया है[2] सभी वानर उनसे भय-भीत थे।

रामायणकालीन सैनिक-शिष्टाचार एव नैतिकता भी उल्लेख-योग्य है। राजाओ और योद्धागणो से सामरिक परपराओ का पालन अपेक्षित था। युद्ध से पराङ्मुख होकर भाग जाना अपनी कीर्ति में बट्टा लगाना था[3] और स्वामी के हितार्थ युद्ध-भूमि में प्राण-त्याग करना पुण्योत्पादक था।[4] स्त्रियो, युद्ध में सक्रिय भाग न लेनेवालो (भय के मारे छिप जानेवालो), सधि की याचना करनेवालो तथा शरणागतो को मारना पाप था, किंतु युद्ध का आमत्रण स्वीकार करना प्रत्येक स्वाभिमानी के लिए अनिवार्य था। किसी व्यक्ति पर अकारण ही वार करना, किसी और से लडते हुए सैनिक पर हमला करना, किसी एक व्यक्ति के अपराध के कारण असख्य लोगो को मौत के घाट उतार देना तथा शरणागत को शरण न देना निंदनीय था। नील के साथ लडते हुए रावण पर वार करना हनुमान ने अनुचित समझा था (अन्येन युद्धमानस्य न युक्तमभिधावनम् ६।५९।७२)। सोते हुए, शस्त्रास्त्रो से हीन, थके हुए, नशे में चूर या स्त्रियो से घिरे

---

१. यश्च वो वितथ कुर्यात्तत्र तत्राप्युपस्थित'। स हन्तव्योऽभिसप्लुत्य राजशासन-दूषक. ॥६।७५।४३

२. रामस्य शासन ज्ञात्वा भीमकोपस्य भीतवत्। वर्जयन्नगराम्याशास्तथा जन-पदानपि ॥६।४।३८-९

३. त्यक्तयुद्धसमुत्साहा. शूरत्व क्व नु वो गतम्। पृष्ठतो न व्रजध्वं मामग्रतो यान्तमाहवे। शूरैरभिजनोपेतैरयुक्त हि निर्वातितुम् ॥६।८२।३-४

४. कृती शूरो रणे जेता स्वाम्यर्थे त्यक्तजीवित.। इन्द्रस्यातिथिरेवैषः ...॥ ७।२३(३)।१२-५

हुए शत्रु पर वार करना अनुचित था।[1] जब रावण थक गया, तब राम ने उसे घर लौट जाने के लिए और विश्राम के पश्चात नये रथ मे नया धनुष लेकर आने के लिए कहा था (६।५९।१४०-१)। फिर भी शत्रु की कमजोरियो से लाभ उठाना अज्ञात नही था। लक्ष्मण ने यज्ञ-कर्म में व्यस्त इद्रजित पर वार किया था और राम ने छिपकर वाली पर बाण चलाया था। उत्तरकाड मे शत्रुघ्न ने लवणासुर पर अकस्मात आक्रमण किया था, जब उसके पास उसका विख्यात शूल नही था। हनुमान ने लका मे शत्रु-दृष्टि से बचने के लिए छद्म वेश धारण किया था।

समुचित कारण बिना लडाई ठान लेना राजाओ के लिए अनुचित था। शत्रु को यह पूर्व-सूचना देनी चाहिए कि निर्धारित मागे पूरी न होने पर युद्ध घोषित कर दिया जायगा। वाली ने राम से कहा था कि अकारण ही किसी पर आक्रमण कर देना अशोभनीय है तथा उदासीन (तटस्थ) के प्रति युद्ध छेडना अनुचित है।[2] रावण ने मारीच से शिकायत की थी कि राम ने जनस्थान-स्थित मेरी सेना का, सूचना दिये बिना ही, नाश कर डाला[3] और, उत्तेजित न किये जाने पर भी, मेरी भगिनी को विरूप कर दिया।[4]

रामायण मे वर्णित युद्धो की समीक्षा से ज्ञात होता है कि युद्ध के प्राय ये आठ कारण होते थे—(१) अपहृत नारियो को मुक्त करने तथा अत्याचारी का नाश करने के लिए, उदाहरणार्थ राम-रावण युद्ध, (२) प्रतिशोध के लिए; परशुराम ने समस्त क्षत्रिय-जाति का नाश करने की इसलिए ठानी थी कि उनके पिता की एक क्षत्रिय राजा ने हत्या कर दी थी, (३) मित्रो की सहायता के लिए, राम-रावण युद्ध में सुग्रीव आदि वानरो ने राम के मित्र-रूप मे भाग लिया था,

---

१. युद्धस्य कालो विज्ञातः साधु भो साधु रावण। यः क्षीवं स्त्रीगतं चैव योद्धुमुत्सहसे नृपम् ॥७।३२।२८-९

२. पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः। उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमोऽयं प्रकाशितः ॥४।१७।१६, ४६

३. तेन संजातरोषेण रामेण रणमूर्धनि। अनुक्त्वा परुषं किंचिच्छरैर्व्यापारितं धनुः ॥३।३६।७-८

४. येन वैरं विनाऽरण्ये सत्त्वमास्थाय केवलम्। कर्णनासापहारेण भगिनी मे विरूपिता ॥३।३६।१३

दशरथ ने इद्र की सहायता के लिए शवरासुर से मोर्चा लिया था, (४) नारी के लिए, वाली और मायावी के वीच एक स्त्री की प्राप्ति के लिए (स्त्रीकृत) युद्ध हुआ था तथा सीता को पाने में असफल राजाओ ने जनक पर हमला वोल दिया था, (५) भूमि, सोने और चादी के लिए, जैसाकि वाली ने मरते समय राम को वताया था (**भूमिहिरण्य रूपं च निग्रहे कारणानि च**, ४।१७।३१)। उत्तरकाड में युद्ध के तीन और कारण निर्दिष्ट है—(६) सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के लिए, रावण ने दिग्विजय की इच्छा से तत्कालीन राजाओ को चुनौती दी थी, (७) राज्य-विस्तार के लिए, राम ने गाधार, कारुपथ और चद्रकात के राजाओ को परास्त कर उनके प्रदेश अपने राज्य मे मिला लिये थे, (८) कुशासक पडोसी राजाओ को दड देने के लिए, राम के आदेशानुसार शत्रुघ्न ने लवणासुर के राज्य पर आक्रमण कर उसे कोसल-साम्राज्य में मिला लिया था।

प्राचीन भारत में युद्ध का आश्रय अतिम उपाय के रूप में ही लिया जाता था। उससे पहले साम, दाम और भेद की युक्तियो से इष्ट-सिद्धि की चेष्टा की जाती थी। इनमें असफल होने पर ही दड-प्रयोग किया जाता था।[1] युद्ध में प्राप्त होनेवाली विजय अस्थिर होती है—**युद्धसिद्धिर्हि चचला** (५।४६।१७)—यह रावण भी भली भाति जानता था। युद्ध टालने के लिए राजागण दूतो का उपयोग करते थे। अन्तरराष्ट्रीय सवधो की स्थापना में, सधि और विग्रह के निर्णय में, ये दूत महत्व-पूर्ण योग देते थे।

राजा ऐसे ही दूत चुनता था, जो व्यवहार-कुशल, राजभक्त और चतुर होते थे। उन्हें राजा के आदेशो का अक्षरश पालन करना पडता था। जो दूत अपने स्वामी की आज्ञा की अवहेलना कर स्वय अपना मत प्रकट करता है, उसके लिए वध का विधान किया गया है।[2] जहा गुप्तचर पकडे जाने पर वध का पात्र होता था, वहा दूत अवध्य गिना जाता था, क्योकि वह अपने स्वामी का सदेशवाहक-मात्र होता है, पराधीन होता है—**ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति** (५।५२।१९)।

---

१. **अप्युपायैस्त्रिभिस्तात योऽर्थः प्राप्तु न शक्यते। तस्य विक्रमकालास्ता-न्युक्तानाहुर्मनीषिण** ॥६।९।८

२. **यस्तु हित्वा मत भर्तु स्वमत सप्रधारयेत्। अनुक्तवादी दूत सन्स दूतो वध-मर्हति** ॥६।२०।१८

फिर भी सिर मूडकर, अग-भग कर, कोडे लगाकर अथवा दाग कर उसे दडित किया जा सकता था।[1] राम की ओर से अगद ने लका में दौत्य-कर्म किया था।

दूत की स्थिति अवध्य होने के कारण कई बार गुप्तचर भी पकडे जाने पर अपने को दूत घोषित कर देते थे। हनुमान ने, गुप्तचर होने पर भी, रावण के समक्ष अपने को निर्भीकता से राम-दूत बतलाया था—**दूतोऽयमिति विज्ञाय राघवस्यामितौजस** (५।५०।१९)। रावण के गुप्तचरो—शुक और सारण—ने भी अपने को रावण का दूत बतलाकर वानरो के बधन से मुक्ति पाई थी, और लौटती बार वे रावण के लिए राम का सदेश ले गए थे (६।२०।१६-२०)।

वर्षा-काल में सामरिक तैयारिया स्थगित कर दी जाती थी (**स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानाम्**, ४।२८।१५)। ग्रीष्म-काल में सेना को नदी पार कराया जाता था।[2] वर्षांत में, शरत्काल के प्रारभ में, सामरिक अभियान किये जाते थे।[3] राम ने प्रस्रवण पर्वत पर वर्षा के चार मास शरत्काल की प्रतीक्षा में बिताये थे। वर्षा-काल समाप्त होते ही, 'श्वेत आकाश, निर्मल चद्र-मडल तथा चादनी से लिपी शरत्काल की रात्रि को देखकर',[4] उन्होने सुग्रीव को सीतान्वेषण कराने को प्रेरित किया था। शत्रुघ्न ने मधुपुरी पर आकस्मिक आक्रमण करने के लिए वर्षा-ऋतु में भी अभियान किया था।[5]

शाति-काल में सेना के एकत्र किये जाने का वर्णन कवि ने भरत की चित्रकूट-यात्रा के सिलसिले में किया है। चित्रकूट जाने का निश्चय करने के बाद भरत ने

---

१. **वैरूप्यमगेषु कशाभिघातो मौण्ड्यं तथा लक्षणसंनिपातः। एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान् वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति** ॥५।४२।१५

२. **यया ग्रीष्मावशेषेण तरेयुर्जाह्नवीजलम्** ।७।६४।११

३. **कार्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत। ४।२६।१७; अन्योन्यवैरेण समायुतानामुद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम्** ॥४।३०।३७; ४।३०।६०-१ भी देखिए।

४. **पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम्। शारदीं रजनीं चैव, दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम्** ॥४।३०।२

५. **स ग्रीष्म अपयाते तु वर्षारात्र उपागते। हन्यास्त्वं लवणं सौम्य स हि कालोऽस्य दुर्मतेः** ॥७।६४।१०

अमात्य सुमत्र को आज्ञा दी कि सेना को शीघ्र एकत्र कर यात्रा प्रारभ की जाय। तदनुसार सुमत्र ने सैन्य-अधिकारियो द्वारा यथोचित व्यवस्था करवा दी। सेना के इकट्ठा होते ही उसे सुसज्जित-सुसगठित किया गया। यात्रा का उद्देश्य सैन्य-अधिकारियो तथा प्रमुख नागरिको को बता दिया गया था (२।८२।२२-३२)।

युद्ध-काल में सेना के एकत्रीकरण का वर्णन राक्षसो और वानरो की सामरिक तैयारियो के प्रसग में मिलता है। राम की चढाई के समय रावण के सैनिक लका नगरी में ही रह रहे थे। लका मे रावण ने असख्य राक्षस सैनिको का सग्रह कर रखा था। रावण ने अपने बलाध्यक्षो को आदेश दिया कि शीघ्र ही घोंसा (भेरी) बजाकर सैनिको को इकट्ठा किया जाय, पर उन्हें इसका कारण न बताया जाय।[1] परिस्थितिवश इस सैनिक हलचल का कारण प्रकट न करना ही आवश्यक समझा गया।

राक्षसी सेना के विपरीत वानरी सेना बिखरी हुई थी और उसका सग्रह करना तत्काल सभव न था। सुग्रीव ने अपने सेनापति नील को आदेश दिया कि मेरी सारी सेना पद्रह दिन के भीतर किष्किधा में इकट्ठी हो जाय तथा सभी यूथपति अपनी-अपनी सेना के साथ आ जाय (४।२९।२९।३२)। नील ने तुरत ही इस आज्ञा का पालन किया और दूतो को प्रेषित कर दिया। कुछ समय बाद सुग्रीव ने, लक्ष्मण के कोप से भयभीत हो, पहले भेजे गए वानरो से जल्दी कराने के लिए (त्वरणार्थम्) तथा पराक्रमी वानरो को साम-दान आदि उपायो द्वारा बुला लाने के लिए पुन कई वेगवान वानर भेजे (४।३७)। सैनिको के आ जाने पर उन्हें अलग-अलग दलो में सगठित किया गया, जिनका प्रत्येक का अपना पृथक बलाध्यक्ष था—**निवेशयित्वा विधिवद्बलानि बल बलज्ञ प्रतिपत्तुमीष्टे** (४।३९।४४)।

ज्ञात प्रदेशो में कूच करते समय सेना के पडाव की व्यवस्था पूर्व-नियोजित होती थी, जैसाकि भरत-सेना की चित्रकूट-यात्रा से स्पष्ट है। इन पडावो में अनेक शिविर लगाये जाते थे तथा आवागमन के मार्गों और क्रय-विक्रय स्थलो की योजना रहती थी। राजशिविर की प्रतिष्ठा शुभ मुहूर्त में की जाती थी। उसका निर्माण ईंट-चूने के पक्के फर्श पर किया जाता तथा सुभीते से रहने के लिए उसमें पर्याप्त

---

१. **शीघ्रं भेरीनिनादेन स्फुटं कोणाहतेन मे। समानयध्व सैन्यानि वक्तव्यं न च कारणम्॥६।३२।४३**

स्थान रखा जाता था (२।८०।१३-७)। आगे कूच करते समय इन शिविरो को जला कर नष्ट कर दिया जाता था (आवासमादीपयताम् २।८९।१५), जिससे शत्रु उनका उपयोग न कर पाय।

तत्कालीन सामरिक अभियानो का विशद परिचय राम के लका-अभियान के वर्णन से प्राप्त होता है। आक्रमणकारी सेनापति के लिए शत्रु-प्रदेश के दुर्गों, प्रवेश-मार्गों, नगर-द्वारो की स्थिति, शत्रु-सेना की सख्या और गति-विधि, शत्रु के प्रतिरक्षात्मक साधन आदि की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक था। राम ने अपनी आक्रमण-योजना बनाने से पहले लका के विषय मे इन सब बातो की सूचना हनुमान से प्राप्त कर ली थी (६।३)। कूच करने से पूर्व राम ने सेना के निर्बल और अनावश्यक अगो को किष्किधा मे ही रह जाने का आदेश दे दिया था,[1] जिससे वे स्वदेश पर किसी आकस्मिक आक्रमण का सामना कर सके।

सेना का अग्र-भाग 'मूर्धन्' कहलाता था, जबकि दाये-बाये के भाग 'पार्श्व' और मध्य भाग 'कुक्षि' या 'उरस्' कहलाते थे। किष्किधा से लका का मार्ग बीहड जंगलो और पहाडियो मे से होकर जाता था। अत सुरक्षा की दृष्टि से राम ने प्रधान सेनापति नील को आज्ञा दी कि तुम चुने हुए सैनिको को लेकर सेना के शीर्ष-भाग में प्रयाण करो और देखते रहो कि मार्ग निरापद है अथवा नही। इस अग्रगामी टुकडी का यह भी कर्तव्य था कि वह पीछे आनेवाली सेना के लिए ऐसे ही मार्गों को चुने जो अन्न-जल से परिपूर्ण हो। राम जानते थे कि शत्रु लोग मार्ग मे छिपकर बैठे रहते है तथा अन्न-जल मे विष भी मिला देते है। इन सभावित सकटो से सावधान रहने के लिए उन्होने नील को सतर्क कर दिया था तथा जगलो और घाटियो में छिपे हुए शत्रु-सैनिको का पता लगाते रहने का आदेश दे दिया था (६।४।९-१२)।

वानरी सेना के दाहिने पार्श्व का नेतृत्व गज, गवय और गवाक्ष-जैसे निर्भीक वानर कर रहे थे। बायें पार्श्व की रक्षा गधमादन नामक बलवान वानर कर रहा था। राम, लक्ष्मण और सुग्रीव सेना के मध्य भाग में रहकर सैनिको का उत्साह-वर्धन कर रहे थे। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया था कि वानरराज सुग्रीव और सर्वोच्च अधिनायक राम खतरो से भली भाति सुरक्षित रहे, क्योकि अभियान की सफलता उन्हीकी कुशल-क्षेम पर निर्भर थी। सेना का पृष्ठ-भाग वृद्धिमान जाव-

---

१. यत्तु फल्गु बलं किंचित्तदत्रैवोपपद्यताम् ।६।४।१३

वानर के अधीन था। इन सभी अधिकारियो का यह कर्तव्य था कि वे सैनिको को निरतर सचेष्ट रखें और उन्हें कूच करते रहने का प्रोत्साहन देते रहें (६।४।१५-२०)।

किष्किधा में वानर-सैनिको को जिस शीघ्रता से सगठित किया गया था, उसी तत्परता से लका की ओर अभियान भी किया गया। रात और दिन जगलो में से कूच करती हुई राम की सेना दक्षिणी समुद्री तट पर विद्युत-वेग से जा पहुची। महेंद्र पर्वत की चढाई पार करके वह उसके दक्षिणी ढाल से नीचे की ओर उतरी और शीघ्रता से उसने हिंद महासागर के तट पर स्थित जगल में पडाव डाला। समूचे मार्ग में कोई दूसरा पडाव डालने की सूचना नही मिलती।

समुद्र-तट पर पडाव के लिए सुग्रीव ने सेना को तीन भागो में बाट दिया। पडाव में गश्ती दलो की भी समुचित व्यवस्था की गई थी। मैंद और द्विविद वानरो को छावनी पर बराबर निगरानी करते रहने और योद्धाओ को असावधान न होने देने का कार्य सौंपा गया।[1] क्योकि यह एक अज्ञात देश था, अत राम ने सारी सेना को सगठित रूप में एक ही स्थान पर रखा और छावनी के बाहर किसी भी सैनिक के जाने पर रोक लगा दी थी। उन्होने यह कठोर आज्ञा जारी कर दी थी कि प्रत्येक नायक अपनी-अपनी टुकडी पर नियुक्त रहे और किसी भी दशा में अपना स्थान न छोडे, क्योकि सभव था कि शत्रु कही छिपा हुआ हो—**स्वा स्वा सेना समुत्सृज्य मा च कश्चित्कुतो व्रजेत्** (६।४।१०२)।

नल-सेतु का निर्माण होते ही राम ने द्रुत वेग से सेना को समुद्र पार कराया और लका-तट पर फल-मूलो से युक्त एक सघन स्थल में मोर्चाबदी की।[2] प्रधान सेनापति की आज्ञा से वानर-सैनिक रात के समय लका में लुक-छिपकर घूम-फिर सकते थे।[3]

---

१ **विचेरतुश्च ता सेना रक्षार्थं सर्वतो दिशम्** ।६।५।२, **गच्छन्तु वानरा शूरा ज्ञेय छन्न भय च न** ।६।४।१०२

२ **वानराणा हि सा तीर्णा वाहिनी नलसेतुना। तीरे निविविशे राज्ञा बहुमूल-फलोदके** ॥६।२२।८३

३. **अन्ये तु हरिवीराणा यूथान्निष्क्रम्य यूथपा। सुग्रीवेणाभ्यनुज्ञाता लका जग्मुः पताकिनीम्** ॥६।३६।१३

आक्रमण आरभ करने से पहले राम ने परामर्श करने के लिए अपनी सेना के प्रधान अधिकारियो की एक युद्ध-समिति बुलाई और उसके निश्चयानुसार अपनी सेना को सुवेल पर्वत पर स्थापित किया। पर्वत की सबसे ऊची चोटी पर चढकर उन्होने अपने बलाध्यक्षो के साथ शत्रु के समस्त प्रदेश का विहगावलोकन किया और आक्रमण की योजना बनाई। इसके बाद तुरत ही उन्होने अपनी सेना के साथ लका-दुर्ग पर कूच किया और उसे घेर लिया।

पुल और रास्तो की रक्षा का राम ने विशेष रूप से ध्यान रखा था। जब वानर-सेना सेतु पार कर रही थी, तब विभीषण और उनके चारो साथी लका-तट पर पहरा देते रहे, जिससे समुद्र पार करती हुई सेना पर शत्रु हमला न कर सके।[1] युद्ध के दौरान में भी राम पुल की रक्षा के प्रति असावधान नही थे। जब एक बार कुभकर्ण ने वानरी सेना में भारी आतक मचा दिया, तब राम ने नील को पीछे के रास्तो और पुलो की रक्षा का विशेष ध्यान रखने का आदेश दिया था।[2]

लका-दुर्ग का घेरा डालने के बाद राम ने राजधर्म के अनुसार अगद को दूत बनाकर रावण के पास यह सदेश भेजा कि बिना शर्त आत्मसमर्पण करके सीता को लौटा दो अथवा लडाई के मैदान में उतर आओ। रावण समझौते के लिए तैयार नही हुआ। इस पर वानरो ने दुर्ग की खाई को चट्टानो, पेडो, कीचड आदि से पाट दिया और चहारदीवारी को तोड-फादकर नारे लगाते हुए अदर के दुर्ग को घेर लिया। वानर-सेना को चार भागो में बाट दिया गया था और प्रत्येक भाग एक-एक सुयोग्य बलाध्यक्ष के अधीन था। लका के उत्तरी प्रवेश-द्वार की रक्षा रावण कर रहा था, अत इस स्थान पर स्वय राम उपस्थित थे।

सेना की विभिन्न प्रकार के व्यूहो मे रचना की जाती थी, यथा श्येन, सूची, वज्र, शकट, मकर, दड, पद्म आदि। राम को गरुड-व्यूह विशेष प्रिय था। बिखरे हुए दुर्ग में से जो-जो राक्षस-सैनिक द्वार से बाहर निकलने की चेष्टा करते, उनसे वानर-योद्धा जूझ जाते। इस प्रकार जब शत्रु के अधिकाश सेनाध्यक्ष और सैनिक

---

१. ततः पारे समुद्रस्य गदापाणिर्विभीषणः। परेषामभियानार्थं (घातार्थं) मतिष्ठत्सचिवैः सह ॥६।२२।७६-७

२. गच्छ सैन्यानि सर्वाणि व्यूह्य तिष्ठस्व पावके। द्वाराण्यादाय लकायाश्चर्याश्चास्याथ संक्रमान् ॥६।६१।३४

मारे गए, तव सुग्रीव ने राम की अनुमति से लका में आग लगा दी। परिणाम यह हुआ कि दुर्ग में छिपी हुई फौजो को वाहर निकल आने को वाध्य होना पडा। रावण, कुभकर्ण, मेघनाद तथा अन्य सभी प्रमुख राक्षस-वीर राम और उनके साथियो द्वारा मारे गए।

वानरी सेना में केवल पदाति सैनिक थे। नख और दात ही उनके आयुध थे (नखदष्ट्रायुधा, ६।१४।३)। वाली और सुग्रीव ने लडते समय नखो, तमाचो, घूसो, लातो और हाथो की मार का खुलकर प्रयोग किया था। वानरो के वज्रतुल्य घूसो और तमाचो की चोट खाकर राक्षस लोग खून उगलने लगते थे, उनके मुह और नेत्र फट जाते थे। शत्रु के वाहनो का भी वानर थप्पडो और घूसो से काम तमाम कर देते थे। किंतु इन आयुधो का उपयोग शत्रु को पकड पाने पर ही किया जा सकता था, अत दूरस्थ शत्रु पर वानर वृक्ष और चट्टानें फेंककर धावा किया करते थे। हनुमान ने यह गर्वोक्ति की थी कि हजारो की सख्या में वृक्ष और शिलाए फेंककर मैं एक नही, सहस्र रावणो का भी मुकावला कर सकता हू।[1] कभी-कभी वानर प्रतिपक्षी का शस्त्र छीनकर उसका उसीके विरुद्ध उपयोग करते थे। अनेक राक्षस-योद्धाओ की वानरो के हाथो अपने ही शस्त्रो से मृत्यु हुई थी।

मल्ल-युद्ध या कुश्तीवाजी उस समय की सर्वाधिक प्रचलित युद्ध-प्रणाली थी। उसे वाहु-युद्ध, द्वद्व-युद्ध, मुष्टि-युद्ध (घूसेवाजी), गदा-युद्ध आदि के नाम भी दिये गए हैं। इनमें थोडा-वहुत भेद अवश्य था पर सवमें पैंतरेवाजी की कुशलता पर ही हार या जीत निर्भर करती थी। वानर और राक्षस ही मल्ल-युद्ध का आश्रय लिया करते थे, शस्त्रास्त्रो के प्रयोग में निपुण आर्य-योद्धा नही। मल्ल या कुश्तीवाज भिड जाने से पहले कसकर लगोटी पहन लेते, खूव गरजते और एक-दूसरे को ललकारते थे। लडते समय वीच-वीच में वे एक-दूसरे को डाटते भी जाते थे। रामायण में सवसे रोमाचकारी मल्ल-युद्ध रावण और सुग्रीव के वीच हुआ है (६।४०)। उस समय वानरी सेना सुवेल-पर्वत पर डेरा डाले पडी थी और रावण-नगर के गोपुर की छत पर वैठा हुआ था। उसे देखते ही सुग्रीव क्रोध से उवलकर सुवेल के शिखर पर से ही गोपुर की छत पर कूद पडे और उन्होंने रावण के मुकुट को खीचकर जमीन

---

१. न रावणसहस्र मे युद्धे प्रतिवल भवेत्। शिलाभिश्च प्रहरत पादपैश्च सहस्रश.॥ ५।४२।३५

पर गिरा दिया। इस पर रावण ने सुग्रीव को अपनी भुजाओ में उठाकर जमीन पर दे मारा। सुग्रीव ने भी गेंद की तरह उछलकर रावण को पटक लगाई। अब वे दोनो आपस में गुथ गए। दोनो के ही शरीर पसीने से तर और खून के लथपथ हो गए। राक्षसराज और वानरराज दोनो में घूसे, थप्पड, कोहनी और पजो की मार से घोर युद्ध होने लगा। गोपुर के चबूतरे पर एक-दूसरे को उछालते हुए वे आपस मे गुथकर इतने झुक गए कि उस चबूतरे से ही जा लगे। लडते-लडते वे किले की खाई मे गिर गए, वहा कुछ देर पृथ्वी-तल का स्पर्श किये पडे रहे, फिर सास लेते हुए खडे हो गए और एक-दूसरे को बाहु-पाश में जकडकर आपस में वध गए। दोनो कसरती जवान थे तथा युद्ध की शिक्षा और बल से सपन्न थे। उन्होने निम्नलिखित दाव-पेंचो का प्रयोग किया था —

मार्जार अवस्थान—अपने शिकार की ओर ध्यान लगाकर निश्चल भाव से खडी दो बिल्लियो की-सी मुद्रा मे मल्लो का वार करने के लिए खडा रहना।

मंडल—मडल चार प्रकार के होते हैं—'चारि', 'करण', 'खड' और 'महा-मडल'। एक पैर आगे करके बढना 'चारि' कहलाता है। दोनो पैर एक साथ बढाकर आगे आने को 'करण' कहते हैं। करण की शैली में कई बार आगे बढने को 'खड' कहते है, जबकि तीन-चार प्रकार से खडो का प्रयोग करना 'महामडल' कहलाता है। उक्त सभी मडल दायें या दायें या दायें-बायें प्रयुक्त होने पर क्रमश 'सव्य', 'अपसव्य' और 'सव्यापसव्य' कहलाते थे।

स्थान—कदमो का विभिन्न प्रकार से आगे-पीछे, टेढे-मेढे सचालन करना 'स्थान' कहलाता है। स्थान अर्थात पाद-विन्यास छ प्रकार के होते हैं—'वैष्णव', 'समपाद', 'वैशाख', 'मडल', 'प्रत्यालीढ' और 'अथालीढ'। इनमें बाघ, सिंह, कुत्ते, बिल्ली आदि की झपटने की मुद्रा का अनुकरण किया जाता है।

गोमूत्रक—बहते हुए गोमूत्र के समान टेढी-मेढी गति, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है।

गत-प्रत्यागत—आगे बढना और पीछे हटना।

तिरश्चीनगत—उल्लू, बाज आदि शिकारी पक्षियो की तरह तिरछी चाल से झपटना।

वक्रगत—दायें-बाये होकर झपटना।

प्रहाराणां वर्जनम्—शीघ्रता से हटकर शत्रु के वार को व्यर्थ कर देना।

वर्जन—शत्रु के वार को अपने वार से रोकना।

परिधावन—हमला करने की नीयत से प्रतिपक्षी के चारो ओर दौडना।

अभिद्रवण—प्रतिपक्षी का तेजी के साथ सामना करना।

आप्लाव—मेढक की तरह रुक-रुककर प्रतिपक्षी की ओर बढना।

अवस्थान सविग्रहम्—आक्रमणात्मक मुद्रा मे निर्भय खडे रहना।

परावृत्तम्—प्रतिपक्षी के वार से बचने के लिए सामने न आना।

अपावृत्तम्—बगल से होकर निकल जाना अथवा खडे-खडे बिना मुडे पीछे की ओर हटना।

अपद्रुत—प्रतिपक्षी की जाघ आदि पकडने के इरादे से शरीर को सिकोड कर झुकते हुए आगे बढना।

अवप्लुत—प्रतिपक्षी को लात मारने के लिए नीचा मुह करके कूदना।

उपन्यस्त—विरोधी की भुजाए पकडने के लिए छाती तानकर बाहे फैलाना।

अपन्यस्त—विरोधी की पकड से बचने के लिए बाहो को इधर-उधर फेंकना।

इनमें बहुत-से दाव-पेंच आज भी किसी-न-किसी रूप में भारतीय पहलवानो द्वारा अपनाये जा रहे है।

युद्ध में मर जानेवाले राम-पक्षीय योद्धा रण-भूमि में ही पडे रहते थे, पर राक्षस-मृतको के शव तुरत ही समुद्र में फेंक दिये जाते थे,[1] क्योकि रावण को भय था कि उनकी अधिक सख्या देखकर बचे-खुचे राक्षस कही आतकित न हो जाय।

रात के समय युद्ध प्राय बद कर दिया जाता था। खर सूर्यास्त से पहले ही राम के साथ युद्ध समाप्त कर देना चाहता था, क्योकि अधेरे में सैन्य-सचालन करना और निशाने पर बाण मारना कठिन हो जाता था। किंतु लका-युद्ध में इद्रजित और रावण ने रात में भी राम और उनके वानर सैनिको से मुठभेड की थी।

आर्य और राक्षस सैनिक सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रो का प्रयोग किया करते थे। तलवारें तीन तरह की होती थी—'असि', 'खड्ग' और 'ऋष्टि'। असि लबी, खड्ग छोटी और ऋष्टि दुधारी तलवार थी। राम की असि में सोने की मूठ लगी

---

१. ये हन्यन्ते रणे तत्र राक्षसा. कपिकुजरैः। हता हतास्तु क्षिप्यन्ते सर्व एव तु सागरे ॥६।७४।७२

थी। 'कोदड' धनुप को कहते थे। वाण 'तूणी' या 'कलाप' में रखे जाते थे। छिपी कटारी 'कूट' कहलाती थी। 'वज्र' लोहे का दड, 'मुद्गर' लोहे का हथौडा, 'परश्वध' युद्ध का कुठार (परशु) तथा 'चक्र' चक्राकार आयुध था, जिसके बीच में काटनेवाली आराए और परिधि पर चारो ओर नोकें निकली हुई थी। 'शूल' वर्छा और 'त्रिशूल' तीन फलवाला बर्छा था। ये दोनो भाले के समान थे। शक्ति भी एक प्रकार का भाला थी। वाल्मीकि के अनुसार 'उसमे आठ घटिया लगी थी, उसमें से एक डरावनी आवाज निकलती थी, मय ने उसे छल और कलापूर्वक निर्मित किया था, वह अमोघ, शत्रु के जीवन-शोणित का पान करनेवाली और वायु में विद्युत-गति से चलनेवाली थी, तथा उसके पीछे एक रेखा अकित होती जाती थी' (६।१००।२६-३५)। 'अशनि' गदा को कहते थे। गदा में कभी-कभी सुवर्ण-पट्ट लगा रहता तथा लोहे की कीलें जडी रहती थी। 'परिघ' लोहे के काटो से जडा दड था। 'शतघ्नी', जैसाकि इसके नाम से प्रकट है, एक वार में सौ व्यक्तियो का सहार करती थी, पर उसके आकार-प्रकार के विषय में मत-भद है। उसके ये अनेक अर्थ लगाये जाते है—(१) चारो ओर से असख्य तेज लोहे के छुरो से विधा हुआ दड, (२) दुर्ग की दीवार पर रखा हुआ एक विशाल स्तभ, जिसके धरातल पर असख्य तीक्ष्ण नोकें हो, (३) सैकडो पत्थर एक वार में फेंकने का यत्र, जिसे आधुनिक तोप का पूर्व-रूप कहा जा सकता है, (४) तोपनुमा यत्र से फेका जानेवाला एक वडा पत्थर, जिसमें लोहे की आराए लगी हो। अन्य शस्त्रो मे उल्लेखनीय ये थे—प्राश, पट्टिश, पाश, तोमर, मुसल और क्षेपणी (ढेलवास या गुलेल)।

अस्त्रो में वाण (शर या नाराच) ही सवसे अधिक प्रयोग मे लाये जाते थे। अमोघ वनाने के लिए उन्हे कभी-कभी मत्रो से अभिषिक्त करके छोडा जाता था। ये मत्र उनके 'प्रयोग' (छोडने) और 'सहार' (लौटाने) के गुप्त विधि-विधान रहे होगे। वाण का 'प्रयोग' करते समय किसी मत्र-विशेष का जप किया जाता, जिससे वह किसी विशिष्ट आकृति को ग्रहण कर ले या विशिष्ट कार्य का साधक वन जाय, तथा 'सहार' के समय निवारक-मत्र का जप किया जाता, जिससे अभिमत्रित वाण में आई हुई शक्ति चली जाती और वह अपने पूर्व-रूप मे आ जाता था। राम को विश्वामित्र से अनेक अस्त्रो के प्रयोग और सहार की शिक्षा मिली थी।

वाणो मे पक्षो की पूछ (पत्रयुक्त) लगी होती थी। कभी-कभी वे सुवर्ण-मडित भी होते थे (रुक्मपुख)। विष से पुते वाणो का भी प्रयोग प्रचलित था

(आशीविषोपमम्)। बाणों के नानाविध आकार-प्रकार होते थे। पी० सी० धर्मा[1] ने रामायण से इन-इन बाणों के नामों का सकलन किया है—अधोगति, अग्निदीप्त-मुख, अजलिक, अर्धचन्द्र, अर्धनाराच, आशीविषानन, आशुग, ईहामृगमुख, उल्कामुख, कालमुख, ककमुख, ककपत्रिन्, कर्णिन्, खरमुख, क्षुर, क्षुरप्र, कुक्कुटवक्त्र, ग्रहवक्त्र, गृध्रमुख, चन्द्रवक्त्र, धूम्रकेतुमुख, नक्षत्रवक्त्र, नतपर्व, नाराच, नागमय, पचास्य, प्रसन्नाग्र, भल्ल, मकरानन, मार्गण, रुक्मपुख, लेलिहान, वराहमुख, वत्सदत, विद्युज्जिह्वोपम, विपाट, व्यादितास्य, व्याघ्रमुख, शल्य, शिलीमुख, सिंहमुख, शृगालवदन, सूचिमुख, श्वानवक्त्र तथा श्येनमुख।

बचाव के आयुध या जिरहबख्तर भी कई प्रकार थे, यथा वर्म या कवच, अभेद्य कवच, आर्षभ-चर्म, गोधा (धनुष के चिल्ले की चोट से बचने के लिए बाईं कलाई पर बाधने का चमडा), तनुत्राण, मर्मत्राण, अगुलित्राण और शिरस्त्राण। घोडा की सुरक्षा के लिए 'उरश्छद' काम में लाया जाता था।

●

१. देखिए 'रामायण पालिटी', पृ० ८८-५

संदर्भ-ग्रंथ

अनत सदाशिव अलतेकर — 'पोजीशन आफ वीमेन इन हिंदू सिविलिजेशन', वाराणसी, १९३८,
'प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति', प्रयाग, १९४८

अवनीद्रनाथ ठाकुर — 'सम नोट्स आन इडियन आर्टिस्टिक एनेटामी', कलकत्ता, १९१४

आनद कुमारस्वामी — 'दि डान्स आफ शिव', न्यूयार्क, १९२४

आशुतोष मुखर्जी रजत-जयती ग्रथ, ओरिएटेलिया, भाग १, २, कलकत्ता, १९२२

ई० डब्ल्यू० हार्प्किस — 'दि ग्रेट एपिक आफ इडिया', न्यूयार्क, १९०१

ए० ए० मैक्डानेल — 'ए हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर', लदन, १९००

एन० ए० गोरे — 'ए बिब्लिऑग्राफी आफ दि रामायण', पूना, १९४३

एम० विंटरनित्स — 'ए हिस्ट्री आफ इडियन लिटरेचर', जिल्द १, कलकत्ता, १९२७

एस० वी० विश्वनाथ — 'इटरनेशनल लॉ इन एन्श्यट इडिया', लदन, १९४०;
'रेशियल सिंथेसिस आफ हिंदू कल्चर', लदन, १९२८

एस० सी० सरकार — 'एज्यूकेशनल आइडियाज एड इन्स्टीट्यूशस इन एन्श्यट इडिया',
'सम एस्पैक्ट्स आफ दि अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इडिया'

कल्याण — 'रामायणाक' तथा 'सक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणाक', वर्ष ५ और १८

कामिल बुल्के — 'राम-कथा', प्रयाग, १९५०

के० वी० रगास्वामी आयगर अभिनदन-ग्रथ, मद्रास, १९४०

चद्रशेखर पाडेय तथा शातिकुमार नानूराम व्यास — 'सस्कृत साहित्य की रूपरेखा', कानपुर, १९५४

चिंतामण विनायक वैद्य — 'दि रिडिल आफ दि रामायण', बबई, १९०६

जे० एन० समद्दर — 'लेक्चर्स आन दि एकानामिक कडिशन्स इन एन्श्यट इडिया', कलकत्ता, १९२२

जे० जे० मेयर — 'सेक्सचुअल लाइफ इन एन्श्यट इडिया', लदन, १९३०

जे० म्युअर	'ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट्स', भाग २, लदन, १८७१
टी० परमशिव ऐयर	'रामायण एड लका', बगलौर, १९४०
नदलाल दे	'दि ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ एन्श्यट एड मिडीवल इडिया', लदन, १९२७
नरेंद्रनाथ लॉ	'स्टडीज इन इडियन हिस्ट्री एड कल्चर'
नवीनचद्र दास	'ए नोट आन दि एन्श्यट ज्योग्राफी आफ एशिया कपाइल्ड फ्रॉम वाल्मीकि रामायण', कलकत्ता, १८९६, 'ए नोट आन दि एटीक्विटी आफ दि रामायण', कलकत्ता, १८९९
पडरीनाथ एच० वालावलकर	'हिंदू सोशल इन्स्टीट्यूशन्स', बबई, १९३९
पाडुरग वामन काणे	'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', जिल्द २, भाग १, पूना, १९४१
पी० सी० धर्मा	'रामायण पॉलिटी', मद्रास, १९४१
बेनीप्रसाद	'दि स्टेट इन एन्श्यट इडिया', इलाहाबाद, १९२८
भगवतशरण उपाध्याय	'कालिदास का भारत', बनारस, १९५४
भडारकर ओरिएटल रिसर्च इस्टीट्यूट	'ट्वेंटीफाइव ईयर्स आफ एपिक एड पुराणिक रिसर्च', पूना, १९४२
मन्मथनाथ दत्त	वाल्मीकि-रामायण का अग्रेजी भापातर, ३ भाग, कलकत्ता, १८८९-९१
महाराष्ट्रीय	'रामायण समालोचना', पूना, १९२७
रमेशचद्र दत्त	'हिस्ट्री आफ सिविलिजेशन इन एन्श्यट इडिया', लदन, १८९३
रमेशचद्र मजूमदार	'आउटलाइन आफ एन्श्यट इडियन हिस्ट्री एड सिविलिजेशन', कलकत्ता, १९२७
राधाकुमुद मुकर्जी	'ए हिस्ट्री आफ इडियन शिपिंग एड मैरीटाइम एक्टीविटी', लदन, १९१२
वासुदेवशरण अग्रवाल	'भारत की मौलिक एकता', इलाहाबाद, १९५४
वाल्मीकि	'रामायण', बबई, १९१२-२०
शातिकुमार नानूराम व्यास	'सक्षिप्त वाल्मीकि-रामायण', दिल्ली, १९५५

परिशिष्ट

वाल्मीकि-कालीन स्थान-परिचय

अगस्त्य-आश्रम—नासिक से चौबीस मील दक्षिण-पूर्व।

अर्धगंगा—कावेरी।

अपर ताल—रामपुर के उत्तर में रामगगा-तटवर्ती प्रदेश।

अपर विदेह—रगपुर और दीनाजपुर।

अर्बुद—आबू पर्वत।

अयोध्या—सरयू के दक्षिण तट पर स्थित।

अंग—गगा के उत्तर-दक्षिण भागलपुर का इलाका, जिसमें मुगेर भी शामिल है।

अवंती—मालवा की प्राचीन राजधानी।

अंशुमती—यमुना नदी का एक प्राचीन नाम।

आनर्त—उत्तरी गुजरात।

इक्षुमती—फर्रुखाबाद जिले की इक्षुला या ईखन नदी।

इंद्रप्रस्थ—दिल्ली।

इरावती—रावी।

इल्वल—एलोरा।

उज्जिहान—उझानी, बदायू।

उत्कल—उडीसा।

उत्तर कुरु—तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान।

उत्तरगा या उत्तानिका—रामगगा नदी।

उशीनर—दक्षिणी अफगानिस्तान।

ऋष्यमूक—बिलारी जिले मे हपी के उत्तरे में स्थित पर्वत।

ऋष्यशृंग-आश्रम—भागलपुर जिले में माधीपुर तहसील मे सिंहेश्वर।

कंबोज—पामीर, बदख्शा।

करूष—बघेलखड

कर्णाट—दक्षिण भारत का एक प्रदेश, जिसमें आजकल बेलगाव, धारवाड, वीजापुर, बिलारी आदि स्थित है।

कर्मनाशा—बिहार के शाहाबाद जिले की पश्चिमी सीमा पर एक नदी।

कलिंग—उडीसा से दक्षिण तथा द्रविड देश से उत्तर, पूर्वी घाट का एक प्रदेश।

कांची—काजीवरम।

कान्यकुब्ज—कन्नौज।

कांपिल्य—कपिल, फर्रुखाबाद।

कामाश्रम—बलिया जिले में सरयू-गगा के सगम पर। अब सरयू पूरब में हट गई है।

कामरूप—असम ।

कारुपथ—सिंधु नदी के पश्चिमी किनारे पर बन्नू जिले में स्थित कालावाग या कारावाग । राम ने लक्ष्मण-पुत्र चद्रकेतु को यहा का राजा बनाया था ।

कालिंदी—यमुना नदी का एक प्राचीन नाम ।

काशी—वह जनपद जिसकी राजधानी वाराणसी थी ।

किष्किधा—बिलारी जिले में, हपी से चार मील दूर, तुगभद्रा नदी पर स्थित वर्तमान अनागोदी ।

किरात—भारत का पूर्वी सीमा-प्रदेश ।

कुरुजागल—हस्तिनापुर के उत्तर-पश्चिम की ओर सरहिंद में ।

कुलिंद—सहारनपुर जिला ।

कुशावती—भडौच से अडतीस मील उत्तर पूर्व । राम-पुत्र कुश द्वारा स्थापित ।

कूटिकोष्टिका—कौसिला नदी, रामगगा की पूर्वी शाखा ।

कृष्णवेणी—कृष्णा और वेणा नदियो की सयुक्त धारा ।

कृतमाला—वैगा नदी, जिस पर मदुरा स्थित है ।

केकय—झेलम और चिनाव के मध्य का प्रदेश । आधुनिक शाहपुर-गुजरात ।

केरल—कनाडा, मलावार, त्रावणकोर ।

कैलास—मानसरोवर से पच्चीस मील उत्तर ।

कोसल (उत्तर)—अवध ।

कौशावी—प्रयाग से तीस मील पश्चिम यमुना के बायें किनारे पर स्थित कोसम नामक एक प्राचीन गाव ।

कौशिकी—कोसी नदी, गगा की एक शाखा ।

गधर्व—कुनार तथा सिंधु नदियो के बीच कावुल नदी के किनारे का प्रदेश ।

गाधार—तक्षशिला से कावुल तक का प्रदेश ।

गिरिव्रज—केकय राज्य की राजधानी । झेलम पर स्थित गिरिझक या जलालपुर । इसका नाम राजगृह भी था ।

गोकर्ण—गगोत्री से दो मील आगे, गोमुखी, जहा भगीरथ ने गगा को भूतल पर लाने के लिए तप किया था ।

गोप्रतार—फैजाबाद में सरयू नदी पर स्थित गुप्तार । यही राम ने इह-लीला समाप्त की थी ।

गोमती—जिस पर लखनऊ स्थित है ।

गौतमाश्रम—तिरहुत में, जनकपुर से चौबीस मील दक्षिण-पश्चिम की ओर, जरैल परगने के अहियारी

गाव का अहल्या-स्थान।

चंद्रभागा—चिनाब।

चंपा—भागलपुर।

चर्मण्वती—चबल।

चित्रकूट—चित्रकूट स्टेशन के समीप कामतानाथ गिरि।

चित्रोत्पला—महानदी।

चेर—मलाबार का कुछ हिस्सा तथा कोयबटूर।

चोल (द्रविड)—कृष्णा और कावेरी नदियो के बीच का प्रदेश।

जनस्थान—औरगावाद तथा कृष्णा और गोदावरी के बीच का प्रदेश।

जाबालिपत्तन—जबलपुर।

तक्षशिला—पूर्वी गाधार की राजधानी। रावलपिंडी जिले में तक्षिला गाव।

तमसा—इस नाम की दो नदिया रामायण से सूचित होती है। एक अयोध्या से दक्षिण सरयू और गोमती के बीच में बहती है, जिसका नाम वेदश्रुति भी है, तथा दूसरी गगा के दक्षिण मे टोस, जिसके तट पर वाल्मीकि का आश्रम स्थित था।

ताम्रपर्णी—तिन्नेवेली जिले मे ताबरवारी नदी।

दक्षिण कोसल—छत्तीसगढ।

दक्षिणापथ—नर्मदा का दक्षिणवर्ती भारतीय प्रायद्वीप। मूल रूप से यह ऊपरी गोदावरी की आर्य-बस्तियो का सूचक था।

दंडकारण्य—चित्रकूट से लेकर गोदावरी तक का वन-प्रदेश; डा० भडारकर के अनुसार महाराष्ट्र।

दर्दुर पर्वत—नीलगिरि।

दशार्ण—भेलसा, वेत्रवती तथा बुदेलखड की अन्य छोटी नदियो का प्रदेश।

दृशद्वती—सरस्वती और यमुना के बीच मे कुरुक्षेत्र की चिताग नदी।

धर्मारण्य—कृतयुग मे उत्कल में आर्यों का अधिनिवेश (राम से पूर्व)।

नलिनी—बगाल की पद्मा नदी। इसे ब्रह्मपुत्र नदी भी माना जाता है।

नदिग्राम—अयोध्या से एक कोस। आधुनिक नदगाव। फैजाबाद से आठ-नौ मील दक्षिण।

नैमिषारण्य—गोमती नदी पर स्थित। आधुनिक निमसर, लखनऊ से पैंतालीस मील उत्तर-पश्चिम।

पंचवटी—नासिक।

पयोष्णी—ताप्ती।

पर्णाशा—बनास।

पंपासर—तुगभद्रा की एक सहायक नदी, जो ऋष्यमूक पर्वत से निकलती है।

पंचाल—रुहेलखड।

पाड्य—तिनेवेल्ली और मदुरा जिले।

पुष्कलावती—स्वात और काबुल

नदियों के सगम पर स्थित, वर्तमान चारसद्दा।

प्रलव—पश्चिमी रुहेलखड में, विजनौर से आठ मील उत्तर मुदावर या मुदोरा।

प्रस्रवण पर्वत—तुगभद्रा नदी-वर्ती एक पर्वत-माला।

प्राग्ज्योतिष—कामरूप की राजधानी, आधुनिक गोहाटी।

बाल्हीक—बल्ख।

ब्रह्मावर्त—सरस्वती और दृशद्वती के बीच की भूमि।

मगध—दक्षिणी विहार।

मतग-आश्रम—विलारी जिले में पपा के पास।

मतंग-वन—पपा के पश्चिमी तीर पर।

मत्स्य—अलवर, भरतपुर।

मद्र—चिनाव के पूर्व मे उत्तरी पजाव का एक जनपद।

मधुपुरी—मथुरा।

मध्यदेश—सरस्वती, हिमालय, प्रयाग और विंध्य के मध्य का देश।

मधुमत—दडकारण्य मे स्थित।

मदाकिनी—चित्रकूटा या पयस्विनी नदी, जो ऋष्यवान पर्वत से निकल कर चित्रकूट मे वहती हुई यमुना में जा मिलती है।

मलद—गगा के पूर्वी किनारे का जनपद, जो अव मालदा कहलाता है।

मलय गिरि—पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग।

मल्ल देश—मुलतान जिला।

महेंद्र पर्वत—पूर्वी घाट में गजाम जिले में।

महोदधि—वगाल की खाडी।

मागधी—सोन नदी।

माल्यवान पर्वत—किष्किधा के पास। प्रस्रवण-पर्वतमाला का एक शिखर।

मालिनी—प्रलव' और अपरताल नामक प्राचीन जिलों के बीच वहने-वाली चुक (शुक) नदी, जो अयोध्या से पचास मील उत्तर सरयू में गिरती है।

माहिष्मती—नर्मदा-स्थित महेश्वर। इदौर से चालीस मील दक्षिण।

मिथिला—विदेह में जनकपुर से दक्षिण एक नगर।

मैनाक—लका और भारत के मध्य-वर्ती समुद्र में स्थित एक पर्वत।

यवद्वीप—जावा।

रत्नाकर—अरव सागर।

रसातल—पश्चिमी तारतार।

राजगृह—केकय देश की राजधानी गिरिव्रज का दूसरा नाम। वौद्ध काल में यह नाम मगध की प्राचीन राज-धानी का था।

रामगिरि—नागपुर से चौवीस मील

उत्तर में रामटेक, जहा राम ने शबूक-वध किया था।

लंका—परपरानुसार वर्तमान श्रीलका (सिलोन)। कुछ विद्वानो के अनुसार पूर्वी मध्य प्रदेश, मैडेगास्कर, अरबसागर के मलय द्वीप या आस्ट्रेलिया।

लवपुर—लाहौर। राम-पुत्र लव द्वारा स्थापित।

लोहित्या—ब्रह्मपुत्र।

वत्स—प्रयाग से पश्चिम का प्रदेश, जिसकी राजधानी कौशाबी थी।

वाराणसी—बनारस।

वाल्मीकि-आश्रम—गगा के दक्षिण में, तमसा नदी पर स्थित, प्रयाग से दस कोस। प्रयाग से चित्रकूट जाते समय राम यहा आये थे। किंतु उत्तरकाड के अनुसार यह गगा पर कानपुर से चौदह मील आधुनिक बिठूर है।

वितस्ता—झेलम।

विदर्भ—बरार।

विदिशा—भेलसा।

विदेह—तिरहुत।

विपाशा—व्यास नदी।

विशाला—मुजफ्फरपुर (बिहार) जिले में बेसाड। रामायण के समय में यह गगा के उत्तरी किनारे पर स्थित थी। यही बौद्ध काल की वैशाली थी।

विश्वामित्र-आश्रम—बक्सर का चरित्र-वन।

वेत्रवती—बेतवा।

वेदश्रुति—कोसल जनपद में सरयू के दक्षिण में सबसे पहले मिलनेवाली एक छोटी नदी, जिसे राम ने अपनी वनवास-यात्रा में पार किया था। इसका वर्तमान नाम तानसा या तमसा है।

वंग—बगाल।

शतद्रु या शुतुद्रि—सतलज।

शाल्मली—चद्रभागा की सहायक नदी।

शूर—मथुरा के आसपास का प्रदेश।

शृगवेरपुर—सिंगरौर, प्रयाग से अठारह मील वायव्य दिशा में गगा-तट पर स्थित।

श्रावस्ती—राप्ती पर स्थित सहेत-महेत।

सदानीरा—राप्ती।

सरयू—घाघरा।

सरस्वती—घग्घर।

सह्य—सह्याद्रि, पश्चिमी घाट।

साकाश्या—फर्रुखाबाद जिले में फतेहगढ के पश्चिम की ओर तेईस मील इक्षुमती नदी पर कपित्थ नाम से प्रसिद्ध।

सिद्धाश्रम—शाहाबाद जिले मे बक्सर का पश्चिमी भाग।

सिंधु—उत्तरी सिंधु नदी का देश।
सुतीक्ष्ण-आश्रम—मदाकिनी के उद्गम के पास, बुंदेलखंड की भूतपूर्व पन्ना रियासत में।
सुवर्ण द्वीप—सुमात्रा।
सौराष्ट्र—काठियावाड़।
स्यंदिका—गोमती और गंगा के बीच कोसल की दक्षिणी सीमा पर बहनेवाली सई नदी।
सौवीर—उत्तरी सिंध।
हस्तिनापुर—दिल्ली और मेरठ से उत्तर-पूर्व में गंगा पर स्थित।
हिरण्यवाह—सोन नदी।
ह्लादिनी—केकय और शतद्रु के बीच की कोई नदी, जिसे भरत ने अयोध्या लौटते समय पार किया था।
त्रिकूट—दक्षिणी-पूर्वी लंका का एक पर्वत।

अनुक्रमणिका

अगस्त्य का दक्षिण-अभियान २६
अजाविक २३०
अतिकाय की शिक्षा ४१
अतिप्रणय और अप्रणय १४६
अध्यात्म-रामायण ५
अनुराग, दर्शन-जन्य १४४, पारस्परिक १४४-५
अनुलोम-विवाह ११२
अनृत २१५-६
अत पुर १२८-३१, १६१-२, २०८
अतर्वर्ती काल २५६
अपराधो के प्रकार २८४
अपहरण, स्त्रियो का १६८
अप्सराए २१-३
अभियान, सामरिक २६७-३००
अमरावती २४६
अमात्य (सचिव) २७५-८१
अरजा ११२-३, १४७, २००-१
अरत्नि २३६
अराजक राज्य २१३
अर्थ का तात्पर्य २१४, —का महत्व २१४
अलबर्ट, चार्ल्स ८
अलकृत नारी, प्रणय का अव्यर्थ उद्दीपन १४१-२
अश्वतरी (खच्चर) २२८
असती स्त्रिया २०६-१०
असुर २०-१
अस्पृश्य ८८-६
अहल्या का परित्याग १५८-६
आकाश-युद्ध ४६, २५०
आध्र २४
आर्थिक जीवन २१३-५२, —का आधार २१३, —समृद्धि २५०-१
आर्य-अनार्य १५-२३, विवाह-सबध ३८
आर्ष विवाह १२०-१
आर्षभ चर्म २३०-१
आसुर विवाह १२०
आश्रम ६३-८, —और वर्ण ६६-७
ईर्ष्या, स्त्रियो में २०८-६
उत्सुकता, नारी मे २०४
उद्यान, प्रणय की रगस्थलिया १४१
उद्योग-धधे २२६-३५
उपनयन-सस्कार ६४
उपाध्याय, व्रलदेव ६५
ऊट २२८, २४७
वृक्ष ५८
ऋग्वेद ७५, २२४
ऋतु-काल १४६, १६६
ऋषि-पत्निया १४४
ऋष्यश्रृग १४०-१
एकपत्नी-व्रत १३२-३
ऐयर, टी० परमशिव ६, २३६
औजार, खेती के २२३-४
और्ध्वदैहिक क्रिया में पत्नी का योग १७०
कन्या १४६-५४, पति-वरण मे स्वतत्र

नहीं ११२, विवाह के समय आयु ११४-६, विवाह-योग्य कन्या के लिए चिंता १४६-५०, —का परित्याग १५०-१, —के प्रति उदार व्यवहार १५१, —का विवाहित जीवन सुखी बनाने की चिंता १५१-२, —की मांगलिकता १५२, —की शिक्षा १५२-४, क्रीड़ा १५३
कन्या-धन १२२, १६८
करदीकर, विष्णु २२१-२
कर्मांतिक २३६
कस्तूरी २३०
काणे, पा० वा० ६७
काम का प्रभाव १३६-७, —का अव्यर्थ उद्दीपन, नारी १४१
काम-संबंध, धर्म-संगत १४६
काम-सेवन का समय १४६
कारागृह २८५
कालागुरु २३२
कालिदास ६
किन्नर २१-२
किष्किंधा ५७, गुफा में स्थिति ५७-८, —का वैभव ६२
कीथ ६
कुटीर-उद्योग २२६-३२
कुत्ते २२८
कुथा (ऊनी कालीन) २१३
कुभकर्ण का राजनीतिक ज्ञान ४५
कुल-पुत्र २८६-६०
कृत्तिवासीय रामायण ५
कृषि २१३-२४, आजीविका का सामान्य साधन २१५-६, राजकीय संरक्षण २१६, —की समृद्धि २१६-७, —की उन्नत स्थिति २२४
केरल २४
केरी, विलियम ७
कैकेयी का परित्याग १५६-६०
कैकेयी की माता का परित्याग १५६
कौटिल्य ६
कौशल, दो १३५, आर्थिक समृद्धि २५१, कोशल २५३
कौशल्या, दशरथ की बहन ? १३५, आदर्श नारी १६६
खजूर २३१
खनिज २३२-४
गण २४३
गणतंत्र का अभाव २५४
गर्भ २२८, २४७
गर्भाधान २१
गर्भ-पात १७६
गर्भवती १७५-६
गांधर्व विवाह १२०
ग्रामणी २८७
गुप्तचर २८५-६, २६४-५, राक्षसों में—४६, वानरों में —५६
गृध्र १६-८
गृहस्थाश्रम ६३-५, १४५
गैरिक २३२
गोजिन २३१
गो-पालन २१३-४, २२५-६
गोरेशियो ८, ७३
गोलांगूल ५८
गो-वत्स-प्रेम (मातृ-प्रेम का प्रतीक) १७७
गो-संवर्धन २२६
गौ, विनिमय का माध्यम २३७
घोड़े २२६-७
घोष, नगेंद्रनाथ १३

घोष, पशु-प्रधान गाव २२५
चपलता, स्त्रियो मे २०७-८
चर्म-उद्योग २३०-१
चाडाल ८८-९
चामर-व्यजन (व्याल-व्यजन) २३०
चारण २१-२
चेर २०
चोल २४
जल-मार्ग २४८-५०
जातक ८
जाति-परिवर्तन ८९-९१
जाबूनद २३२, (सिक्के) २३८
जिरहबख्तर ३०४
तक्कोल २३१
तपस्या, राक्षसो में ३८-९
तमाल २३१
तलवार ३०२-३
तारा की प्रतिभा ६८-७०
तिपिटक ८
तीर्थ (शासनाधिकारी) २८१
दक्षिणा-रूप मे स्त्री १९३
दड (डडा) २३८
दड (न्याय) ८५
दडनीति २१३
दशरथ की कैकेयी के प्रति प्रगाढ प्रीति १३८-९, —की कामपरायणता १४७, —की सभा २६८-७२
दहेज-प्रथा १२१-२
दाव-पेंच (कुश्ती के) ३०१-२
दापत्य प्रणय में पुरुप की अगवानी १३८-९, —मे शारीरिक आकर्षण १३९-४०, राम-सीता का— १४३-४, —की चरम परिणति १४५
दास, अविनाशचद्र १७
दास, नवीनचद्र ३५, ५२
दीक्षितार, वी० आर० रामचद्र २०, २४, ५१
दुर्ग २८८-९
दुर्भिक्ष २१९-२१
दूत २९४-५
देव २१
द्रोण २३८, द्रोणाचार्य ७८
द्विज ७६, ९३, —के सामान्य कर्तव्य-कर्म ७६
द्विवेदी, हजारीप्रसाद १२
धर्म, अर्थ, काम में श्रेष्ठ कौन १४८
धर्म-रति १४५
धर्मा, पी० सी० २, २७८, ३०४
धातुए २३२-३
धान्यकोश २३२-३
नकाब ४५-६
नख और दात (आयुध) ३००
नर-मास-भक्षण १६, ३५-६, ४९
नर-रक्त-पान ३६
नल-सेतु का निर्माण २४५
नवजात शिशु की रक्षा १७६
नाग १६, १९-२०
नारिकेल २३१
नारी, काम का उद्दीपन १४१, —घर में १४९-१८६, —कन्या-रूप में १४९-५४, पत्नी-रूप में १५४-७३, माता-रूप में १७३-९, विधवा-रूप रूप में १७९-८२, वेश्या-रूप में १८५-६, —समाज में १८७-२१२, —स्वातत्र्य १८७-९१, इद्रियार्थ १९४, सपत्ति-रूप में १९२-५, —के प्रति शिष्टाचार

१९५-९, अपहृता नारिया १९९-२०३, —के प्रति कटूक्तिया २०४-११
नारी और नागिन २१०
नारी-सौदर्य का आदर्श १६०-४
नावें २४८-५०
निकुभिला ३९
निर्यास २३१
निपाद १६-७
निष्क २३८
नैगम २४२-३
नौ-सेना २४९-५०
न्याय-व्यवस्था, २८१-४, —के सिद्धात २८१-२
न्यायाधीश २८२-३
पतजलि ९
पति का देवत्व १५५
पति-पत्नी की आयु में अतर ११६, —के पारस्परिक सवधो का आदर्श १२६-७, —की अनुरूपता १४४, —का धार्मिक क्रियाओ में सहयोग १६९
पतिव्रता की प्रशसा १५६-७
पत्नी १५४-७४, नव-विवाहिता १५४
पुरुप-सौंदर्य के लक्षण ११८-९
पुरुपो की उद्दाम वासना १३८
पुलिस २८४-५
पुत्रवधू १५४
पैतृक स्नेह १०७
पैशाच विवाह १२१
प्रतिलोम-विवाह ११२
प्रतीकवाद (टोटेमिज्म) १८
प्रविभाग २३८
प्रशासन २५३-८७
प्राजापत्य विवाह १२०
प्रेम १३६-४८, —में काम-चेतना १३९, —क्रीडाओ में स्त्रियो की रुचि १३६-७, —से उद्भूत काव्य-कल्पनाए १४२-३, —का आदर्श १४३-८
प्रोपितभर्तृका १६५
फलोद्योग २२४
फ्रेजर, जान ५२
बलिषड्भाग ८५, २१५, २५२
बहुपति-प्रथा १३३
बहु-पत्नी-प्रथा १२८-३२, १९२-४
बाण ३०३-४
बुल्के, कामिल ९
वेंत-उद्योग २३२
ब्रह्मचर्याश्रम ९३-४
ब्रह्मराक्षस ३९, ५२
ब्राह्मण ७६-८७, ८९-९१, कर्तव्य-कर्म ७६, जीविका के साधन ७७-९, पौरोहित्य-विषयक एकाधिकार ७७, पाच प्रकार के ब्राह्मण ७९, आदर-समान ८०, विशेपाधिकार ८२-३, लोकप्रियता का रहस्य ८३-५, क्षत्रियो से सवध ८६-७
ब्राह्म विवाह ११९-२०, —रथ ८२-३
भगवद्दत्त ८
भागवत १४९
भास ९
भूमि के चार भाग २२२
मज्मदार, रमेशचद्र १७
मदिरा का सेवन, राक्षसो में ३६, वानरो में ६०, प्रणय-क्रीडाओ में १४१-२
मधु २३१

मन शिला २३२
मनुष्य का पूर्णत्व १६६
मन्त्रिगण (गुरुजन) २७५-७
मन्त्रि-परिषद २७५-८१
मरीच २३१
मलद-करूष २१७
मल्ल-युद्ध ३००-२
महानारिया १४६
महाभारत ५, ६-१४, १६, २४, ७६, ८२, १४६
माता १७३-६, —का गौरव १७३, पथभ्रष्ट माता के पुत्र १७५, गर्भवती १७५-६, सतान के व्यक्तित्व-निर्माण में माता का योग १७६-७, — के प्रति स्नेह १७८, — के लिए पति या पुत्र, कौन अधिक स्नेह-पात्र १७८-६
माप-तोल २३८-६
मार्शमैन, जोशुआ ७
मुष्टिक ८६
मृग-चर्म २३०
मेयर, जे० जे० १८०
मैक्डानेल ८
मोदी, पी० एम० ६३
मोनियर विलियम्स ८
म्युअर, जे० १६, ५८
यक्ष १६, १६
यज्ञ-याग, राक्षसो में ३६, —में पत्नी का योग १७०-१, १८८-६
याकोबी ८, ६
यातनाए २८५
यातायात २४३-५०
यान २४६
युद्ध २८८-३०४, —के कारण २६३-४
योजन २३६
यौन इच्छा १०७
यौन सबध, एक स्वाभाविक कृत्य १४०-१, —समागम, एक उदात्त कर्तव्य १४६
रजत (सिक्के) २३८
रथ २४६-७, ब्राह्म —८२-३
रस-विद्या २३३
राजा, आमदनी और खर्च २१५, २५१-२, कुल-परपरागत २५४, मनुष्य-रूप में देवता २५६-७, आदर्श २५७-८, —के कर्तव्य २५८-६३, —का दैनिक कार्यक्रम २५६-६०, —को मर्यादा में रखने-वाले कारण २६०
राज्यतत्र, मर्यादित २५४
राज्याधिकार हस्तगत करने के तीन उपाय २५५-६
राज्याभिषेक २६३-५, —में पत्नी का योग १७०
राम का विष्णुत्व ६-७, चातुर्वर्ण्य के रक्षक ६२, —के जीवन का सिद्धात ६७, पारिवारिक प्रभाव १०६-१०, —सीता-विवाह १२२-६, —की पत्नी, एक या अनेक ? १३२-३, —सीता के दापत्य प्रेम की अलौकिकता १४३-४, एक समाज-सुधारक १८४-५, —का वनवास से लौटने पर स्वागत १८८, —द्वारा भरत को राजनीति का उपदेश २६१-४
रामदास, जी० ७२
राम-राज्य २१७, २६६, २८३
रामलभाया ८

रामायण का समाजशास्त्रीय महत्व १-४, —के कर्ता ४-७, —के प्रति रूढिवादी दृष्टिकोण १, —के टीकाकार १-२, —का रचना-काल ४, ८-१०, —में प्रक्षेप ७, पाठ और सस्करण ७-८, समीक्षित (क्रिटिकल) सस्करण ८, —और उपनिषदो का समय ८, —और महाभारत १०-४, —एक ब्राह्मण-प्रधान कृति ८३, —में नारी-पात्र १४६
राय, मन्मथनाथ ७३
रावण का साम्राज्यवादी अभियान २६-६, —और वाली की मुठभेड २७-८, —की आकृति ३२-५, वैदिक विद्वान ४०, सस्कृत-भाषी ३४१, —की राज्य-सभा ४१, २७२-५, —का राजप्रासाद ४२-३, —का शयन-कक्ष ४३, —की लपटता ४६, वेदविद्याव्रतस्नातक ४०, —का रनवास १३७, —का सुग्रीव से मल्ल-युद्ध ३००-२
राक्षस १५-६, १६-२१, २४-५२, तीन शाखाए २५, उत्पत्ति और विस्तार २५-३०, आर्यों से सघर्ष २८-३०, रूप-रग ३०-३५, खान-पान ३५-६, शिष्टाचार ३६, शव-सस्कार ३६-७, विवाह-विधि ३७-८, धार्मिक कृत्य ३८-६, शिक्षा ३६-४२, वैदिक अध्ययन ३६-४०, भौतिक समृद्धि ४२-४, निवास-स्थान ४३-४, राजनीतिज्ञता ४४-५, धोखेधडी का प्रयोग ४५, सैन्य-व्यवस्था ४६-७, हिंसा-वृत्ति ४७-८, यज्ञ-विध्वस ४७, स्त्रियो पर बलात्कार ४८-६, —और नर ४६-५०, पहचान ५०-२
लका ४२, सुवर्णमयी ४४, —पर अभियान २६७-३००
लॉ, नरेंद्रनाथ २१४
लोकापवाद २०१-३
वधू की योग्यता ११७
वनस्पति-विद्या २२५
वनो से आर्थिक लाभ २३१-२
वद्योपाध्याय, अक्षयकुमार २५६
वध्या १७३-४
वर की योग्यता ११७-६
वर-वधू में विवाह से पूर्व परिचय १११, —की विवाह के समय आयु ११४-५, —की योग्यता ११६-६
वर्ण-व्यवस्था ७५-६८, उत्पत्ति ७६, राजकीय स्वीकृति ६१-२, —और आश्रम-व्यवस्था ६६-७
वस्त्रोद्योग २३४-५
वानप्रस्थाश्रम ६३, ६५-६
वानर १६, ५३-७४, शारीरिक विशेषताए ५३-४, मानसिक लक्षण ५४-७, घनी आवादी ५८, समाज-व्यवस्था ५८, राजनीतिक सगठन ५६-६०, आहार ६०, वेश-भूषा ६०-१, रीति-रिवाज ६१-२, यौन-सवध ६२-४, नैतिक आदर्श ६४-५, धर्म-कर्म ६५-६, शिक्षा ६६-७०, यात्रा के शौकीन ६८, मनुष्य या वदर ७०-३, पहचान ७३-४
वार्ता २१३-४
वाली-सुग्रीव का वैवाहिक जीवन ६३

वाल्मीकि का जीवन-वृत्त ४-६, —का दृष्टिकोण ६-७
विधवा १७९-८२, —का पुनर्विवाह १८०-१, स्नेह-समान की पात्र १८१-२, अमागलिक नही १८२
वालावलकर, पढरीनाथ एच० ९७
विवाह १११-३५, राक्षसो मे ३७-८, वानरो में ६४, —का महत्व १११, —सबध का क्षेत्र १११-२, अतर-जातीय—११२, अनुलोम और प्रति-लोम ११२, —के समय वर-वधू की आयु ११४-५, —के छ प्रकार ११९-२१, उनका कन्या की स्थिति पर प्रभाव १२१, —प्रणाली १२२-७, —सबधो में कटुता के उदाहरण १२७-८, सुखी—१४४, —की सफलता १४५, —की परिधि का उल्लघन १७४-५
विटरनित्स ९
विनिमय २३७
विश्वनाथ, एस० वी० १८
विश्ववधु ८
विश्वामित्र का जाति-परिवर्तन ८९-९१
विष्टि २३९
वेंकटरमन, टी० के० ५१
वेद १५, २१३
वैद्य, चि० वि० ९, २४, २६, ३५, ४४, ४७, ७३, २५०
वेश्याए १४१, १८५-६
वैश्य ८७
व्यक्तिगत अधिकारो की सुरक्षा ९७-८
व्यभिचार १४६
व्यापार २१३-४, २३५-७, आतरिक २३५, वैदेशिक २३६, समुद्री २३६-७, विनिमय २३७
व्याम २३९
व्यूह २९९
शकट २४८
शक्ति ३०३
शतघ्नी ३०३
शवर १६, १८
शस्त्रास्त्र ३०२-४
शासन-तत्र के तीन अग २६६
शासन-प्रबध, आदर्श २६५-६
शास्त्री, के०एस० रामस्वामी ५१, ७३
शास्त्री, श्रीनिवास २
शिविका २४७-८
शिला २३२
शिल्पी २३९
शिष्टाचार, स्त्रियो के प्रति १९५-९, सैनिक —२९२-३
शूद्र ८८
शैलूप १६७, १९५
श्रमिक २३९-४३
श्रेणी २४३
श्लीगल ७
सडके (स्थल-मार्ग) २४३-६
सती-प्रथा १७९-८०
सतीत्व की रक्षा १५७-८
सतानोत्पत्ति, दापत्य प्रेम की चरम परिणति १४५
सतान के व्यक्तित्व-निर्माण मे माता का योग १७६-७
सन्यासाश्रम ९३, ९६
सभा (लोक-सभा, परिषद) २६६-७५, —के सदस्य २६७, —का परामर्श २६७, दशरथ की —२६८-७२, —भवन २६८-९, —का

अन्त्य २६६, शिष्टाचार २६६, सभासदों के कर्तव्य २६६-७०, कार्य-प्रणाली २७०-२, रावण की — २७२-५
समद्दर, जे० एन० १२
सयोधश्रेणी २४३
सर्वोच्च न्यायालय २८३
सामत राजा २५३-४
साम्राज्य, एकच्छत्र, का अभाव २५३
सारथी २४६-७
सावरकर, वि० दा० ७२
सास-समुर १५५, १६६
सिक्के २३७-८
सिंचाई २१६-२०
सिद्ध २१-२
सीता का स्वयवर ११३-४, विवाह के समय आयु ११४-५, राम-लक्ष्मण की सयुक्त पत्नी ? १३३-४, राम की बहन ? १३५, परित्यक्ता कन्या ? १५०-१, —का पातिव्रत्य-सबधी दृष्टिकोण १५६, —का परित्याग १५६, —का आश्रम-पर्यटन १८६-६०, —का अपहरण और प्रत्याख्यान २०१-३
सुपर्ण १७
सुलक्षणा स्त्री ११७
सूडानी ५२
सेन, दिनेशचद्र ७२
सेना, चार भाग २८६, —के पडाव २६६-८, वानरी—२६७-८
सेनापति २८६
सैनिक, आदर्श २६०, वेतन और भत्ता २६०, रीति-रिवाज २६१, अनुशासन २६१-२, शिष्टाचार २६२-३
सैन्य-विभाग २८८
सैन्य-सग्रह २६५-६, शाति-काल में २६५-६, युद्ध-काल में २६६
सोवर्ण (सिक्के) २३८
स्फटिक २३२
स्नातक ६४, तीन प्रकार के ६४
स्नान करानेवाली स्त्रिया १६३
स्त्रियों का उपहार १६२
स्त्री-धन १२२, १३०, १६८
स्त्री-धर्म १५५-६
स्त्री-वध १६८-६
स्वयवर ११३-४
स्वस्त्ययन, राक्षसों में ३८, वानरों में ६५
स्वायत्त शासन २८६-७
हनुमान की शिक्षा-दीक्षा ६६-७
हरिगण ५८, तीन शाखाए ५८
हवाई यातायात २५०
हाथी २२८-६
हाथी-दात २३०
हार्प्किस २५१
हिसाए २२३
ह्वीलर ७३
क्षत्रिय ८५-७
त्रिया-हठ २०४
त्रिशकु ७७, ८७, ८६